महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

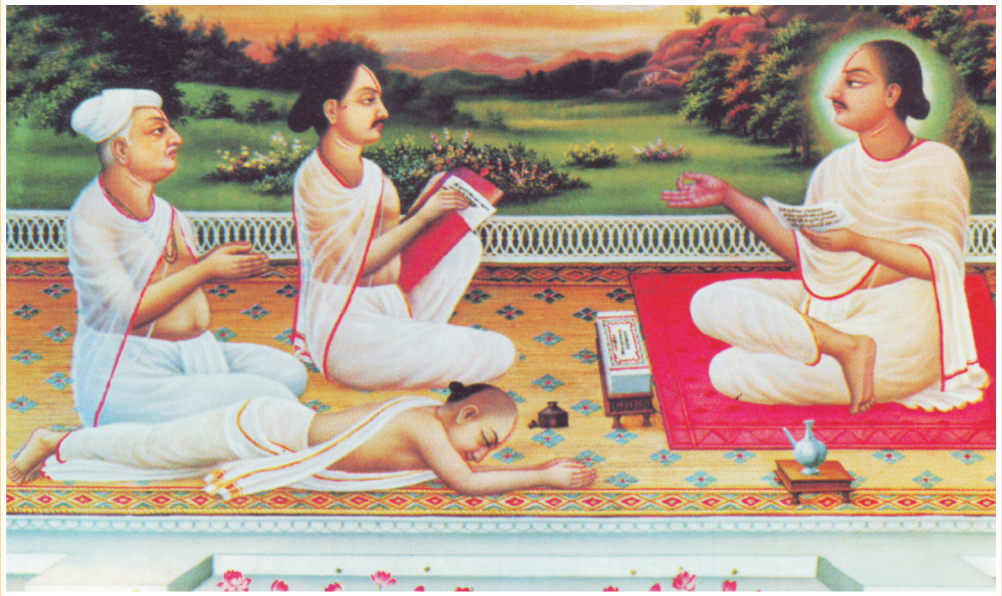

तृतीय स्कन्ध

अध्याय १५–२२

खंड ५/क

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी' तृतीय स्कन्ध

हिन्दी भाषानुवाद

द्वितीय खंड (अध्याय १५–३३)

(कुल दो खंड)

अनुवादक:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु(पुष्करणा), जोधपुर

(अध्याय १–२१)

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी, श्रीनाथद्वारा

(अध्याय २२–३३)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमें प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमें भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकोंके भावोंका निरूपण करनेके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय;

तृतीय स्कन्धके १ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दें.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमें करें. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमें सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियोंमें दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमें ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालोंके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओंके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भागवतार्थ निबन्धानुसार सारणी

भागवतार्थ निबन्ध तृतीय स्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (तृतीयस्कन्धके नाम)

तृतीय स्कन्ध(सर्गलीला)

अध्याय १५. जय–विजयको सनकादि मुनियोंका शाप १

अध्याय १६. जय–विजयका वैकुण्ठसे पतन ६३

अध्याय १७. हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का जन्म तथा हिरण्याक्षकी दिग्विजय १०१

अध्याय १८. हिरण्याक्षके साथ वराह भगवान्‌का युद्ध १२२

अध्याय १९. हिरण्याक्ष वध १५०

अध्याय २०. ब्रह्मजीकी रची हुई अनेक प्रकारकी सृष्टिका वर्णन १८१

अध्याय २१. कर्दमजीकी तपस्या और भगवान्‌का उनको वरदान २२६

अध्याय २२. कर्दमजीको देवहूतीजी अर्पण कर मनुका राजधानीमें जाना. २६६

अध्याय २३. योग द्‌वारा तैयार किये हुवे विमानमें कर्दमजीका दम्पत्यजीवन २९४

अध्याय २४. कपिलदेवजीका प्राकट्य एवं कर्दमजीका वनगमन ३२९

अध्याय २५. कपिलदेवजी द्वारा देवहूतीजीको भक्तियोगका उपदेश ३५८

अध्याय २६. कपिलदेवजी द्वारा देवहूतीजीको सांख्यतत्त्वोंका उपदेश देना. ३९८

अध्याय २७. पुरुषका स्वरूप और उसे जाननेका उपाय ४४९

अध्याय २८. भगवद्‌ध्यानरूप योग और उसके साधन ४६९

अध्याय २९. कपिलदेवजी द्वारा देवहूतीजीको वैराग्यकेलिए बताया हुआ कालका स्वरूप ५०७

अध्याय ३०. गृहस्थीको कालसे होनेवाले दुःख ५३६
अध्याय ३१. जीवका गर्भमें आना, जीवकी गर्भस्तुति. ५५५
अध्याय ३२. गृहस्थीके धर्म. ५८९
अध्याय ३३.कपिलदेवजीका पधारना और देवहूतीजीकी मुक्ति ६१६

भागवतार्थ निबन्धानुसार प्रकरणादि विभाग

तृतीयस्कन्ध (सर्गलीला)

तृतीयस्कन्धके प्रकरणोंका विभाग:

प्रकरण१: बन्धसृष्टि प्रकरण अध्याय १–१९.
प्रकरण२: मुक्तसृष्टि प्रकरण अध्याय २०–३३.

प्रकरण.१: बन्धसृष्टि प्रकरण (१–१९)

१.गुणातीत सृष्टि अ.१–६
२.सगुण सृष्टि अ.७–८
३.काल/तत्त्व सृष्टि अ.१०–११
४.मुक्तजीवसृष्टि उपोद्घात अ.१२
५.मुक्तजीव सृष्टि अ.१३–१९

प्रकरण.२: मुक्तसृष्टि प्रकरण (२०–३३)

६.तत्त्व मुक्ति अ.२०–२४
७.काल मुक्ति अ.२५
८.गुणातीत मुक्ति अ.२६–२७
९.सगुण मुक्ति अ.२८
१०.जीव मुक्ति
पुरुष मुक्ति अ.२९–३१
स्त्री मुक्ति अ.३२–३३

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

तृतीय स्कन्ध

(अध्याय १५-३३)

तथापि द्वितीयध्यायार्थ १५ वें अध्यायकी अयुक्तता कहते हैं.

सङ्क्षोभो न क्वचिद्येषां काले देशे च वस्तुनिः।।१३७।।
ते कृष्णभावनायुक्ता वैकुण्ठे कृष्णभृत्ययोः।
सनन्दनादयः क्रुद्धाः शापं दुर्विषहं ददुः।।१३८।।

कारिकार्थ : जिनको कभी भी किसी काममें किसी देशमें और किसी वस्तु पर संक्षोभ नहीं होता कृष्ण भावनासे युक्त उन्हीं मुनि सनन्दादिकोंने वैकुण्ठके अंदर कृष्णके सेवकोंको क्रोधमें आकर असह्य शाप दे दिया।।१३८।।

इस तरह मुनियोंकी अयुक्तता निरूपण करके जय-विजयकी अयुक्तता कहते हैं.

भगवद्भावसम्पन्ना भगवद्गुणतत्पराः।
लतापक्षिस्त्रियश्चापि निरहंमत्सराः शुभाः।।१३९।।
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यं सर्वथा गतौ।
वैकुण्ठे भक्तसन्दर्शविघ्नं चक्रुश्च गर्वितौ।।१४०।।
स्वभावविनिवृत्त्यर्थमुभयोश्च तथा कृतिः।

कारिकार्थ : वैकुण्ठमे रहनेवाले सब भगवद्भावसे सम्पन्न हैं, भगवद् गुणगानमें तत्पर रहते हैं यहां तक कि लता, पक्षी, स्त्रियां सब मात्सर्यसे रहित हैं और शुभ हैं और सालोक्य, सार्ष्टि, समीप्य सारूप्यको प्राप्त है तथापि सनन्दनादि जो भक्त हैं उनकी गतिमें अर्थात् भगवानके दर्शनके लिये जाते हुओंकेलिये अभिमानी जब और जय-विजयने दर्शनमें विघ्न डाला उनको जानेसे रोक दिया तब सनन्दानादिने उन दोनोंको उनके स्वभावकी निवृत्तिके लिये शाप दिया।।१४० ।।

पूर्वकी तरह ही यहां भी स्वभाव निवृत्तिके लिये शापके अनन्तरकी चेष्टाको कहा है।।१४१ ।।

तीसरे अर्थात् १६ वें अध्यायमें दिया गया विषय भी श्रीकृष्णकी इच्छासे ही सम्पन्न हुआ.

मोहनं तदुपेक्षा च दुर्घटं पतनं तथा।।१४१।।
द्वेषोत्पत्तिस्तयोः कृष्णे सर्वं कृष्णेच्छयाऽभवत्।

कारिकार्थ : इस अध्यायमें भगवान् सनकादिकोंको मोह उत्पन्न करनेवाले वचन कहते हैं और अपने भक्त जय और विजयने जो उनका अपमान किया उनकी निन्दा करते हैं. जो वैकुण्ठमें चले गये हैं वे फिर संसारमें जन्म लेवें यह अशक्य होने पर भी उन (जय और विजय) का वैकुण्ठसे पतन होता है. अतः इन दोनोंका भगवानके प्रति द्वेष होता है क्योंकि यदि द्वेष न हुवा तो भविष्यमें भगवानके प्रतिद्वेष होनेकी बुद्धि न होती. इस प्रकार इन तीनों अध्यायोंका विषय भगवान् कृष्णकी इच्छा न होती तो इस प्रकार होना अशक्य था।।१४१-१४२ ।।

आभासार्थ : इस तरह तीन अध्यायोंका अर्थ असंगत सा हो जायेगा ऐसा निरूपण करके पुनः अन्य अध्यायोंमें भी असंगतता आ जायेगी ऐसा निरूपण करते हैं.

अलौकिकी तदुत्पत्तिर्वृद्धिर्दिग्विजयस्तथा।।१४२।।
स्वामिनो दुर्वचो वादो युद्धं ब्रह्मभ्रमस्तथा ।
संमुखे मरणे कृष्णान्न मुक्तः किं ततोऽद्भुतम्।।१४३।।

कारिकार्थ : उस (हिरण्याक्ष) की अलौकिकी उत्पत्ति तथा वृद्धि (बढ़ना) और दिग्विजयका वर्णन अपने स्वामीको दुर्वचन कहना और उनसे युद्ध करना एवं उनके ब्रह्मविषयमें श्रमका होना. कृष्णके सामने मरने पर भी मुक्ति न होना इससे अद्भुत बात और क्या होगी.

प्रकाशार्थ : महत्पुरुषोंकी उत्पत्तिमें दुष्ट शकुन नहीं होते हैं. वृद्धि और विजय भी अलौकिक थे. पञ्चम अर्थात् १८वें अध्यायके अर्थमें अनौचित्यता बताते हैं. स्वामीको दुर्वचन बोलना, स्वामीके साथ युद्ध करना यह भी अनुचित है. ब्रह्म विषयमें भ्रम होना तो सुतराम् अयुक्त हैं।।१४३।।

आभावार्थ : अब उपसंहार करते हैं.

सोपपत्तिकमाख्यानं जीवानां जननं हरिः ।
ऐहिकामुष्मिकफलं दातुं सृजति नाऽन्यथा।।१४४।।

कारिकार्थ : युक्ति सहित इन सबका कथन तथा जीवोंको भगवान् ऐहिक (लौकिक) तथा पारलौकिक फलको देनेके लिये ही उत्पन्न करते हैं अन्यथा नहीं।।१४४।।

प्रकाशार्थ : ऐहिक और पारलौकिक फल देनेके लिये हरि ही उत्पन्न करते हैं. इसलिये सर्गकी भी गणना लीलामें होती है यह कहा गया।।१४५।।

आभासार्थ : इस तरह अन्य भाषाओंसे निरूपण करके समाधिभाषामें भी यहां अर्थ है इसका निरूपण करते हैं.

इति दर्शयितुं साङ्ख्यमते सृष्ट्यादिवर्णनम् ।

तेषां गुणप्रधानत्वाङ्गौणी सृष्टिर्निरूप्यते।।१४५।।

कारिकार्थ : इसको दिखलानेके लिये सांङ्ख्यमतमे सृष्टि आदिका वर्णन है. परंतु उस सृष्टिमें गुणोंकी प्रधानता है अतः उस सृष्टिका निरूपण गौणी नामसे किया गया है।।१४५।।

प्रकाशार्थ : साङ्ख्य पुरुष. जीवन्मुक्तः है. अतः उनके मनके अनुसार उत्पन्न जीव मुक्तिके लिये ही होते हैं यह सिद्ध होता है. उनके यहां सृष्टिके भेद ग्यारह हैं उनका कारण यह है कि उनमें गुणोंकी प्रधानता है. इसलिये पहले गौणी सृष्टिका निरूपण करते हैं।।१४५।।

आभासार्थ : यहां शौनक आदि ऋषियोंका भगवानकी कथाके प्रसंगमें मनुकी कथाका प्रश्न उचित नहीं हैं इस आशंका पर कहते हैं.

प्रकारान्तरसम्प्रश्नः स्वकृतः परतस्तथा।
भक्तकर्तृत्वस्तस्य कृष्णलीलात्वमुच्यते।।१४६।।

कारिकार्थ : अपने द्वारा अथवा अन्यके द्वारा प्रकारान्तरसे किया जाने वाला प्रश्न यदि भक्तके विषयमें है तो उन्हें कृष्ण लीला ही कहना चाहिये।।१४६।।

प्रकाशार्थ : यह प्रश्न भी भगवत्कथाका ही है; किन्तु यह प्रश्न अन्य प्रकारसे किया है. मनु भगवानके भक्त हैं इसलिये उनके विषयमें किया गया प्रश्न भक्तप्रीतिजनक होनेसे लीलाका हेतु है अतः वह भी भगवल्लीला ही हैं।।१४६।।

आभासार्थ : 'एवमुग्रश्रवाः पुष्टः' इस तरह उग्रश्रवा (सूत) के पूछे जाने पर ऐसा व्यासजीका वचन हो नहीं सकता क्योंकि व्यासजीसे सुनी हुई कथाको उग्रश्रवा कहता है व्यासजी उग्रश्रवाकी बातको कैसे कह सकते हैं ऐसी आशंका करके प्रक्रियान्तर बोधके लिये ऐसा कहते हैं.

प्रक्रियान्तरबोधाय व्यासोक्तिः शुकसूतयोः।
एकरूपत्वकथनादेकोक्तिः पाक्षिकोऽन्ययोः।।१४७।।

कारिकार्थ : प्रक्रियान्तरका बोध कारनेके लिये 'एवमुग्रश्रवा पुष्टः' को व्यासजीकी मुक्ति कही गई है; इस तरह शुकदेवजी और सूतकी उक्तिको शुकदेवजीके वाक्यसे कही गई है. एक ही रूपसे कहनेके कारण दोनोंमेंसे किसी एककी ही उक्तिको यहां ले लिया है।।१४७।।

प्रकाशार्थ : जिस तरह एवमुग्रश्रुवाःको व्यासजीकी उक्ति कहा है उसी तरह शुकदेवजी और सूतजीकी उक्तिका शुकदेवजीके वाक्यसे ही निरूपण है. यदि ऐसा न होता तो सूत विदुरजीके वाक्यको नहीं कहते शुकको ही विदुरजीका वचन कहना था. एक रूपतासे कहना ही एकोक्तिमें कारण है, एकोक्ति शब्दसे और अर्थसे भी समान है.

यहां अन्यायोंसे राजा परीक्षित और शुकदेवजी इनमेंसे किसी एककी उक्ति जाननी चाहिये. अर्थात् जैसे शौनकने पूछा उसी तरह राजाने पूछा और जैसे सूतजीने उत्तर दिया, उसी तरह शुकदेवजीने उत्तर दिया इसलिये समानता होनेमें किसी एक पक्षको यहां कह दिया है।।१४६।।

आभासार्थ : साङ्ख्यमतकी सृष्टि किस कल्पमें हुई इस आकांक्षा पर कहते हैं.

आण्डकोशे पद्मकल्पो विशेषेणोच्यत्तेऽधुना।
साङ्ख्याचार्यास्तु कल्पेऽस्मिन्मुक्तिमार्गं हरीच्छया।।१४८।।
ज्ञानमेकप्रकारेण हृदि प्राप्य परं गताः।

कारिकार्थ : ब्रह्माण्डके मध्यमें जो पद्मकल्प है उसे अब विशेष रूपसे कहा जा रहा है. इस पद्मकल्पमें ही साङ्ख्याचार्य हुए थे उन्होंने भगवानकी इच्छासे मुक्ति मार्ग बताया है. ज्ञानको एक ही प्रकारसे हृदयमें प्राप्त करके मुक्तिको प्राप्त हो गये।।१४८।।

प्रकाशार्थ : ब्रह्माण्डमें जो पद्मकल्प है केवल कल्पसे भिन्न है उस कल्पमें साङ्ख्यमत प्रसिद्ध है. उसमें वे सिद्ध ही हेतु थे. यदि शंका हो तो उनके ज्ञानकी तत्कालसूत्रमें निन्दाकी है तो फिर उनके ज्ञानसे मुक्ति कैसे होगी इस आकांक्षा पर कहते हैं कि वह एक प्रकारका ज्ञान भगवानकी इच्छाके अनुसार है इसलिये मुक्तिमें कोई शंका नहीं करना।।१४८।।

इति दर्शयितुं साङ्ख्ये कल्पस्याऽस्य च वर्णनम्।।१४९।।
पञ्चशः प्राकृतोत्पत्तिस्तत्त्वज्ञापनाय हि।

कारिकार्थ : इस बातको दिखानेके लिये सांख्य शास्त्रमें इस कल्पका वर्णन है. तत्त्वताको बतानेके लिये हो पच्चीस तत्वसे प्राकृतकी उत्पत्ति की है।।१४९।।

प्रकाशार्थ : 'अस्य कल्पस्य'से पद्मकल्प लिया गया है. 'च' भी इसमें हैं इसलिये वाराहकल्पका भी वर्णन है. अन्यथा उसमें सांख्य मार्गसे मुक्ति न होती. उस कल्पकी सृष्टिका प्रकार पूर्व कल्पसे विलक्षण है उसको बतानेके लिये 'पञ्चाशः प्राकृतोत्पतिः' ऐसा कहा ''पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्मन्'' ऐसा आगे कहेंगे. तथा इस मतसे संख्या ही उचित है इसलिये इस मतको सांख्यमत कहा है. तत्त्वता पदार्थोंकी होती है।।१४९।।

आभासार्थ : इस मतमें सृष्टिका वर्णन विस्तारसे नहीं किया है उसका कारण तो उपलक्षण मात्र (परिचय मात्र) ही है.

उपलक्षणमात्रत्वादल्पोक्तिर्न विरुध्यते।।१५०।।

तत्रैका दशधा सृष्टिः स्वभावगुणकार्यतः ।

कारिकार्थ : परिचय मात्रका कथन होनेसे अल्प उक्ति विरुद्ध नहीं है वहां स्वभाव गुणोंके कार्यसे सृष्टि ग्यारह प्रकारकी है।।१५०।।

प्रकाशार्थ : उसी सृष्टिका जब प्रकाशान्तरसे निरूपण किया जाता है. तो उसका निरूपण करनेवाला वाक्य उपलक्षक हो जाता है. वहां एक ही अध्यायमें ग्यारह प्रकारकी सृष्टिका निरूपण किया है. स्वभावगुणोंके कार्य भेदसे सृष्टिके ग्यारह प्रकार हैं उनमें स्वभावके तो दो भेद हैं और गुणोंके नौ भेद हैं इस प्रकार ग्यारह भेद हो जाते हैं।।१५०।।

आभासार्थ : उन्हींको त्रैगुण्यसे स्पष्ट करते हैं.

त्रैगुण्यं निर्गुणावस्था भगवच्चिन्तनं तथा।।१५१।।

एवमेकादश प्रोक्ताः स्वभावे विस्तृतिः स्फुटा ।

कारिकार्थ : सत्व, रज और तमः इन तीन गुणोंके द्वारा नौ और एक निर्गुण सृष्टि तथा भगवच्चिन्तन इस तरह मिलाकर ग्यारह प्रकारकी सृष्टि कही है. स्वभाव सृष्टिका तो बहुत विस्तार है वह आगे स्पष्ट हो जायेगा।।१५१।।

प्रकाशार्थ : निर्गुणावस्था दशम है वह ज्ञानरूप है. भगवच्चिन्तन यह एकादश है इसका 'एवमेकादशप्रोक्ताः'से उपसंहार किया है. गुणसृष्टिको एक ही अध्यायमें संक्षेपसे कही है, स्वभाव सृष्टि तो ज्ञान और भक्तिके भेदसे चार अध्यायोंसे क्रमशः और नौ अध्यायोंसे विस्तारसे कही है वह आगे चलकर स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी।।१५१।।

आभासार्थ : उनमें पहले तामस आदि भेदोंको कहते हैं.

यक्षरक्षांसि देवाश्च दैत्याश्च प्रथमास्त्रयः।।१५२।।

उपाधिरपि तेषां हि तथेति प्रतिपादितम् ।

कारिकार्थ : यक्ष राक्षस, देवता और दैत्य पहले ये तीन उत्पन्न हुए, उनकी उपाधि भी उसी तरह प्रतिपादित की।।१५२।।

प्रकाशार्थ : यहां अविद्याकी उत्पत्ति पहलेकी तरह ही समजना. यहां विशेषता यह है कि यक्ष और राक्षसोंकी उत्पत्ति अविद्याके साथ उसी तरह देवताओंकी भी उत्पत्ति भावान्तरसे हुई।।१५२।।

विलक्षणत्वसिद्ध्यर्थं देहत्यागः प्रजापतेः।।१५३।।

तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवतास्ताः पृथक् स्थिताः ।

कारिकार्थ : प्रजापतिका देहत्याग विलक्षणताकी सिद्धिके लिये है. उनके वे देह तत्कालाभिमानिनी देवता है. अतएव वे सब अलग-अलग रहे।।१५३।।

प्रकाशार्थ : भावान्तर ग्रहणके लिये ही वहां शरीरका त्याग किया था. त्याग किये हुए शरीरका स्वरूप तत्कालाभिमानिनी देवता था।।१५३।।

आभासार्थ : शंका होती है कि पञ्चपर्वा अविद्याकी जब उत्पत्ति हो गई तो फिर देहका परित्याग क्यों किया.

देवतोपाधिसम्बन्धात्कार्योत्पत्त्याऽतिविह्वलः।।१५४।।
तामसत्वात्तु ते मूढा वाक्यमात्रेण संस्थिताः।

कारिकार्थ : पञ्चपर्वा अविद्या देवतोपाधि सम्बन्धवाली थी ब्रह्माजी यक्ष, राक्षस इनकी उत्पत्तिसे अत्यन्त घबरा गये थे. वे यक्ष राक्षस तामस होनेके कारण मूढ तो थे ही अतः जब ब्रह्माजीको खाने लगे तो ब्रह्माजीने उनसे कहा अरे तुम मेरी ही संतान होकर मुझे खा रहे हो ऐसा कहने पर वे खड़े हो गये।।१५४।।

प्रकाशार्थ : पञ्चपर्वा अविद्या देवता रूप थी वह अविद्या ब्रह्माजीके लिये उपाधि रूप जब हो गई तब ब्रह्माजीसे यक्ष रोक्षसोंकी उत्पत्ति हुई असमान रूपवाले इन्हें देखकर ब्रह्माजीने भयसे घबराकर अपने शरीरको छोड़ दिया ऐसा मानना चाहिये. जब भगवानकी इच्छासे उत्पन्न हुए थे तो ब्रह्माजी उनको सह नहीं सके और वे यक्ष राक्षस भगवानकी प्रेरणासे ही ब्रह्माजीको खानेके लिये उद्यत (तैयार) हुए. तो फिर उन्होंने ब्रह्माजीको छोड़ कैसे दिया उसके लिये कहते हैं कि तामस होनेसे मूर्ख तो थे ही ब्रह्माजीने उनसे कह दिया अरे तुम मेरी संतान होकर मुझे खाते हो इतना कहने मात्रसे ही वे उनको खानेसे निवृत्त हो गये।।१५४।।

आभासार्थ : देवपक्ष तो सुगम है.

सात्त्विके नास्ति शङ्कैव राजसेषु महान् श्रमः।।१५५।।
पृथक् स्थितां देवतां हि वर्णयन्ति कुबुद्धयः।

कारिकार्थ : सात्त्विकके विषयमें तो कोई शंका ही नहीं है राजसोंके विषयमें महान श्रम होता है. कुछ समय तक अलग स्थित देवताका कुछ कुबुद्धि लोग वर्णन करते हैं।।१५५।।

प्रकाशार्थ : राजसोंके विषयमें महान श्रम होता है. इसलिये यमन (मैथुन)से आरंभ करके भगवानकी आज्ञासे देहत्याग पर्यन्तकी कथाका निरूपण है. अन्य जितने भी शरीर थे वे शीघ्र ही कालरूपताको प्राप्त हो गये अतः कालरूपतासे उनमें व्यवहार होता है. रजोगुणके द्वारा राजसी यह देह सन्धयाके साथ एक भावताको प्राप्त नहीं हुई किन्तु कुछ समय तक अलग रही. अतः उसका वर्णन पृथक् स्थितासे किया गया है. जब उसी देहकी कालके साथ एकता हो गई तो दैत्योंकी निवृत्ति हो गई ऐसा भाव है।।१५५।।

आभासार्थ : अब दूसरे त्रिकको कहते हैं.

गन्धर्वाश्च पिशाचाश्च पितरस्त्रिविधा गुणैः।।१५६।।

सत्त्वं तमो रजश्चेति न तैर्दोषोऽस्वभावतः।

कारिकार्थ : सत्वगुणसे गन्धर्वोंकी तमोगुणसे पिशाचोंकी और रजोगुणसे पितरोंकी उत्पत्ति हुई उनमें दोषका वर्णन इसलिये नहीं है कि उनमें दोष स्वभावता नहीं था।।१५६।।

प्रकाशार्थ : ''सत्वं तमो रजश्चेति''से उनमें गुणोंको कम बताया है. उनमें दोषोंका वर्णन इसलिये नहीं हैं कि उनका वह स्वभाव नहीं है अर्थात् सत्व आदिमें गुणता तो है परंतु दोष स्वभावता नहीं है. भाव इसका यह है कि दोष रूपसे इतरके प्रवेशका अभाव है।।१५६।।

आभासार्थ : तीसरे त्रिकको कहते हैं.

सिद्धाश्च किन्नराः सर्पाः सत्त्वादिभिरुदीरिताः।।१५७।।

कारिकार्थ : सत्वगुणसे सिद्धोंकी, रजोगुणसे किन्नरोंकी और तमोगुणसे सर्पोकी सृष्टि कही।।१५७।।

आभासार्थ : निर्गुणावस्था कैसी है इस आशंका पर कहते हैं.

कृतकृत्यता च नैर्गुण्यं कृष्णत्वं तपआदिभिः।

ऋषिभावस्ततो भाव्यो नाऽन्यत्र विरमेद्बुधः।।१५८।।

कारिकार्थ : जिसमें किसी प्रकारका करना शेष न हो उसे कृतकृत्यता कहते हैं अर्थात् परमपुरुषार्थता इसको निर्गुणावस्था कहा है तप आदिसे कृष्णता हो जाती है तब ऋषि भाव होता है ऋषिभाव होनेके अनन्तर तो सृष्टिसे विराम नहीं होना चाहिये।।१५८।।

प्रकाशार्थ : कृतकृत्यता कहते हैं अपनेमें ही परमपुरुषार्थताका होना. तप आदिसे तो कृष्णता होती है. प्रकरणमें तो वह ऋषिभाव है इसलिये ब्रह्माजीमें भी वह भाव होना चाहिये. ऐसा भाव होने पर क्या होता है उसे बतानेके लिये 'नाऽन्यत्र विरमेद्बुधः' ऐसा कहा. यदि ऐसा नहीं होता तो ब्रह्माजी सृष्टि करते ही रहते विश्राम नहीं करते. इस तरह एक अध्यायका अर्थ कहा (चौदह कारिकाओंसे एक अध्यायका निरूपण किया है)।।१५८।।

आभासार्थ : इसके बाद ज्ञान और भक्तिका विस्तार करनेको तेरह अध्याय हैं उनमें दो भेद हैं.

चतुर्भिः सुखपूर्वा हि पुम्मुक्तिर्नवभिः स्त्रियाः।

एकस्य तु स्वतः सिद्धं ज्ञानं कृष्णप्रसादतः।।१५९।।

कारिकार्थ : चार अध्यायोंसे सुखपूर्वक पुरुषकी मुक्तिका कथन है और नौ अध्यायोंसे स्त्रीकी मुक्तिका. एक (पुरुष) के लिये तो कृष्णकी कृपासे ज्ञान स्वतः सिद्ध है।।१५९।।

प्रकाशार्थ : शंका होती है कि एक (पुरुष) के लिये तो स्वल्पसे ही मुक्ति और अपर (स्त्री) के लिये अधिक से. उसका कारण यह है कि पुरुषके लिये तो चार पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये चार अध्याय हैं तथा उसमें भी मुक्तिका साधनरूप ज्ञान उसके लिये स्वतः सिद्ध है. पुरुषके ऊपर भगवानकी कृपा होनेसे ही उसीसे साधन सहित पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है।।१५९।।

अन्यस्या उपदेशे हि स्त्रीत्वात्सर्वं प्रकाश्यते ।
नवकन्याः कारणत्वात्स्त्रीजीवा अत्र बोधिताः।।१६०।।

कारिकार्थ : एक किसीको उपदेश करनेसे स्त्रीत्व सबमें समान होनेसे उनको भी बोध हो जाता है. नौ कन्याओंके कारणसे स्त्री जीवोंका यहां बोधन है।।१६०।।

प्रकाशार्थ : पुरुषके सहभावके कारण स्त्रियोंके भी धर्म, अर्थ और काम सिद्ध हो जाते हैं. अब मोक्षको ही अलग कहना चाहिये क्योंकि मोक्ष केवल (अकेले) का ही होता है उसमें दंपतीकी आवश्यकता नहीं होती. इसलिये पुरुषकी मुक्तिके लिये तो एक ही अध्याय कहा. स्त्री मुक्तिको नौ अध्यायोंसे इसलिये कहा है कि स्त्रीके अंदर गुण रूप नौ अन्तःकरणके दोष हैं उनको छुड़ानेके लिये नौ अध्याय हैं और उन दोषोंको छुड़ानेके लिये बहुतसे साधनोंका निरूपण है. यहां यह शंका होती है कि कन्याओंकी मुक्तिका कथन तो अनुचित है उसका उत्तर देते हैं कि यहां कन्याओंसे स्त्रीजीव लिये गये हैं कारण कि स्त्री जीव प्रकृतिके अधीन हैं।।१६०।।

आभासार्थ : शंका होती है कि जीवोंकी कारणताका तो निरूपण पहले ही किया जा चुका है अब पुनः उसका निरूपण किसलिये है ?

प्रकृतेः कारणत्वाय मायाशक्तिर्हि तादृशी ।
रमणौपयिकरूपा हि शुद्धसत्त्वादिभेदतः।।१६१।।

कारिकार्थ : यहां प्रकृतिकी कारणताके लिये जीवोंकी कारणताका निरूपण है. मायाशक्ति गुणमयी है स्त्रीमरणमें उपयुक्त होती है. उसमें शुद्धसत्व आदि नौ भेद हैं।।१६१।।

प्रकाशार्थ : स्त्री जीव प्रकृतिके अधीन है; जब स्त्रीको कारण मानते हैं तो उससे प्रकृतिकी कारणता सिद्ध होती है. तथापि नौका उपयोग कहां होता है ? इस आशंकाका उत्तर दिया है माया शक्ति ही तादृशी माया गुणमयी (सत्व-रज-तम) है उनमें एक गुण तीन प्रकारका है इसलिये वह नौ प्रकारकी है. प्रश्न होता है कि स्त्रीत्व

क्या है उसका उत्तर देते हैं जो रमणमें उपयोगी हो उसे स्त्री कहते हैं. प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः गुणकी प्रधानता होनेसे जो क्रोध आदिके वशीभूत है उसमें भी स्त्रीत्व होगा. गुणोंसे अलग तो प्रकृति है ही नहीं, इस मतका निराकरण करते हैं.

''गुणभावं परित्यज्य स्वरूपेण स्थिता तु या,
पुरुषं रमयती सा स्त्रीरूपेति निगद्यते(१)
पुरुषस्य च तस्याश्च सर्वतत्त्वेष्वथांशवः,
पृथक् सन्ति ततो यत्र दृष्टादृष्टादिकारणात्(२)
भोग्य भावत्वमापन्नाः प्रकृत्यंशाः समागताः,
बीजभावं प्राप्नुवन्तितद्बुद्धौ स्त्रीभवते तु सा(३)''

कारिकार्थ : जो गुण भावका परित्याग करके अपने स्वरूप (शक्तिरूप)से स्थित है और जो पुरुषको रमण कराती है उसे स्त्रीरूपा कहते हैं।।१।। पुरुष और स्त्रीके अंश सब तत्वोंमें अलग ही हैं, उसमें दृष्ट तथा अदृष्ट (धर्म और अधर्म) कारण है।।२।। भोग्य भावताको प्राप्त हुए प्रकृतिके अंश स्त्रीमें आये हैं वे उस (स्त्री) में बीज भावको प्राप्त होते हैं और स्त्री भावमें उन अंशोंकी वृद्धि होनेके कारण स्त्रीभावमें वह रमणमें उपयुक्त होती है।।३।। इस अभिप्रायको लेकर शुद्धसत्त्वादि भेदतः ऐसा कहा है कि जिनमें गुणोंका मिश्रण होता है उन्हींमें गौणत्व होता है जिसमें सत्वगुणकी प्रधानता होती है वह देवताओंकी स्त्री होती है. रजोगुण प्रधान होनें पर मनुष्य–स्त्री और तमोगुण प्रधान होने पर पशुस्त्रीपन होता है।।१६१।।

आनन्दांशस्वरूपेपि शुद्धसत्त्वादिरूपतः।
शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वं तत्त्वतः पुरुषाकृतिः।।१६२।।

कारिकार्थ : आनन्दांश स्वरूप होने पर भी शुद्ध सत्व आदि रूप होनेसे तथा शक्तिकी प्रधानतासे उसमें स्त्रीपन हैं तत्त्वोंसे तो वह भी पुरुषाकृति है।।१६२।।

प्रकाशार्थ : स्त्रीमें आनन्दांश प्रविष्ट है इसलिये स्त्रीमें भोग्यता हैं. यद्यपि पुरुषमें भी आनन्दांशका प्रवेश होता है तो पुरुष भी स्त्रीका भोग्य हो जाता तथापि गुणोंकी प्रबलतासे और शक्तिकी प्रधानतासे उसमें स्त्रीपन रहता है. स्त्रीकी पुरुषके समान आकृति तो तत्त्वोंके कारण वास्तविक है उसमें पुरुषके अंशोंका जब समवाय होता है उसमें पुरुषत्व हो जाता है।।१६२।।

आभासार्थ : स्त्रीत्वमें और पुरुषत्वमें नियामक क्या है उसे कहते हैं.

मोहकत्वम् अतः स्त्रीणां शक्त्याकृतिविशेषतः।
विसर्गस्यात्र सम्प्रश्न उत्तरत्रोपयुज्यते।।१६३।।

कारिकार्थ : शक्तिकी आकृतिकी विशेषताके कारण ही स्त्रियोंमें मोहकता है.

विसर्ग–लीलाका जो यह प्रश्न है उसका उपयोग आगे होगा।।१६३।।

प्रकाशार्थ : क्योंकि स्त्री पुरुषको मोहित करती है. अतः स्त्रियोंमें प्रकृतिका प्रकृतिपन है. शंका होती है कि विसर्गलीलामें जो मनुवंश आदि है उसका रुचि आदिके वंशके प्रश्नका उपयोग कहां होगा इसका उत्तर 'उत्तरत्रोपयुज्यते'से दिया है अर्थात् प्रश्न आगे उपयुक्त होगा।।१६३।।

आभासार्थ : प्रश्न होता है कि यदि ऐसा ही है तो बीजमें यही कर्दमजीके चरित्रका निरूपण क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं.

नित्यसम्बन्धतासिद्ध्यै कर्दमोऽत्रैव योजितः ।

कारिकार्थ : प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध नित्य है इसकी सिद्धिके लिये कर्दमजीका चरित्र भी यहां कह दिया है।।१६३।।

प्रकाशार्थ : प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध नित्य है इसको बतानेके लिये कर्दमजीकी कथा है. सम्बन्धका उपयोग तो सर्ग लीलामें होगा. भिन्नतासे प्रसिद्धि होने पर भी स्वभावसे मुक्तिमें परस्पर आकांक्षा है. इसलिये यह अर्थ निरूपण करने योग्य है इसलिये कर्दम चरित्रका सर्गलीलामें निरूपण किया. सहज होने पर भी उन दोनोंमें जब विश्लेष (अलग) होता है तो मुक्ति होती है ऐसा न्याय है इसलिये त्यागसे दोनोंकी मुक्तिका कथन युक्त है।।१६३।।

आभासार्थ : इस तरह प्रकरणके अर्थका शोधन करके प्रथम अध्यायमें तपके द्वारा भगवत्तोषका प्रयोजन कहते हैं.

सर्वस्य कारणं कृष्णप्रसाद इति तत्कथा।।१६४।।

कारिकार्थ : भगवानका प्रसन्न हो जाना ही सबका कारण है इसलिये उन (कर्दमजी) की कथा है.

प्रकाशार्थ : अतएव प्रकरणके आदिमें भगवानको प्रसन्न करनेके लिये कर्दमजीकी प्रवृत्ति है।।१६४।।

आभासार्थ : भगवान् किससे प्रसन्न होते हैं इस आकांक्षा पर कहते हैं.

भक्तानां निर्णयस्तोत्रे सर्गार्थम् उपयुज्यते ।
कामितं च हरिः पूर्वं स्वयमेव विधास्यति।।१६५।।
व्यर्थं वचनम् इत्यर्थं बोधयत्युत्तरं वदन् ।

कारिकार्थ : भगवान् स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं ऐसा भक्तोंका निर्णय है. सर्गलीलामें स्तुतिका उपयोग होता है. अपनी चाही हुईकी पूर्ति तो भगवान् स्वयं ही पहले कर देते हैं तो फिर उसके लिये प्रार्थना व्यर्थ है यह स्वयं भगवान् ही के वचनसे जाना जाता है।।१६५।।

प्रकाशार्थ : भगवान् तपसे प्रसन्न न हुए और न स्तुतिसे प्रसन्न हुए किन्तु यथार्थ बातके कहनेसे प्रसन्न हुए उसमें भी अपने घरके मर्मकी बातके कहनेसे प्रसन्न हुए तब भक्तोंको इस तरहका निर्णय हुआ. ऐसा कहनेका प्रयोजन अपने लिये है. जो महान होते हैं उनका निष्कपट भावसे भजन करना चाहिये तभी उनकी कृपा होती है. कोई यदि ऐसी आशंका करे कि भगवानकी कृपा अनित्य होगी उसका उत्तर देते हैं कि भगवान् तो कामित (चाही हुई) वस्तुका दान पहले ही कर देते हैं उसके दानमें किसी कारणकी आवश्यकता नहीं होती वहां तो कारण भगवानकी प्रसन्नता ही है. भगवदीय पदार्थोंके भोगनेके लिये शरीर-इन्द्रिय, संस्कार और तप होने चाहिये. इसलिये भगवान्से प्रार्थना करना व्यर्थ है. यह तो भगवानके कथनसे जाना जाता है. अन्यथा वृत्तान्त न कहते।।१६५।।

आभासार्थ : ईश्वरकी प्रेरणाके बिना पदार्थ सिद्धि कैसे होगी और ईश्वरकी प्रेरणामें क्या हेतु है यदि ऐसा कहा जाय कि बिना ही हेतुके प्रेरणा होती है तो सभी लोगोंको पदार्थ सिद्धि हो जायेगी इस आशंका पर कहते हैं.

पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे समायान्ति हरिप्रिये।।१६६।।
इति दर्शयितुं राज्ञः स्वयमुद्यम्य याचनम् ।

कारिकार्थ : भगवद् भक्तके लिये सभी पुरुषार्थ स्वयं आ जाते हैं इसको दिखानेके लिये स्वयं राजा (मनु) ने अपनी कन्याको स्वीकार करनेके लिये कर्दमजीसे याजना की।।१६६।।

प्रकाशार्थ : भगवत् प्रिय होना ही साध्य है अन्य नहीं. भगवत् प्रियतासे सर्व सिद्धि होती है यह इसका तात्पर्य है।।१६७।।

आभासार्थ : कर्दमजीने जो कन्याका वर्णन किया वह तो राजाको अच्छा लगे इसलिये किया क्योंकि राजा भक्त था. कार्यकी शुद्धिके लिये भक्ति आवश्यक है और अपनी मुक्तिके लिये तप आवश्यक है।।१६६।।

दुहितुर्वर्णनं प्रीत्यै राज्ञो भक्तत्वतः समम्।।१६७।।
भक्तिश्च कार्यशुद्ध्यै हि तपश्चैव स्वमुक्तये ।

प्रकाशार्थ : अथवा राजाने अपनी पुत्रीके गुणोंका वर्णन ऋषिको प्रसन्न करनेके लिये किया. शंका होती है कि मुनिने जब यह कह दिया था कि मैं इस कन्याके साथ एक बार ही भोग करूंगा तो फिर राजाने उन्हें अपनी कन्या क्यों दी उसका उत्तर 'भक्तत्वतः समम्'से दिया है राजा भक्त था इसलिये वह तो यह चाहता ही था कि सबकी पुरुषार्थ सिद्धि हो अतः समताके कारण उससे ऋषिकी प्रतिज्ञाके अनन्तर भी कन्या दे दी शंका होती है कि विवाहके अनन्तर कैसे तो भक्ति होगी और कैसे तप होगा

उसका उत्तर 'भक्तिश्च' आदि आधी कारिकासे देते हैं भक्ति कार्य शुद्धिके लिये है यदि कार्यमें दोष होगा तो कारण भी सदोष होगा जैसे पुत्र यदि अनुचित कार्य करता है तो पिताको नरककी प्राप्ति होती है. यहां पर कार्य है 'लड़कियां', 'च'से बिना भक्तिके कार्य धर्मोंका ग्रहण नहीं होता. तपका प्रयोजन अपनी मुक्ति है यह प्रयोजन इससे भिन्न है. 'च'से उस (कन्या) की भी मुक्ति ली जाती है. अथवा भक्तिसे तपका भी संग्रह हो जायेगा उसके लिये तप तो पूर्व संस्कारके लिये है।।१६७।।

चाहे हुएसे अधिक करनेमें हेतु कहते हैं.

अलौकिकस्य करणाद् अनासक्तिः फलिष्यति।।१६८।।
ध्यानं भगवतो योगो भगवत्प्रेषितं च तत् ।
कन्याश्चैव तथा ज्ञानं तत्कृपातोऽस्य जायते।।१६९।।
स्त्रिया माहात्म्यबुद्ध्यर्थमृषिकर्तृत्वमुच्यते ।

कारिकार्थ : अलौकिक कार्यके करनेसे अनासक्ति फलित होगी. भगवानका ध्यान करना ही योग्य है विमानका निर्माण आदि अलौकिक था (भगवानके द्वारा भेजा गया था) कन्याएं तथा ज्ञान भगवत्कृपासे ही कर्दमजीको हुए. स्त्रीको ऋषिके माहात्म्यका ज्ञान हो इसलिये इन सबको ऋषिके द्वारा किया गया ऐसा कहा।।१६८-१६९।।

प्रकाशार्थ : विमान आदिका निर्माण तो अलौकिक है यदि ऐसा न होता तो चित्तमें अनासक्ति न होती. 'कर्दमोयोगमास्थितः' यहां योगका अर्थ भगवानका ध्यान है. यदि ऐसा अर्थ न होगा तो विमान आदि भगवानकी कृपासे उत्पन्न न होते और बन्धन भी हो जाता. तो फिर विमानकी उत्पत्ति कैसे हुई उसका उत्तर है 'भगवत्प्रेषिते चैतत्' विमान तो भगवानने भेजा था. विमान तामस है, कन्याएं राजस है और ज्ञान सात्विक है. यदि ऐसा है तो उसे स्पष्ट क्यों न कहा गया उसके लिये 'स्त्रियाः' ऐसा कहा अर्थात् स्त्रीको ऋषिके माहात्म्यका ज्ञान हो जावे।।१६८,१६९।।

आभासार्थ : ''तथापि नियत उपपत्ति'' (युक्ति) कहनी चाहिये इस आशंका पर कहते हैं.

अतएव ऋषौ यातेऽप्यवस्थानं तु तस्य हि।।१७०।।
कायव्यूहेन नवधा स्वरूपकरणं मतम् ।

कारिकार्थ : विमान भगवानके द्वारा भेजा गया था इसलिये ऋषिके वनमें चले जाने पर भी विमान स्थित रहा. अपने शरीरके व्यूहसे ही ऋषिने अपने नौ रूप किये ऐसा समझना.

प्रकाशार्थ : क्योंकि भगवानने ही विमानको भेजा था ऋषिके योगसे उत्पन्न

नहीं हुआ था. यदि ऐसा होता है तो जिनकी भोगके लिये सृष्टि हुई वे सब भोगके अभावमें चले जाने चाहिये. ''नौ प्रकारके अपने रूप करके'' ऐसा जो निरूपण किया है तो नौ प्रकारका निरूपण कैसे किया ? इस आशंकाका उत्तर देते हैं 'कायव्यूहेन' अर्थात् अपने शरीरके व्यूहसे नौ रूपोंका निर्माण किया आगे परस्पर विवाहकी सिद्धिके लिये भिन्न परंपराके कहनेके लिये नौ रूप किये यह सृष्टि गौण थी मुख्य नहीं थी. गुणातीत सृष्टि तो भगवद्रूप होती है. अतः कायव्यूह करके नौ प्रकारसे बीजका आधान किया।।१७०।।

आभासार्थ : यदि ऋषिने नौ रूप किये तो उसे देवहूतिने कैसे मान लिया इस आशंकाका उत्तर देते हैं.

समानत्वाद् न वैषम्यं दोषाभावः फलं ततः।।१७१।।
रेतःसेकः क्रमेणैव सूक्ष्मत्वात् स न दृश्यते।।

कारिकार्थ : नौ रूपोंके समान होनेसे कोई विषमता नहीं हुई इससे कोई दोष नहीं हुआ और उनसे फल (गर्भाधान) तो हुआ ही गर्भाधान तो क्रमसे ही हुआ परंतु सूक्ष्मताके कारण दिखाई नहीं दिया।।१७१।।

प्रकाशार्थ : समान होनेसे ही दोष नहीं हुआ और गर्भाधान रूप फल तो अलग-अलग ही हो गया. जब अलग-अलग गर्भाधान किया तो देवहूतिको पता कैसे न लगा, आशंकाके समाधानार्थ सूक्ष्मत्वात् ऐसा कहा अर्थात् गर्भाधानका भेद इतना सूक्ष्म था कि उसे ज्ञात न हो सका. उस गर्भाधानमें इतना सूक्ष्म समय था कि भेद दिखाई नहीं दिया।।१७१।।

आभासार्थ : ऐसा करनेका प्रयोजन बताते हैं.

मरीच्यादिविवाहेच्छां बहवपत्ये स्त्रियास्तथा।।१७२।।
स्ववाक्यं च ऋतं कर्तुं गमनं स्त्रीविरक्तये।

कारिकार्थ : मरीचि आदि ऋषियोंके विवाह करनेकी इच्छासे तथा स्त्रीको भी बहुत संतानकी इच्छा होती है एवं अपने वचनको सत्य करना (निभाना) था इसलिये कर्दमजी वनमें ले गए।।१७२।।

प्रकाशार्थ : मैथुन धर्मसे ही सृष्टि हो ऐसी भगवानकी इच्छासे ही मरीचि आदिको भार्याकी अपेक्षा होनेसे तथा स्त्रियोंको भी अधिक संतानकी इच्छा होती है ''जब मेरे तेजको यह धारण कर लेगी'' ऐसा मुनिका अपना कथन था मुनिने अपने वाक्यका पालन नहीं किया क्योंकि एक तेज नहीं था और बहुत पुरुषोंके सम्बन्धसे स्वयं तो दोषी हुए और स्त्रीको भी दोषी बनाया इस शंकाका उत्तर देते हैं 'आत्मनोमे' इस वाक्यमें जो 'मे' शब्द है उसका अर्थ अहमार है वह अहमार त्रिगुणात्मक (सात्विक-

राजस-तामस) है इनके परस्पर मिलनसे नौ रूप हो जाते हैं. यह सांख्यकी प्रक्रिया है तेजःमें जो एक वचन है वह तो तेजस्त्व जातिको लेकर कहा गया है. मनु आदिके चित्रकी परीक्षाके लिये ही ऐसा कहा था, अतः उनका कहना उचित ही था. ऋषि कर्दमजी तो समर्थ हैं वे योगसे देह-त्याग करके भी भक्तिको प्राप्त कर सकते थे फिर उन्होंने वनमें गमन क्यों किया ? इसका उत्तर तो यह है कि ऋषि वनमें न जाय तो स्त्रीको वैराग्य नहीं होता. वास्तवमें तो योगमें भी त्यागकी अपेक्षा है. घरको त्याग देनेसे आधी मुक्ति हो जाती है. तदनन्तर आधेमें देह और अन्तःकरण भेदसे दो भाग करके उसका परित्याग करते हैं तभी मोक्ष होता है यह सांख्य और योगका निष्कर्ष है. परंतु भगवत्मार्गमें ही त्याग नहीं किया जाता वहां अन्यके सहारेकी अपेक्षा है. इस मार्गमें तो भगवान् ही फल है यह उसकी टीकामें बताया गया है अतः यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।।१७२।।

आभासार्थ : यदि यह प्रश्न हो कि कपिलावतारका प्रयोजन क्या है ? उस पर कहते हैं.

विरक्तो ज्ञानसिद्ध्यर्थं कृष्णं भावयते यदि।।१७३।।
ज्ञानांशश्च तदा व्यक्तो येन सर्वं फलिष्यति ।

कारिकार्थ : विरक्त होते हुए जो ज्ञानकी सिद्धिके लिये कृष्णकी यदि भावना करता है तो ज्ञानांश प्रकाशमें आ जाता है और उससे सब फल प्राप्त हो जाता है।।१७३।।

प्रकाशार्थ : इससे यह सिद्ध होता है कि 'यावत्तेजः' यहीं पर वाक्य समाप्त हो जाता है. नौ रूप तो अन्य हैं.

आभासार्थ : यह सब ब्रह्माजीको अभीष्ट था इसलिये ब्रह्माजी चले गए. लोग प्रतीतिके लिये अन्य प्रयोजनको कहते हैं.

अवतारो हरेर्यावान् तत्र ब्रह्मा स्वयं व्रजेत्।।१७४।।
वरादनुक्तेप्येवं हि स्तुतिः पूर्णे तु सर्वतः ।
बोधनं सर्वबोधाय गमनं सर्वबोधकम्।।१७५।।
पुत्रेपि च हरौ सर्वत्यागादावश्यकी भजिः ।

कारिकार्थ : भगवानके जितने भी अवतार होते हैं वहां ब्रह्माजी स्वयं जाते हैं अतः जहां ब्रह्माजीका जाना नहीं कहा है वहां भी वरदानसे ब्रह्माजीका जाना निश्चित होता है परंतु ब्रह्माजीकी स्तुति तो जहां पूर्णावतार (कृष्णका अवतार) होता है वहीं होती है. सर्व बोधकेलिये कथन है गमन तो सर्व बोधक है ही. भगवानके पुत्र रूपमें होने पर भी सर्वत्याग इसका द्योतक है कि भजन सबसे आवश्यक है।।१७४-१७५।।

प्रकाशार्थ : जहां-जहां भगवानका अवतार होता है वहां-वहां यदि ब्रह्माजी जाते हैं तो उनके गमनका वर्णन होना चाहिये इस आशंकाका उत्तर 'वरदानुक्तेऽप्येवं हि'से दिया है. ब्रह्माजीने भगवान्से यह वर मांगा था कि जहां आप गुणोंका ग्रहण करके अवतार लें वहां-वहां मैं उपस्थित रहूं तब भगवानने ब्रह्माजीको उनकी प्रार्थनाके अनुसार वर दिया था इसलिये जहां जाना न भी लिखा हो वहां ब्रह्माजीका गमन समझना चाहिये. परंतु मुख्य रूपसे स्तुति तो पूर्णावतार 'कृष्णावतार'में ही होती है. कन्यादानका बोधन और ये (कपिल) भगवान् हैं ऐसा बोधन तो सबके लिये हैं. कर्दमजी तथा देवहूतिको तो इसका ज्ञान पहले ही था. विवाहके अनन्तर मरीचि आदि ऋषियोंका गमन जो कहा है उसका उपयोग कहां होगा इस आशंकाका उत्तर यह है कि उनका गमन भी लोगोंको बोध करानेके लिये है. अन्यथा सब ये समझते हैं कि इस कल्पमें स्त्रियोंका पतिके साथ सम्बन्ध स्वैच्छिक है भगवान् तो ज्ञान स्वरूप हैं उनका परित्याग करके चला जाना तो अनुचित है उसके लिये कहते हैं कि ज्ञानसे भी भक्ति आवश्यक है।।१७४-।७५।।

आभासार्थ : पुरुष मुक्तिका उपसंहार करते हैं.

एवं चतुर्भिर्भोगादि-मुक्त्यन्तं पुंसि वर्णितम्।।१७६।।

वैराग्यादिः स्त्रियाः प्रोक्ता मुक्तिर्नवभिरुत्तमा।

कारिकार्थ : इस तरह चार अध्यायोंसे भोगसे लेकर मुक्ति पर्यन्तका वर्णन पुरुषके लिये कहा।।१७६।।

सत्रहवें अध्यायसे चौबीसवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

वैराग्यादिः स्त्रियाः प्रोक्ता मुक्तिर्नवभिरुत्तमा।।१७६।।

कारिकार्थ : नौ अध्यायोंसे स्त्रियोंके लिये वैराग्य आदि तथा उत्तम मुक्ति कही है।।१७५।।

इसके आगे एक अध्यायसे स्त्रीकी मुक्ति करनी चाहिये सो न कहकर नौ अध्यायोंसे क्यों कहा इसका उत्तर देते हैं कि स्त्रीके लिये वैराग्य आदि विशेष रूपसे कहने चाहिये वे एक अध्यायसे नहीं कहे जा सकते इसलिये नौ अध्याय कहे हैं. क्या स्त्रीकी मुक्ति पुरुषसे ही होगी उसके लिये कहा है कि उत्तमा स्त्री, मुक्तिके साधन प्रकारोंसे उत्तम है।।१७६।।

आभासार्थ : कपिलदेवजीने उपनिषद् सम्बन्धी ज्ञानका उपदेश न देकर सांख्य ज्ञानका उपदेश क्यों दिया इसके लिये कहते हैं.

यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा।

वर्णिनामेव तद्धि स्यात् स्त्रीशूद्राणां ततोऽन्यथा।।१७८।।

कारिकार्थ : उपनिषद्का ज्ञान अथवा भागवतका ज्ञान त्रेवर्णिकोंके ही लिये है इसलिये स्त्री और शूद्रोंके लिये उससे अतिरिक्त ज्ञानका उपदेश किया गया है ।।१७८।।

प्रकाशार्थ : गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति स्त्रियोंको तो भर्त्ताके साथ यज्ञ सम्बन्ध तथा वेद सम्बन्ध था इसलिये उनको मुख्य ही ज्ञान था अर्थात् मैत्रेयी आदिका यज्ञ सम्बन्ध था और गार्गी आदिका वेद सम्बन्ध था. पहलेके युगमें स्त्रियोंका भी उपनयन होता था ऐसा धर्मशास्त्रोंसे कहा है. कर्दमजीका तो देवहूतिके साथ न यज्ञ सम्बन्ध था और न वेद सम्बन्ध. इसलिये उपनिषद् सम्बन्धी ज्ञानका उपदेश नहीं दिया. यदि स्त्रियोंका वेद सम्बन्ध होता तो फिर ''स्त्री शूद्रद्विज बन्धूनां त्रयीन श्रुति गोचरा''में स्त्रीका ग्रहण व्यर्थ हो जाता. भागवत ज्ञान भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये ही है क्योंकि उसमें उपासना प्रधान है. जो भगवानने ब्रह्माजीके लिये कहा है वह त्रैवर्णिकोंके ही लिये है।।१७८।।

विदुरस्याऽधिकारोऽत्र प्राधान्याद्बीजरूपयोः ।
अतः साङ्ख्यप्रकारेण तस्यै ज्ञानमुदीर्यते।।१७९।।

कारिकार्थ : बीज (ब्राह्मण) और रूप (क्षत्रिय) को प्रधानतासे विदुरका यहां सांख्यमें अधिकार है इसलिये सांख्यके प्रकारसे ही स्त्रीके लिये ज्ञान कहा गया है।।१७९।।

प्रकाशार्थ : यहां मुख्य प्रकरणवाले विदुरजी हैं उनके अनुगुण सांख्य ज्ञान है. अतिशूद्रका तो सांख्यमें भी अधिकार नहीं है. उसके लिये कहा है कि 'प्राधान्याद् द्विजरूपयोः' विदुर व्यासजीके द्वारा उत्पन्न हुए थे. इसलिये बीज ब्राह्मणका था और रूप क्षत्रियका।।१७९।।

आभासार्थ : प्रमेय बलका सहारा लेकर समाधान करते हैं.

यथाकथञ्चिदात्मा हि ज्ञायतां साधने दृढे ।
ज्ञाने वा भक्तियोगे वा फलं भवति सर्वथा।।१८०।।
अतोऽत्र त्रितयं प्रोक्तं योगेनैषा परं गता ।

कारिकार्थ : यथा कथंचित् आत्माका ही ज्ञान करना है दृढ साधनके होने पर ज्ञानके या भक्तिभोगके होने पर फल होता है. इसलिये यहां सांख्य, योग तथा भक्तिमार्ग ये तीन कहे हैं उनमें यह देवहूति योगके द्वारा परमगतिको प्राप्त हुई.

प्रकाशार्थ : सांख्य-योग और भक्ति मार्ग इन तीनका उपदेश दिया है. उनमेंसे यह देवहूति भोगसे परम पदको प्राप्त हुई. इसलिये त्यागके अभावमें भी कोई दोष नहीं. भगवानके स्वधाम पधारने पर कोई दोष नहीं है।।१८० ।।

आभासार्थ : देवहूति 'निर्विण्णातितराम्' इत्यादि वाक्य क्यों कहती है और

किसलिये कहती है ?

गुरूपसत्त्या निर्विण्णो हेयांशं पज्ञायेद्गुरौ।।१८१।।
श्रद्धाभक्तियुतस्तस्मै तत्त्वं वाच्यं न चाऽन्यथा।
भर्तुश्च ब्रह्मणो वाक्यादभगवत्त्वं तु तस्य हि।।१८२।।
साङ्ख्यप्रणेतृतां चैव ज्ञातवत्याह तादृशम्।

कारिकार्थ : निर्वेदको प्राप्त होनेवाला गुरुके पास जाता है और 'हेयांश' उन्हें ज्ञापित करता है जिसकी गुरुमें श्रद्धा और भक्ति होती है उसीको गुरु तत्त्वोपदेश करता है अन्यथा नहीं करता. अपने पतिदेव कर्दमजीके वचनसे कपिलदेवजीको भगवान् जानती थी और सांख्य शास्त्रका प्रणयन करनेवाला भी जानती थी इसलिये उसने 'निर्विण्णातितराम्' ऐसा वचन कहा।।१८ ।।

प्रकाशार्थ : वहां प्रथममें प्रकार कहा जाता है. ऐसा कहनेमें हेतु तो ब्रह्माजीका वचन और भर्त्ताका वचन है; क्योंकि उनका भगवत्व निश्चित है. अतः भगवानके विषयमें ऐसा कहना अद्भुत नहीं है।।१८३ ।।

प्रकाशार्थ : भक्ति रहित योग चित्तका शोधक नहीं हो सकता. बिना शक्तिके उसका निर्वाह भी संदिग्ध है. अर्थात् भक्तिके बिना योगकी भी सिद्धि नहीं होती. भक्ति भी भगवानमें ही होनी चाहिये वह भक्ति सर्वसाधिका है. वह भक्ति भी स्वतः उत्पन्न हो या अन्य दर्शनसे उत्पन्न हो परंतु वह भक्ति पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाली नहीं हो सकती इसलिये यहां ''विना सद्भिर्न सा क्वचित्'' कहा है नये-नये सन्देहोंका निवारण संतजनोंसे ही हो सकता है अन्यसे नहीं.

सन्तश्च लक्षणैरेव सङ्गश्च हरिवाचकः।।१८८।।
अतो विलोमविधिना साक्षात्कारः फलिष्यति।

कारिकार्थ : लक्षणोंके द्वारा संतजनोंकी पहचान करना चाहिये. उनका संग भी केवल भगवत्कथाके लिये होना चाहिये. अतः विलोम(विपरीत) विधिसे भगवत् साक्षात्कार फलित होगा।।१८८ ।।

प्रकाशार्थ : लोक प्रसिद्धसे अथवा अपनी रुचिसे नहीं मानने चाहिये; किन्तु लक्षणोंसे उन्हें जाना चाहिये. उन सत्पुरुषोंका संग भी भगवत्कथाके लिये होना चाहिये. कथामें अथवा कथाके साधनमें हो. इस तरह शृंखलारूपसे पदार्थोंका निरूपण करके अब उसकी समाप्तिको 'विलोमविधिना'से बताते हैं. अर्थात् सत्संग होने पर कथा श्रवण होती है, उसमें बताए हुए प्रकारसे योगकी सिद्धि होती है, योगकी सिद्धिसे चित्तमें निर्मलता आती है, तब धर्म रुचि होनेके कारण सद्भाव सम्पन्न होता है, उससे भगवत्साक्षात्कार होता है. भगवत्साक्षात्कारमें सर्वज्ञता होती है सर्वज्ञता होने पर स्वरूप

ज्ञान होता है इसे विलोम विधि कहा है।।१८८ ।।

आभासार्थ : सांख्यमें भक्तिका अंगरूपसे निरूपण है किन्तु स्वमार्गमें भक्ति तो प्रधान (मुख्य) है उसे कहते हैं.

भक्त्यैव हि सतां सर्वमित्यर्थादुक्तमित्यवैत्।।१८९।।
अतो भक्तिं च योगं च द्वयं पृच्छति सा पुनः ।
श्रद्धया पृष्टमित्याह भक्तिं ज्ञानं च तस्य तत्।।१९०।।
प्रतिज्ञातं त्रयं तस्मात्साङ्ख्ये ज्ञानं फलं तथा ।

कारिकार्थ : संतोके लिये भक्तिसे ही सब होता है ऐसा सामान्य रूपसे तर्कसे कह दिया है. ऐसा देवहूतिने समझा. अतः देवहूति भक्ति और योग दोनोंके विषयमें प्रश्न करती है. ''भक्तिं ज्ञानं च तस्यतत्'' यह इसलिये कहा कि उसने प्रश्न श्रद्धासे किया था अतएव भक्ति, सांख्य और योग इन तीनोंके कहनेकी प्रतिज्ञाकी तथा सांख्यमें ज्ञान फल है उसका भी कथन किया।।१८९-१९० ।।

प्रकाशार्थ : मुझे कपिलदेवजीने प्रसंगसे ही ऐसा कह दिया है ऐसा देवहूतिने जाना. इसलिये संगके लिये यत्न नहीं किया. विशेष प्रश्नका हेतु यह ही है. मुझे यदि कहेंगे तो भक्तियोग अथवा केवल योग मेरे लिये कर्तव्य होगा. वेद ही साधारण रूपसे पदार्थोंका निरूपण करता है किन्तु अन्य तो प्रश्नकर्ताके अधिकारके अनुसार ही उसका निरूपण करते हैं अतः उसने भक्तिका और योगका प्रश्न किया. भक्तिका प्रश्न करनेसे कपिलदेवजीके प्रति जो उसका पुत्र भाव था वह चला गया इसलिये कपिलदेवजीने प्रसन्न होकर चारका कथन किया १. भक्तिका. २. आत्मा और अनात्माके विवेकका. ३. ज्ञानका तथा. ४. योगका उनमें आत्मा और अनात्माका विवेक तो अंग रूप है अतः 'विदित्वार्थम्' इस श्लोकमें तीनके कथनकी प्रतिज्ञा की. तत्वम्ना सांख्यको कहते हैं और भक्ति वितानके सहित योग इस तरह ये तीन होते हैं. शंका हो सकती है कि जब सांख्यका निर्देश पहले किया है तो उसका निरूपण पहले न कर भक्तिका निरूपण क्यों किया उस पर कहते हैं कि ''सांख्य ज्ञानं फलम्'' सांख्यमें ज्ञान मुख्य है अतः ज्ञानके निरूपणकी प्रतिज्ञा है. सांख्यके निरूपणकी नहीं अन्यथा केवल सांख्य प्रतिज्ञा व्यर्थ होगी. साधनके सहित ज्ञानके वर्णनमें बहुत कहना पड़ेगा इसलिये भक्तिका निरूपण पहले किया है।।१८९-१९० ।।

आभासार्थ : इस तरह प्रतिज्ञाको संदिग्ध मानकर उसे चार (२५-२८) अध्यायोंसे स्पष्ट कहते हैं.

एवं चतुर्भिरध्यायैश्चतुष्टयमुदीर्यते।।१९१।।
भक्तावनधिकारित्वमस्या अर्थादुदीरितम् ।

त्रयं तदर्थमेवाऽऽह कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता।।१९२।।

कारिकार्थ : इस तरह चार अध्यायोंसे भक्ति, सांख्य, ज्ञान और योग ये चार कथन हैं. देवहूतिका भक्तिमें अधिकार न होनेसे उसके लिये सांख्य आदि तीनका कथन है, योगमें कृतिकी आवश्यकता रहती है।।१९२।।

चार अध्यायोंसे आशय है तीसरे स्कन्धके २५ से २८ अध्याय इनमें प्रथम (२५ वें अध्याय) में भक्ति, २६ वे में सांख्य, २७ वेंमें ज्ञान और २८वें में योग कहा है.

प्रकाशार्थ : प्रथम अध्यायमें भक्ति कही है, सांख्य ज्ञान और योग आगे कहे हैं. शंका होती है कि भक्तिके असहाय शूर होनेसे इन चारके निरूपणकी क्या आवश्यता है ? इसका उत्तर ''भक्तावनधिकारित्वम्'' इससे दिया है. देवहूति स्त्री है अतः उसका भक्तिमें अधिकार न होनेसे सांख्य आदिका निरूपण देवहूतिके लिये नहीं किया है देवहूति स्त्री है उसे संगकी प्राप्ति हो नहीं सकती अतः 'अथते संप्रक्ष्यामि' इस भिन्न क्रमसे देवहूतिके ही लिये सांख्य आदि कहे गए हैं. उनमें भी सांख्य और योगमें प्रकारके भेदसे देवहूतिको क्या और कौन सा मार्ग सिद्ध है इस आकांक्षा पर ''कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता'' ऐसा कहा जिस तरह भक्ति मार्ग देवहूतिके लिये उपयुक्त नहीं है उसी तरह योगका भी उपयोग उसके लिये नहीं है. यह तो निरूपणसे ही जाना जाता है अतः देवहूतिके लिए सांख्यका निरूपण किया है।।१९१-१९२।।

आभासार्थ : यहां केवल भक्तिके स्वरूपका ही निरूपण नहीं है, किन्तु सारे भक्तिमार्गका निरूपण है.

भक्तिमार्गस्य निर्धारस्त्रयोदशभिरीर्यते।
द्वाभ्यां त्रिभिस्तथा चाऽग्रे त्रयमेकैकतस्तथा।।१९३।।
सफले लक्षणे मोक्षे लोकेष्वैहिकवस्तुषु।
हेतौ च सम्मतौ सर्वनिर्धारि क्रमतो मतैः।।१९४।।

कारिकार्थ : इस तरह श्लोकोंसे भक्ति मार्गका निर्धार किया गया है दो से, तीनसे तथा आगे दो- दोसे तीन (अर्थात् तीन दो) फिर दो एक-एक (इस प्रकार १३ श्लोकोंसे) सफल लक्षण मोक्षमें ''लोकोंमें ऐहिक वस्तुओं में और सम्मतिमें सर्व निर्धारमें उस तरह क्रमसे माने गए हैं''।।१९३-१९४।।

प्रकाशार्थ : देवानां (२५ वें अध्यायके ३२ वें श्लोकसे लेकर) तेरह श्लोकोंसे सम्पूर्ण भक्तिमार्गका निरूपण किया है. इन तेरह श्लोकोंका अवान्तर विनियोग कहते हैं. यहां सात पदार्थोंका निरूपण किया है. भक्तिका स्वरूप उसका फल मोक्ष, लोकोंमें भयके अभावका निर्धारण, 'ऐहिक वस्तुषु' यह लोकोंका विशेषण है ज्ञान विषयमें यह विशेषण नहीं है. हेतु महत् पुरुषोंकी सम्मति और सर्वनिर्धार. उनके श्लोकोंका विभाग

बताते हैं. ''दो श्लोकोंसे भक्तिके स्वरूपका निरूपण है''. 'नैकात्मताम्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे उस भक्तिका गौण फल बताया है. 'अतो विभूतिम्' इन दो श्लोकोंसे सालोक्य लक्षण मोक्ष कहा है तथा 'चाऽग्रे' इसमें 'द्वाभ्याम्' ऐसा जोड़ना फिर दो श्लोकोंसे मोक्षका निर्धार इस तरह मोक्षमें सर्वभावसे भजन तथा वैराग्य इस तरह दो भेद हो गए. वैसा होनेसे दो श्लोकोंसे प्रत्येक तीन सिद्ध होते हैं. 'अग्रिमाणैकएकैकत!' ऐसा कहनेसे एक-एकसे निरूपण है. इस तरह सात अथवा आठ अर्थ निरूपित होते हैं. इस तरह मुक्तिके साथ भक्ति मार्गका निरूपण किया।।१९४।।

आभासार्थ : देवहूतिजीका भक्तिमें अधिकार नहीं है इसे कहते हैं.

सङ्गाभावान्मुमुक्षुत्वात्त्यागाशक्तेरशक्तितः ।
अयुक्ता मुख्यभक्तौ हि तेनार्थान्तरमुच्यते।।१९५।।

कारिकार्थ : स्त्री होनेसे संगका अभाव था तथा देवहूतिजीको मोक्षकी इच्छा थी. त्यागकी शक्ति न होनेसे और अशक्तिके कारण मुख्य भक्तिमें वह अनुपयुक्त थी अतः उनके लिये सांख्य आदि कहे गए हैं।।१९५।।

प्रकाशार्थ : संगका अभाव तथा मोक्षकी इच्छा होना ये भक्तिमें बाधक रूप होनेसे ही स्त्रियोंका त्याग किया जाता है. वैराग्य भी देवहूतिजीमें असंभव है क्योंकि देवहूतिजी स्त्री थी अतः मुख्य भक्तिमें वह अयोग्य थी इसलिये सांख्य आदिका निरूपण हैं।।१९५।।

आभासार्थ : सांख्य निरूपणके प्रस्तावमें ज्ञानके निरूपणकी भी प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् सांख्यके साथ ज्ञानका भी निरूपण किया जायेगा.

द्वयं तत्र प्रतिज्ञातं हेतुः षड्भिर्द्वितीयके ।
सर्वभिन्नतया ज्ञानं खण्डं स्त्रीणां तदेव हि।।१९६।।
वेदानधिकृतनां च साङ्ख्यं तस्मान्निरूप्यते ।

कारिकार्थ : सांख्य और ज्ञान इन दोनोंके निरूपणकी प्रतिज्ञाकी है दूसरे (ज्ञान) के लिये छः श्लोकोंसे हेतु बताया है. सबसे भिन्न रूपसे खण्ड ज्ञानका निरूपण है. स्त्रियोंके लिये यही ज्ञान उपयुक्त है जो वेदके अधिकारी नहीं है उनके लिये सांख्य है अतः सांख्यका निरूपण।।१९६ ।।

प्रकाशार्थ : 'अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि' इससे तथा 'ज्ञान निःश्रेयसार्थाय' इन दो श्लोकोंसे सांख्य तथा ज्ञानके निरूपणकी प्रतिज्ञा है. ज्ञानके लिये जो अध्याय है उसका छः श्लोकोंसे निरूपण है. इससे 'अनादिरात्मा' इत्यादिकी असंगतिका परिहार किया है. शंका होती है कि सब ब्रह्म है ऐसा ही ज्ञान बोधनीय है. फिर संघातसे विलक्षण आत्मज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर सर्वभिन्नतयासे देते हैं यह खण्ड ज्ञान

स्त्रियोंके लिये हैं क्योंकि मुख्य ज्ञानमें स्त्रियोंका अधिकार नहीं है यह पहले कहा जा चुका है. वेदमें उनका अधिकार नहीं है अतः वे मुख्य ज्ञानकी अधिकारिणी नहीं है. अथ्यायके समर्थनके लिये सांख्यका निरूपण है. वास्तवमें देखा जाय तो भेदमें अध्यास होता है इसलिये 'सांख्यं तस्मान्निरूप्यते' ऐसा कहा है।।१९६।।

आभासार्थ : वहां जो कहा है उसे कहते हैं.

उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वभेदो निरूपितः।।१९७।।

तदर्थमेव सम्प्रश्नो भेदात्संसारभिन्नता।

कारिकार्थ : उत्पत्ति और मुक्ति इन दोनोंसे ही सर्वभेदका निरूपण है उसीके लिये प्रश्न है तथा भेदसे संसारकी भिन्नता है।।१९७ ।।

प्रकाशार्थ : ज्ञानके लिये सांख्यका निरूपण है इसमें ''तदर्थ मेव संप्रश्नः'' यह हेतु दिया है. भेद ज्ञान बाधक होगा. ऐसा मानकर समाधानके लिये 'भेदात् संसारभिन्नता' ऐसा पद दिया है. अनर्थ रूप संसारसे स्वयं भिन्न है इस रूपसे जो ज्ञान है वह मुख्य ज्ञानमें जो अधिकारी है उनमें बाधक नहीं है।।१९७ ।।

आभासार्थ : 'प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषः' इस अध्याय (२७) का आधी कारिकासे अर्थ कहते हैं.

साधानन्युपपत्तिश्च स्वरूपार्थं तथोच्यते।।१९८।।

अष्टाङ्गश्च तथा योगः कर्त्तव्यत्वाच्च विस्तृतः।

कारिकार्थ : स्वरूपके लिये साधन और उपपत्ति (युक्ति) कही जाती है और अष्टांगयोगको कर्त्तव्य रूप होनेसे उसका विस्तार किया है।।१९८ ।।

प्रकाशार्थ : उपपत्ति पहले कही है और 'यमादिभिः' इससे साधन कहे हैं. विचार भी साधन है ये 'च'का अर्थ है. इससे ''पुरुष प्रकृति ब्रह्मन्'' इत्यादि उपपन्न होते हैं. 'योगस्य लक्षणम्' इससे अध्यायका अर्थ कहा है. अष्टांग योग उसके लिये कर्तव्य है इसलिये उसका वर्णन विस्तृत रूपसे किया है।।१९८ ।।

आभासार्थ : देवहूतिके लिये योग कर्तव्य है उसका वर्णन विस्तृत रूपसे कर दिया तो फिर वैराग्य और भक्तिका प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता ऐसी आशंका कर उसका उत्तर देते हैं.

वैराग्यभक्त्योः सम्प्रश्नः साधनत्वाद्विशेषतः।।१९९।।

तत्त्वैर्द्वितीयनिर्धारो दशभिः कारणं परे।

कारिकार्थ : योगका विशेष अर्थ रूपसे साधन, वैराग्य और भक्ति है अतः वैराग्य और भक्तिका प्रश्न किया।।१९९ ।।

प्रकाशार्थ : वैराग्य और भक्तिके बिना योगकी सिद्धि नहीं होती इसलिये

भक्तिका जिस अध्यायमें वर्णन है उस अध्यायमें भयका हेतु जो काल है उसके माहात्म्यका निरूपण है तथा भक्तिसे भी माहात्म्य अंग है इसका बोध करनेके लिये उसका निरूपण है. उसमें भक्ति योगाश्रय यहां तक साढे अट्ठाईस कारिकाओंमें भक्तिके माहात्म्यका निरूपण है।।१९९ ।।

आभासार्थ : वैराग्यको दो अध्यायोंसे कहा गया है.

मृत्युजन्मविभेदेन दोषो वैराग्यबोधकः।।२००।।

तेनाऽध्यायद्वयं प्रोक्तं यच्छ्रुत्वाऽभयमाप्नुयात् ।

कारिकार्थ : मृत्यु और जन्मके भेदसे जो दोष है वह वैराग्यका बोधक है इसलिये उसके दो अध्याय कहे हैं जिसको सुनकर अभयताको प्राप्त हो जाता है।।२०० ।।

प्रकाशार्थ : भयसे वैराग्य होता है. दो अध्यायमें प्रथम अध्यायमें मृत्युका निरूपण किया. वह मृत्यु जब तक जन्म होता रहेगा तब तक होती रहेगी मरनेके बाद भी फिर यहां मृत्यु-लोकमें आ जाता है ऐसा कहा है।।२०० ।।

आभासार्थ : गर्भ स्तुतिका उपयोग कहते हैं.

सङ्गत्यागं विना ज्ञानं नोपयोगाय कल्पते।।२०१।।

इति दर्शयितुं स्तोत्रं यतः सर्वोपि तादृशः ।

कारिकार्थ : संग त्यागके बिना ज्ञानका उपयोग नहीं होता हैं इसको समजानेके लिये गर्भस्तुति है क्योंकि सबको गर्भमें ज्ञान होता है।।२०१ ।।

प्रकाशार्थ : सबको गर्भमें ज्ञान होता है अन्यथा उसके लिये संसारका कथन युक्तियुक्त नहीं हो सकता. इसलिये वैराग्य प्रकरणमें ज्ञान अप्रयोजक (अनुपयुक्त) है ऐसा निरूपण किया।।२०१ ।।

आभासार्थ : दो अध्यायोंसे जो सिद्ध हुआ उसे कहते हैं.

तस्मात्सर्वपरित्यागाद् भ्रमणं साधनं महत्।।२०२।।

एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्तं सर्वनिर्धारकं परम् ।

कारिकार्थ : इसलिये सबका परित्याग करके भ्रमण करना यह ही उत्तम साधन है. इस तरह मृत्यु-जन्म और स्तुति इन तीन तथा वैराग्य और भ्रमण रूप इन दो साधनोंका कथन है. फिर सबका निर्धारण एक अध्यायमें है।।२०२ ।।

प्रकाशार्थ : 'अथयो गृहमेधीयान्' इस अध्यायका अर्थ ''सर्वं निर्धारकं परम्'' इससे कहा है. इस अध्यायमें राजस, सात्विक और तामसोंका निर्धार निरूपण किया है. सात्विकोंके निरूपणमें ब्रह्मा आदिका भी निरूपण है. 'येत्विहालसमनसः'से तामसोंका और 'तस्मात्व' इससे निर्गुणावस्थाका निरूपण है. इस तरह सबका निर्धारण विस्तृत

रूपसे एक ही अध्यायमें कहा है. संक्षेपसे निरूपण करनेके लिये ही यह अंतिम अध्यायका अर्थ है।।२०२ ।।

आभासार्थ : 'नैतत्खलाय' इत्यादि श्लोकोंका इस प्रकरणमें क्या उपयोग है ? उसे कहते हैं.

भविता सर्वथैवैतत्संवादस्य निबन्धनम्।।२०३।।

गुणदोषास्त्वतस्तस्य विविच्यन्ते ह्यनेकधा।

कारिकार्थ : सब प्रकारसे इस संवादका निरूपण होगा, उसमें गुण और दोष होंगे जिनका अनेक प्रकारसे विवेचन है।।२०३ ।।

प्रकाशार्थ : इस संवादका निरूपण व्यास आदिके द्वारा भागवत आदिमें अवश्य होगा ही इसलिये गुणोंका और दोषोंका वर्णन है. भले ही प्राकृतमें उसका उपयोग नहीं है तथापि संगतिका अभाव दोषजनक नहीं है।।२०३ ।।

आभासार्थ : आठ अध्यायोंके अर्थका उपसंहार करते हैं.

एवं व्यासप्रकारेण तत्त्वमुक्तं विभागशः।।२०४।।

समासेन तथैकस्मिन् सफलं पूरणं तथा।

कारिकार्थ : इस तरह विस्तारके प्रकारसे अलग-अलग तत्वको कहा तथा एक अध्याय संक्षेपसे उसको पूर्ण किया जिससे शीघ्र फल सिद्ध हो।।२०४ ।।

प्रकाशार्थ : विस्तार प्रकारसे सब वस्तुओंके निर्धारके लिये तत्व कहा और सहजमें समजमें आ सके इसके लिये एक अध्यायमें इसे संक्षेपमें कहा. संक्षेपमें कथन है वह निष्फल नहीं है ऐसी आशंका करके कहा कि सफल उसमें सब सार (निचोड़) है अतः शीघ्र ही उससे फल सिद्धि होती है।।२०४ ।।

आभासार्थ : अवान्तर अध्यायोंका अर्थ कहते हैं.

गुरुप्रसादसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं वागेव स स्मृतः।।२०५।।

प्रतिपत्तिमकृत्वा चेल्लीना को वेद किं भवेत्।

इत्यब्धारणया देहं जलं चक्रे महामतिः।।२०६।।

अवतारचरित्रत्वाच्छ्रवणे फलमुच्यते।।२०६ ।।

कारिकार्थ : गुरु प्रसन्न हो इसके लिये स्तुति की क्योंकि कपिलदेवजी वाणी रूप हैं अतः स्तुतिसे ही वे प्रसन्न होते हैं यदि देहका संस्कार न करके वह लीन हो जाती है तो कौन जानता कि क्या होता इसलिये जलकी धारणासे उस महाबुद्धिमतीने अपने देहको जल बना दिया. यह अवतार चरित्र है इसलिये इसके सुननेका फल कहा है।।२०६ ।।

प्रकाशार्थ : स्तुति देवहूजितीने की थी. स्तुति मात्रसे ही उनके प्रसन्न होनेमें तो

कारण यह है कि कपिलदेवजीने ज्ञान कलासे अवतार लिया इसलिये वे सरस्वती रूप थे और सरस्वती वाणीरूपा है. देवहूतिजीने अपने देहका संस्कार उस तरह क्यों किया इसका उत्तर यह है कि देह संस्कार न करके लीन होने पर न जाने क्या होता. स्वयं तो स्त्री थी और गुरु सरस्वती रूप थे इसलिये तिर्यग्गति समुद्र गामिनी होने पर भी जल धारणा ही की. अग्निभाव होने पर भी गुरुके सान्निध्यसे उर्ध्वगति हो जाती इसे जानकर ही उसने वैसा किया अर्थात् अग्निसे जलकी उत्पत्ति होती है इसे वह जानती थी अतः जलरूप हो गई इस सबको वह जानती थी क्योंकि वह अत्यन्त बुद्धिमति थी. इस कथाके सुननेसे भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति होती है यह फल बताया है।।२०५-२०६।।

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्धके श्रीमद्भावतार्थ प्रकरणके तृतीय स्कन्धका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

तृतीयस्कन्धनामानि

सर्ग लीला

देवाभयाप्रदाता च वैकुंठाधिपतिर्महान्। सर्वगर्वप्रहारी च सनकाद्यखिलार्थदः ।।३७।।

(१४९) देवाभयप्रदाता.

(१)देवोंको अभय प्रदान करनेवाले; (२)इन्द्रसे दितिके गर्भको अभय देनेवाले.

इन्द्रादिक सर्व देवोंको दितिके गर्भधारणसे उत्पन्न हुये भयको दूर करनेवाले आप प्रभु ही हैं. दितिके गर्भका घोर अंधकारसे उपजे हुये भयसे त्रस्त होकर एकत्र होकर प्रभुकी स्तुति करने लगे. तब उनके स्तोत्रको सुनकर भगवान्ने वाराह स्वरूपसे हिरण्याक्षको मारकर सर्व देवोंको अभय दिया है. ऐसा अ.१५में स्पष्ट किया गया है. जैसे ही दितिने सायंकाल समयमें गर्भ धारण किया तब उससे इन्द्रको भय उत्पन्न हुआ. परंतु भगवान्ने उसके गर्भका रक्षण करके अभय दिया है. इस प्रकार देवोंको भी अभय प्रदान करके साथ साथ देव-शंकरसे दितिको भी अभय देनेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं.

(१५०) वैकुंठाधिपतिः. वैकुण्ठलोकके स्वामी.

एक दिन सनकादिक ऋषि शुद्ध स्वरूपधारी सर्वलोक द्वारा अपना वंदन कराते हुये वैकुंठ-विष्णु परमात्माके लोकमें गये. वहां उस वैकुंठका वैभव देखकर बहुत ही आश्चर्य चकित हुये. उसमें परमात्माका आधिपत्य सनकादिकोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया. इस वैकुंठके स्वामी स्वयं विष्णु हैं सत्व गुणाधिष्ठाता विष्णु ये पूर्ण पुरुषोत्तमकी पालिनी शक्तिरूप स्वरूप है. अतएव अभिन्नपनसे शुद्ध अद्वैत भावसे वैकुंठाधिपति भी आप पूर्ण पुरुषोत्तम ही हैं.

(१५१) महान् (१) पूज्य महिमावाले;(२) सर्वसे महान्.

भगवान् सर्वसे महानसे महान हैं. जिनकी महिमाको कोईभी जान नहीं पाया अतएव आप महान हैं. श्रुति कहती है कि ''महतो महीयान्''(महानसे महान प्रभु महान हैं.) प्रभु अत्यन्त सूक्ष्म रूप होनेके कारण तथा शुद्ध बुद्ध और सर्व व्यापक होनेके कारण उसको तर्कसे भी कोई नहीं जान सकता. ऐसे होनेके कारण आपको महानमें महान कहनेमें आता है.

(१५२) सर्वगर्वप्रहारी. सबके गर्वको दूर करनेवाले.

सर्व भक्तोंके गर्वको हरनेवाले श्रीहरि हैं. जयविजय नामके आपके भक्त, नित्य मुक्त होनेके अभिमानमें गर्वयुक्त हो गये थे. अतएव जब सनकादिक ऋषि

आपके स्वधाममें पधारे तब आपने ही उनका गर्व दूर करनेकेलिये उनके हृदयमें उनको रोकने प्रेरणा करी थी. अतएव अपने भक्तोंके गर्वका हरण करनेवाले आप श्रीहरि पुरुषोत्तम ही हैं.

(१५३) सनकाद्यखिलार्थदः. सनकादिक मुनियोंको संपूर्ण अर्थ देनेवाले.

सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार ये चार सनकादि कुमार मुनीश्वर हैं. ये वैकुंठलोकमें भगवान्के दर्शन करनेकेलिये गये तब भगवान्ने उनको अपना तेजोमय दिव्य स्वरूप दर्शाया था. इस प्रमाणसे उनको सुंदर दर्शन देकर उनके मनोरथोंको सम्पूर्ण रीतिसे फलीभूत किया. यह इस स्कन्धके १५अध्यायमें स्पष्ट है. अतएव सनकादि मुनियोंको सम्पूर्ण अर्थ देनेवाले आप प्रभु ही हैं.

सर्वाश्वासन कर्ता च भक्ततुल्याहवप्रदः । काललक्षणहेतुश्च सर्वार्थज्ञापकः परः ॥३८॥

(१५४) सर्वाश्वासनकर्ता. सर्वको आश्वासन देनेवाले.

सबको अर्थात् तुम ब्राह्मणके द्वारा शापित हुये अतएव तीन जन्म बाद मेरे फिरसे पार्षद बनोगे. ऐसा कहकर जयविजयको वैसे ही भक्तोंको शाप नहीं देना चाहिये फिर भी सनकादिक मुनियोंने शाप दिया. आपके पार्षदोंका अपमान करनेके कारण मुनियोंके मनमें बहुत ही खेद उत्पन्न हुआ. अतएव भगवान्ने 'ये मेरे पार्षद हैं, इन्होंने मुनियोंका अपराध किया है', ऐसा कहके उन मुनियोंको तथा सबको भली प्रकारसे अपने मधुर वचनोंसे शांत करके आश्वासन देनेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं.

(१५५) भक्ततुल्याहवप्रदः. भक्तको योग्य युद्ध देनेवाले.

अपना पार्षद विजय हिरण्याक्ष दैत्य रूपसे उत्पन्न हुआ तब उसको युद्ध देनेकेलिये भगवान्न वराह अवतार धारण किया और यथोचित युद्धका अवसर दिया.

(१५६) काललक्षणहेतुः. कालके लक्षणोंके कारणरूप.

दैत्यकी उत्पत्तिके समय काल लक्षणोंके प्रवर्तन करनेवाले प्रभु ही हैं. इस स्कन्धके १७वें अध्यायमें कहा गया है कि उन दोनों दैत्योंकी उत्पत्तिके समय अनेक उत्पात होने लग गये, पाषाण इत्यादि नीचे गिरने लग गये. ये उत्पात रूप कालके लक्षणोंका प्रवर्तन प्रभुने ही किया है. गीतामें आप आज्ञा करते हैं कि मैं सबकी उत्पत्तिका स्थान हूं. मेरेसे ही सब कुछ चल रहा है. अर्थात् सर्व वस्तुओंकी प्रवृत्ति करनेवाले प्रभु ही हैं.

(१५७) सर्वार्थज्ञापकः.

(१)सर्व अर्थोंका ज्ञान करानेवाले; (२)सर्व अर्थ जिनमें है ऐसे वराहस्वरूप का ज्ञान हिरण्याक्षको करानेवाले भगवान्.

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सर्व अर्थ जिनमें हैं, ऐसे वराह स्वरूपका ज्ञान

करानेवाले स्वयं भगवान् ही हैं. अपना सर्व अर्थमय ऐसा वराहस्वरूप हिरण्याक्ष दैत्यको दिखानेवाले भी आप ही हैं. इस स्कन्धके १८वें अध्यायमें कहा गया है कि ''ददर्श तत्राभिर्जितं धराधरम्'' वहां धरणीको धारण करनेवाले विजयी वराह. परमात्माने हिरण्याक्षको देखा. वहां स्वयं वराह भगवान्ने अपना स्वरूप उसको दिखाया है. ऐसा स्पष्ट बताया गया है. अतएव उसको सर्व अर्थका ज्ञान करानेवाले ऐसे भगवान् कहा.

(१५८) परः.

भक्त हिरण्याक्ष दैत्यकी युद्धाभिलाषाको पूर्ण करनेवाले वराहरूप श्रीपुरुषोत्तम.

भक्तोन्नतिकरः सर्व प्रकार सुखदायकः । नानायुद्ध प्रहरणो ब्रह्मशापविमोचकः ।।३९।।

(१५९) भक्तोन्नतिकरः. भक्तकी उन्नति करनेवाले.

भक्त दैत्य हिरण्याक्षको मारनेसे बलमें अधिक हैं ऐसा अन्य जनोंको दर्शाकर अपनेमेंसे ही उसके बलकी उन्नति करनेवाले आप भगवान् ही हैं. इस स्कन्धके १८वें अध्यायमें स्पष्ट है कि : महापराक्रमी और प्रभुसे भी बढ़े हुये दैत्यको देखकर ब्रह्माजीने भगवान्की स्तुति करी कि आप दैत्यका शीघ्र ही नाश करो. इस प्रकार भगवान्ने सबको यह जताया कि भक्त भगवान्से भी अधिक बलवान होता है. बाकी तो सारे जगतको प्रलयमें लीन करनेवाले प्रभुको एक दैत्यको मारनेमें कितना प्रयास करना पड़ेगा ?

(१६०) सर्वप्रकार सुखदायकः. सर्वप्रकारके सुख देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण हैं.

भक्त हिरण्याक्षको उसके दैत्य होनेके उपरान्त सर्व लोकपालों पर विजय प्राप्त करवाकर इन्द्रसे अधिक वैभव और सुख प्रदान करनेवाले प्रभु आप ही हैं. अतएव लौकिक अलौकिक इत्यादि सर्व प्रकारके सुख देनेवाले केवल प्रभु श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम ही हैं.

(१६१) नाना युद्धप्रहरणः.

भिन्न भिन्न प्रकारके जिनके पास युद्धके शस्त्र हैं अथवा विविध प्रकारसे युद्धमें आयुधोंके द्वारा प्रहार करनेका ज्ञान रखनेवाले अथवा भिन्न भिन्न रीतिसे युद्ध करके दुष्टोंका ताड़नकर शिक्षा देनेवाले भगवान्.

चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष इत्यादि अनेक प्रकारके शस्त्र प्रभुके हैं. उन शस्त्रों द्वारा अलग अलग युद्ध करनेकी कलाओंका ज्ञान प्रभुको है और उसी प्रकार अपनी युद्ध कुशलतासे दुष्टोंका नाश करके सर्व जगत मात्रका हित करते हैं. अनेक विद्याओंको प्रकट करनेवाले प्रभु हैं तो शस्त्र विद्यामें ऐसी अलौकिक कुशलता धरें तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है क्योंकि प्रभु ही तो सारी शस्त्र विद्याओंको प्रकट करनेवाले हैं.

(१६२) ब्रह्मशापविमोचकः.

ब्रह्मज्ञ सनकादिक मुनियोंके शापसे अपने पार्षदोंको मुक्त करनेवाले भगवान्.

ब्रह्मज्ञ–ब्राह्मण सनकादिक मुनियोंके श्रापसे अपने पार्षदोंको मुक्त करनेवाले परमात्मा हैं. जब इन पार्षदोंको श्राप हुआ तब तीन जन्मोंमें श्रापको भुगतकर फिरसे पार्षद बनोगे, ऐसा उन पार्षदोंको आज्ञा की, यह बताया. उनमें पहले एक हिरण्याक्षरूप धारण किये हुये दैत्यको वराह रूपसे मारकर श्रापमें न्यूनता प्रभुने ही करी है. अतएव आप ही प्रभु ब्रह्मश्रापसे मुक्त करनेवाले हैं.

पुष्टिसर्गप्रणेता च गुणसृष्टि प्रवर्तकः । कर्दमेष्टप्रदाता च देवहुत्यखिलार्थदः ।।४०।।

(१६३) पुष्टिसर्गप्रणेता.

पुष्टिकेलिये सृष्टिकी रचना करनेवाले अथवा पुष्टिके द्वारा सृष्टि रचनेवाले अथवा पुष्टिरूप सृष्टिके कर्ता.

पुष्टि अर्थात् पोषण–भगवान्का अनुग्रह. श्रीकृष्णकी दस प्रकारकी सर्ग, विसर्गादि लीलाओंका अर्थ करते हुये पोषण लीलाका अर्थ २।१।३में भगवान् शुकदेवजी उपदेश देते हैं कि ''पोषण भगवान्का अनुग्रह'' कृपा इसका नाम ही पोषण कहलाता है. और उसीको पुष्टि कहते हैं. अपना अनुग्रह सब भक्तजनोंको देनेकेलिये ही सृष्टिको प्रकट करनेवाले आप प्रभु हैं. आपने अपने अनुग्रह द्वारा अर्थात् कश्यप, मनु, इत्यादिकी सृष्टिमें मेरे बहुतसे भक्त होंगे, ऐसे कृपापूर्वक सृष्टि प्रकट करी है. जब सृष्टिका आरम्भ हुआ तब ब्रह्माजीसे स्वायंभुमनु और शतरूपा ऐसे स्त्री पुरुषकी जोड़ी प्रकट हुई. ये दोनों भाई बहन माने जाते हैं. तो इनमें परस्पर मैथुन धर्मसे सृष्टि नहीं हो सकती, ऐसी मर्यादा होनी चाहिये. परन्तु सृष्टिके आरम्भकालका विचार करके यह मर्यादा विरुद्ध अर्थात् पुष्टिरूप सृष्टि करनेकी आज्ञा प्रभुने प्रदान करी है. अतएव वह पुष्टिरूप सृष्टि भी आप प्रभु ही करनेवाले हैं, यह सिद्ध होता है.

(१६४) गुणसृष्टि प्रवर्तकः. गुणमयी सृष्टिको प्रवृत्त करनेवाले.

सत्व, रज और तम इन तीन गुणोंके परस्पर मिश्रण द्वारा गुणमयी सृष्टिका प्रवर्तन करनेवाले आप प्रभु ही हैं. इस स्कन्धके २० अध्यायमें ''जातक्षोभादभागवतो महानासीद् गुणत्रयात्'' भगवान्की सन्निधिसे त्रिगुणमय प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होनेपर उससे महत्तत्व उत्पन्न हुआ. और उसके बाद आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि इत्यादि उत्पन्न हुये. ऐसा स्पष्ट दिखाया गया है अतएव गुणमयी सृष्टिको प्रवर्तन करनेवाले आप प्रभु ही हैं.

(१६५) कर्दमेष्टप्रदाताः. कर्दममुनिको इष्ट वस्तु देनेवाले.

ब्रह्माजीने कर्दममुनिको प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा करी, परन्तु उनको देखकर ऐसा लगा कि साधनोंके बगैर सृष्टि हो नहीं सकती. अतएव स्त्री(स्वयंभुमनुकी

पुत्री देहहूति) सम्पत्ति विमान इत्यादि देकर कर्दममुनिकी वांछाओंको यथेच्छ रीतिसे आपने ही पूर्ण किया है. अतएव कर्दममुनिको इष्ट वस्तु देनेवाले स्वयं प्रभु ही हैं.

(१६६) देवहूत्यखिलार्थदः. देवहूतिको समग्र अर्थ देनेवाले.

देवहूति मनुकी पुत्री, कर्दममुनीकी स्त्री; उसको कर्दममुनि द्वारा सम्पूर्ण अर्थ प्रदान करनेवाले भगवान् हैं. देहहूतिका प्रिय करनेकेलिये मुनि द्वारा दिव्यभुवन, दिव्य विमान, सेवामें हजारों विद्याधारी इत्यादि भगवान द्वारा ही दिये गये हैं. इस स्कन्धके २२ अध्यायमें देवहूतीको सब वैभव मिला है, ऐसा कहनेमें आया है, वह सब भगवान् द्वारा ही प्रदत्त है.

शुक्लनारायणः सत्यकालधर्मप्रवर्तकः। ज्ञानावतारः शान्तात्मा कपिलः कालनाशकः।४१

(१६७) शुक्लनारायणः. शुद्ध सत्त्व गुणमय नारायण.

सत्ययुगमें शुद्ध सत्त्वगुणमय आविर्भाव प्राप्त नारायणने शुक्लतीर्थ निर्माण किया है. अतएव वो नारायण प्रभुको शुक्लनारायण ऐसा व्यवहारमें कहा जाता है. इस स्कंधके २३ अध्यायमें बताया गया है के हे भीरू ! इस ह्रदमें स्नान करके विमान पर चढ़ो. ये शुद्ध सत्त्वमय नारायण द्वारा बनाया गया मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला पवित्र तीर्थ है. इस वचनसे सत्ययुगमें नारायण स्वरूप शुक्लतीर्थको आप ही प्रकट करनेवाले हैं अतएव आप शुक्लनारायण ऐसे पुरुषोत्तम कहे जाते हैं.

(१६८) सत्यकालधर्मप्रवर्तकः. यथार्थ काल सम्बन्धी धर्मोंके प्रवर्तक.

यथार्थ कालधर्म अर्थात् यौवनादि क्रीडाके उपयोगी कालधर्मोंका प्रवर्तन करनेवाले आप प्रभु हैं. भगवान् द्वारा रचित उस शुक्लतीर्थमें स्नान करनेकेलिये देवहूती को कर्दममुनिने आज्ञा करी. उसका पालन करनेसे देवहूतीका शरीर सुंदर बन गया. ऐसा इस स्कन्धके २३वें अध्यायमें बताया गया है. इस प्रकार शुक्लादि तीर्थों द्वारा यौवन इत्यादि क्रीड़ा उपयोगी कालधर्मको प्रवृत्तिमें लानेवाले स्वयं परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं.

(१६९) ज्ञानावतारः. ज्ञानरूप जिनका अवतार है.

ज्ञानरूप अर्थात् देवहूतिको ज्ञान तथा भक्तिमार्गका उपदेश देनेकेलिये प्रभु स्वयं शुक्लनारायण–कपिलदेव रूपमें कर्दम मुनिके द्वारा देवहूतिके उदरसे प्रकट हुये. इस स्कन्धके २४वें अध्यायमें कर्दममुनि देवहूतिको बताते हैं कि ''हे देवी ! आपने भगवान्का आराधन किया उससे तुम्हारे यशको बढ़ानेकेलिये ह्रदयकी ग्रंथि–अज्ञानतारूप मायाको छेदनेवाले, ब्रह्मवेत्ता भगवान् नारायण कपिलदेव तुम्हारे उदरमेंसे प्रकट होंगे.'' ऐसे देवहूतीको भक्तिमार्गका और ज्ञानमार्गका उपदेश करनेकेलिये स्वयं कपिलदेव रूपमें प्रकट हुये प्रभु ज्ञानावतार हैं.

(१७०) शान्तात्माः.

कामक्रोधादिसे रहित शान्त स्वरूपवाले अथवा शान्त भक्तजनोंके आत्मारूप.

परमात्मा केवल शांत-आनन्दमय स्वरूपसे ही बिराजते हैं. अर्थात् आपमें काम क्रोध इत्यादि तो कहांसे संभव हैं? ऐसी शांतता पूर्णतामें ही हो सकती है, अन्यमें नहीं. प्रभुतो परिपूर्ण शांत स्वरूपसे ही सर्वत्र प्रकाशित हैं. प्रभुके भक्त भी वैसे ही शांत होते हैं. ऐसे शांत भगवदीयजन परमात्माको प्राप्त करते हैं. ऐसे भक्तोंके ऊपर प्रभु कृपा करके उनकी आत्मारूप बनकर हृदयमें निरंतर निवास करते हैं. अतएव वह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण शांतात्मा हैं.

(१७१) कपिलः.

कपिल वर्णवाले देवहूतीके पुत्र श्रीकपिल भगवान् अथवा 'क' अर्थात् जल, 'पि' अर्थात् पीनेवाले और 'ल' अर्थात् धारण करनेवाले. जलका शोषणकर उसे धारण करनेवाली जिनकी किरणें हैं ऐसे सूर्यनारायण रूप भगवान् अथवा उत्तम भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले.

देवहूतीके पुत्ररूपमें प्रकट हुये भगवान्का लाल, सफेद और पीले रंगका मिश्रित वर्ण था. जिसके कारण सब आपको कपिलदेव कहते हैं. ये कपिलदेव आप प्रभु ही हैं. किरणों द्वारा जलका शोषण करनेवाले सूर्य हैं. श्रुति कहती है ''सूर्य किरणों द्वारा सब भुवनोंमेंसे जलको ग्रहण करते हैं''. ऐसा सूर्य कोई अन्य नहीं है. लेकिन स्वयं प्रभु ही सूर्यरूप हैं. गीतामें आप आज्ञा करते हैं कि ''तेजस्वी वस्तुओंमें मैं किरणोंवाला रवि-सूर्य हूं''. इसलिये सूर्य स्वरूपी भगवान्ने ऐसा कहा, कपि अर्थात् श्रेष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ भक्तोंके ऊपर आप अनुग्रह करनेवाले हैं. महाभारतमें कहा गया है किः ''कपि वराह, श्रेष्ठ और धर्मको वृष कहा जाता है. अतएव कश्यपमुनि मुझे वृषाकपि कहते हैं''. यहां कपिका अर्थ श्रेष्ठ भी बताया गया है अतएव श्रेष्ठ भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेवाले ऐसे भगवान् कपिल कहा गया है.

(१७२) कालनाशकः.

कालके समान नाशकरनेवाले प्रभु अथवा कालका भी नाश करनेवाले.

परमात्मा क्षर अक्षर इत्यादिसे पर है, अक्षरातीत है. कालसे शुरु करके सारे जगतका क्षर तथा अक्षरमें समावेश हो जाता है. परन्तु वो सब आखिरमें परमात्माके आनन्दमय स्वरूपमें लीन हो जाते हैं. इस कारण सबके कालका नाश करनेवाले प्रभु ही हैं. फिर भी जब सबसे परे परमात्मा हैं तो कालपुरुषसे भी पर ही हैं अतएव सबको मृत्युमें सुलानेवाले ऐसे कालपुरुषका भी नाश करनेवाले स्वयं भगवान् ही हैं.

त्रिगुणाधिपतिः सांख्यशास्त्रकर्ता विशारदः । सर्गदूषणहारी च पुष्टिमोक्षप्रवर्तकः ।।४२।

(१७३) त्रिगुणाधिपतिः.

सत्त्वादि तीन गुण जिनमें हैं ऐसे कालके अधिपति अर्थात् नियामक अथवा अधिदैविक रूपवाले.

त्रिगुणात्मक कालको नियममें रखनेवाले आप भगवान् ही हैं. प्रभुके कालके नियामक होनेके कारण ही इस स्कंधके २४वें अध्यायमें कहा गया है : ''परं प्रधानं पुरुषं महान्तं कालम्''(परम पुरुष सर्वमें प्रधान महान काल ऐसे कपिल भगवान्की मैं शरण जाता हूं.) यहां कालके भी काल अर्थात् महान कालस्वरूप ऐसे भगवान्को कहा गया है. अतएव प्रभु स्वयं ही त्रिगुणात्मक कालके नियामक हैं.

(१७४) सांख्यशास्त्रकर्ता . सांख्य शास्त्रकी रचना करनेवाले.

यह आत्मा है, यह अनात्मा है ऐसा विवेक दर्शानेवाले शास्त्रको सांख्य शास्त्र कहते हैं. ऐसे शास्त्रकी रचना करनेवाले कपिलदेव स्वरूपमें स्वयं प्रभु ही हैं. शास्त्रकी गहनताको परमात्माके अतिरिक्त दूसरा कौन जान सकता है? अतएव आप स्वयं प्रकट होकर उसे रचकर इस लोकमें प्रसिद्ध किया. सबसे पहले इस शास्त्रका उपदेश अपनी माताको दिया. इस स्कन्धके २४वें अध्यायमें स्वयं आज्ञा करते हैं : ''सारे कर्मोंको शांत करनेवाली अध्यात्मविद्या मेरी माताको प्रदान करी है जिसके कारण वो सब भयोंसे मुक्त होगी.'' यहां माताको अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया यह स्पष्ट करते हैं. अतएव वैसे अध्यात्मविद्यारूप सांख्यशास्त्रको प्रकट करनेवाले आप प्रभु ही हैं.

(१७५) विशारदः.

सब शास्त्रमें निपुण अथवा भक्तोंके अज्ञानको दूर कर उनको संसारसे मुक्त करनेवाले.

सकल शास्त्रोंको प्रकट करनेवाले सब विद्याओंके अधिपति स्वामी परमात्मा सब शास्त्रोंमें निपुण-चतुर हों तो इसमें क्या आश्चर्य? भक्तोंके हृदयमें रही हुई अज्ञानतारूप ग्रंथिके बंधनको तोड़कर उनके अन्तःकरणमें स्वयं प्रकाशित होकर संसारसे मुक्त करनेवाले अर्थात् अपने चरणोंकी शरणको प्राप्त करवानेवाले स्वयं प्रभु ही हैं. इसीसे गीतामें आपने आज्ञा करी है कि ''परमात्माके स्वरूपका प्रकाश अंतःकरणमें होनेके कारण हृदयकी अज्ञानतारूप ग्रंथिका भेदन हो जाता है और सर्वसंशयोंका छेदन हो जाता है''. प्रभु जिसके हृदयमंदिरमें प्रकाशित होते हैं उसमें कहीं कोई संशय रह सकता है? परमात्मा ही जिनके उपदेशदाता हैं वो भगवदीय शंकाके कलंकोंसे रहित होकर प्रभुपदको प्राप्त होते हैं, इसमें किसी प्रकारका आश्चर्य जैसा नहीं है.

(१७६) सर्गदूषणहारीः. सृष्टिके दूषणको हरण करनेवाले.

प्रभुने कपिल रूपमें प्रकट होकर सृष्टिके दूषणको भूषणमें परिवर्तित कर दिया.

क्योंके ये मेरा पुत्र, ये मेरा घर, मेरा धन, इत्यादिके अहंममत्व द्वारा ही इस सृष्टिमें अधर्म फैलता है. ये ही तो सृष्टिका महान दूषण है. परन्तु प्रभुने प्रकट होकर उनमें ज्ञानका प्रसारण करके दूषणको दूर किया एवं धर्मका प्रसारण किया और ज्ञानका प्रकाश किया. अर्थात् मनुष्योंको इस सृष्टिमें वैसा ज्ञान प्राप्त होकर प्रभुपद प्राप्त होने लगे. अतएव यह सृष्टि दूषणरूप होते हुये भी भूषणरूप बन गई. यह प्रभुका प्रभाव है, प्रभु ही उनके दूषणको हरनेवाले हैं.

(१७७) पुष्टिमोक्षप्रवर्तकः.

पुष्टिरूप मोक्षको देनेवाले अथवा पुष्टिस्थ जीवोंको मुक्ति देनेवाले किंवा पुष्टिके द्वारा मोक्षदाता.

भगवान्के अनुग्रहको 'पुष्टि' कहा जाता है. ऐसे पुष्टिमार्गके(भगवान्की आनन्दमय लीलामें प्रवेश) मोक्षको देनेवाले, वैसे प्रभुके अनुग्रह-कृपाको प्राप्त करनेवाले पुष्टिस्थ दैवी जीवोंको भी, व्रजचन्द्रकी अलौकिक आनन्दरसात्मक लीलामें प्रवेश रूप मोक्षको देनेवाले श्रीकृष्ण पूर्णपुरुषोत्तम स्वयं ही हैं. प्रभु अपनी पुष्टि द्वारा ही भगवदीयोंको मोक्ष प्रदान करते हैं. तब ही उनको भगवान्के आनन्दैकरस स्वरूपका अनुभव होता है. प्रभुकी कृपा बिना वैसा मोक्ष मिल नहीं सकता. इसकेलिये ही पुष्टि द्वारा मोक्ष देनेवाले प्रभु ऐसे कहा गया है. कर्दममुनिको वैसा ही मोक्ष प्रभु द्वारा दिया गया है. ऐसा इस स्कन्धके २४वें अध्यायमें ''मौनव्रत धारी, परमात्माकी ही जिनने एक शरण ग्रहण करी है, ऐसे कर्दम ऋषिने भगवान्का पद प्राप्त किया''. ऐसा स्पष्ट बताया गया है.

लौकिकानंददाता च ब्रह्मानंदप्रवर्तकः। भक्ति सिद्धान्त वक्ता च सगुणज्ञानदीपकः ।४३

(१७८) लौकिकानंददाताः.

लौकिक आनन्द देनेवाले अथवा लौकिक जीवोंको सांख्यशास्त्र प्रकट कर दुःखकी निवृत्ति कर आनन्द-सुख देनेवाले.

प्रभु लौकिकका अनुसरण करके भी आनन्द प्रदान करते हैं. कपिलदेवने अपनी माता देवहूतीके पुत्र प्रेमपूर्वक लौकिकका अनुसरण करके प्रश्नों द्वारा उदित तत्त्वबोधरूप आनन्द प्रदान किया है. ऐसा इस स्कन्धके २५वें अध्यायमें प्रसिद्ध है. लौकिक संसारी जीवोंके लिये तत्त्वोंके ज्ञानको प्रकाशित करनेकेलिये सांख्य शास्त्र प्रकट करके आनन्द प्रदान किया है. सांख्य तत्त्वको जानकर बड़े बड़े योगी पुरुष देवहूतीकी भांति परमात्माके पदको प्राप्त हुये ऐसा जनाया गया है. अतएव जीवोंको तत्त्वज्ञानका आनन्द प्रदान करनेवाले प्रभु स्वयं ही हैं.

(१७९) ब्रह्मानंदप्रवर्तकः. ब्रह्मसम्बन्धी आनन्दके प्रवर्तक.

सारे आनन्दोंमें ब्रह्मसम्बन्धी आनन्द ही मुख्य है. श्रुतिमें कहा गया है कि ''स

एको ब्रह्मण आनन्दः''(केवल ब्रह्मका आनन्द ही मुख्य है). इस प्रमाणसे सर्वोत्तम ब्रह्मानन्द प्रभु अतिरिक्त कौन प्रदान कर सकता है? ये सत्ता किसी दूसरेमें कहांसे हो सकती है? अतएव वेद, गीता, इत्यादिमें प्रसिद्ध सर्वत्र भगवद् भाव उत्पन्न करनेवाला अक्षरब्रह्मसम्बन्धी आनन्दको देनेवाले आप आनन्दमय श्रीकृष्ण ही हैं.

(१८०) भक्तिसिद्धान्तवक्ताः. भक्ति सिद्धान्तके विवेचन करनेवाले.

भगवान्की भक्तिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इन नौ प्रकारोंका विवेचन करनेवाले प्रभु स्वयं ही हैं. गीतामें आप आज्ञा करते हैं ''अनन्य भक्तिसे मैं मिल सकता हूं, भक्ति द्वारा ही मुझे जाना जाता है''. इस स्कन्धके २५वें अध्यायमें कहा गया है : ''दूसरे सभी अन्य उपायोंको छोड़कर सर्वव्यापक ऐसे मुझे अनन्य दृढ़ भक्तिसे जो भजता है वो मृत्युको पार पा जाता है''. इत्यादि वाक्योंसे मुख्य भक्तिसे प्रभु प्राप्त होते हैं, ऐसा स्वयं प्रभु जनाते हैं. अतएव भक्तिके सिद्धान्तका विवेचन करनेवाले आप प्रभु ही है.

(१८१) सगुणज्ञानदीपकः. सत्वादि गुणयुक्त ज्ञानको प्रकाशित करनेवाले अथवा गुणमय तत्त्वोंके ज्ञानको प्रकाशित करनेवाले.

सत्त्व, रज और तमोगुण ऐसे. सर्व प्रपंच-संसार सम्बन्धी ज्ञान उसको भी प्रकाशित प्रभु ही करते हैं. अंतरमें किसी प्रकारका ज्ञान प्रकट होना, ये परमात्माकी चमत्कारिक दिव्य शक्तिकी प्रेरणाके अतिरिक्त हो ही नहीं सकता. अतएव प्रंपचमय ज्ञान होनेमें भी प्रभुकी प्रेरणा ही अपेक्षित होती है. सबकी उस प्रकारकी अपेक्षाको पूर्ण करनेवाले परमात्मा ही हैं. सत्त्वादि तीन गुणोंसे तत्त्व प्रकट होता है. अतएव वैसे गुणमय तत्त्वज्ञानको दिखानेवाले-प्रकाशित करनेवाले भी आप ही हैं. क्योंकि इस स्कन्धके २६वें अध्यायमें ''अब मैं तुमको तत्त्वोंके अलग अलग लक्षण कहता हूं''. ऐसा कहकर आगे जाकर तत्त्वोंका प्रकाश आपने ही किया है.

आत्मप्रदः पूर्णकामो योगात्मा योगभावितः। जीवन्मुक्तिप्रदः श्रीमानन्यभक्तिप्रवर्तकः।

(१८२) आत्मप्रदः. स्वरूपको देनेवाले अथवा स्वस्वरूपका प्रकाश करनेवाले.

बारंबार शास्त्राभ्यास करनेमें आया हो और उसका ज्ञान भी मिला हो, परंतु स्वस्वरूपकी निज आत्मरूप भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति होनी तथा उसका प्रकाश होना, ये भगवदिच्छाके आधीन है. अतएव ऐसे शास्त्रका अभ्यासपूर्वक ज्ञानद्वारा स्व स्वरूपको देनेवाले और वैसे ही उसके ज्ञान द्वारा स्व स्वरूपका प्रकाश करनेवाले प्रभु ही हैं. भगवदनुग्रह प्राप्त होते ही आपके आनन्दमय स्वरूपका लाभ भी मिलता है.

(१८३) पूर्णकामः.

जिनकी कामनायें परिपूर्ण हैं अथवा जिनके संकल्प पूर्ण हैं अथवा जिनके

द्वारा भक्तजनोंकी सब कामनायें पूर्ण होती हैं.

प्रभु पूर्ण हैं अर्थात् आपके सर्वकाम सम्पूर्ण हैं. विचार करते ही प्रभुको सर्व प्राप्त हो जाता है. आपसे कोई भी वस्तु दूर नहीं है कारण कि आप ही तो सर्वरूप हुये हैं. जो सर्वरूप है उसको तो सर्व वस्तुयें समीप ही हैं. ऐसे सर्वरूप भगवान्‌की तो कामनायें भी क्या हो सकती हैं? क्या संकल्प हो सकते हैं? आप तो स्वयंमें ही सिद्ध संकल्प हैं, सर्वकाम हैं. उसी प्रकार निरपेक्ष भक्त तो केवल पूर्णकाम पुरुषोत्तमकी ही अभिलाषा करते हैं. भगवदीय जनोंको इस संसारमें दूसरी कोई कामनाकी अपेक्षा भी नहीं होती. इसी कारण भक्त भी निरपेक्ष पूर्ण कहे जाते हैं. ऐसे भगवदीयोंके निरपेक्ष होते हुये भी उनको सब आवश्यकताओंको प्रभु पूर्ण करते हैं. अतएव प्रभु पूर्ण काम हैं.

(१८४) योगात्मा.

योगरूप जिनकी आत्मा है अर्थात् योग-समाधिमें ध्यान करनेपर जिनकी प्राप्ति होती है ऐसे भगवान्.

भली प्रकारसे समाधिमें ध्यान धरनेपर ही प्रभुका स्वरूप हृदयारूढ़ होता है. जब तलक दृढ़ भक्तिपूर्वक आपका योग करनेमें नहीं आयेगा तब तलक भगवान्‌की प्राप्ति होनी दुर्लभ है अतएव आपको योगात्मा कहा गया है.

(१८५) योगभावितः.

अष्टांगयोग द्वारा जिनका चिन्तन हो सकता है अथवा जिन्होंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि इन आठ प्रकारके योगको प्रकट किया है, ऐसे भगवान्.

योगके आठ प्रकारोंसे परमात्माका चिंतन किया जाता है. क्योंकि प्रभु प्राप्तिकेलिये सर्व योगादि शास्त्रोंका आरंभ हैं. प्रभु प्राप्तिमें पूर्ण वैराग्य और चित्तकी स्थिरता ही मुख्य होती है. चित्तकी स्थिरता हुये बगैर पूर्ण वैराग्य होता नहीं है. और पूर्ण वैराग्य जब तक नहीं होगा तब तक भगवान्‌की प्राप्ति भी नहीं हो सकती. अतएव सर्वप्रथम चित्तशुद्धि मुख्य है. इसीकेलिये आपने योगशास्त्रकी रचना की है. अतएव यम, नियम इत्यादि करनेसे प्रभुका आराधन स्थिर चित्तसे सिद्ध हो सकता है और तभी प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है. अतएव आप योगके द्वारा जिनका चिंतन होता है वो परमात्मा हैं.

(१८६) जीवन्मुक्तिप्रदः. जीवनमुक्तिको देनेवाले.

जीवनशक्ति अर्थात् पूर्वकर्मोंके योगसे बंधा हुआ शरीर विद्यमान होते हुये भी सर्व कामनाओंसे मुक्त हो जाना, ऐसी उत्तम गतिको देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं. इस स्कन्धके २७वें अध्यायमें कपिल भगवान्‌ने अपनी माता देवहूतीको उपदेश दिया है : जिसको भी तत्त्वज्ञान हुआ है और जिसने मेरे विषयमें अपना मन योजित

किया है. ऐसे परमात्मपरायण भगवदीयोंको प्रकृति-माया पीड़ित नहीं कर सकती. अर्थात् वैसे भक्त संसारमें रहते हुये भी जीवनमुक्त हैं. ऐसी जीवनमुक्त दशा प्रदान करनेवाले आप श्रीकृष्णके अतिरिक्त और अन्य कौन हो सकता है? कोई भी नहीं. अतएव आप ही जीवनमुक्त दशा प्रदान करनेवाले प्रभु हैं.

(१८७) श्रीमान्. शोभासम्पन्न.

सर्व शोभाओं द्वारा सम्पन्न-परिपूर्ण तो आप ही हैं. इस स्कन्धके २८वें अध्यायमें बताया है ''भगवान्का मुख कमल आनन्दसे प्रफुल्ल है, नेत्र कमलकोशके समान रतनारे हैं''. यहां सर्व शोभाओंके धाम ऐसे भगवान्का ही वर्णन किया गया है अतएव आप श्रीमान् हैं.

(१८८) अन्यभक्तिप्रवर्तकः.

अन्य अर्थात् महदादितत्त्वोंको तथा भक्तिको प्रवृत्त करनेवाले अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंसे भी उत्तम भक्तिको समझानेवाले.

अन्य अर्थात् महदादि तत्त्वों जैसे कि महतत्त्व, पंचमहाभूत, ग्यारह इन्द्रियां, मन, शब्दादि पंचतन्मात्रायें और तीन गुण इत्यादि; वैसे ही भक्तियोगको जगतमें प्रसारण करनेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थोंसे भी उत्तम प्रकार आपने भक्तिको प्रदान किया है. इसी कारणसे भक्तजनोंको चतुर्विध मुक्तिकी बजाय तथा चतुर्विध पुरुषार्थोंकी बजाय भक्ति श्रेष्ठ लगती है. इस स्कंधके २९वें अध्यायमें आप आज्ञा करते हैं ''ऐसे निष्काम भक्त, दिये जानेपर भी, मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य (भगवान्के नित्यधाममें स्थान) सार्ष्टि(भगवान्के समान ऐश्वर्य भोग) सामीप्य (भगवान्की नित्य समीपता) सारूप्य(भगवान्का सा रूप) सायुज्य(भगवान्के विग्रहमें समा जाना) मोक्ष तक नहीं लेते''. अर्थात् भगवदीय सर्व वस्तुओंमें निरपेक्ष रहकर केवल मेरे सेवनमें ही निमग्न रहते हैं. कपिल रूप भगवान् भी चतुर्विध पुरुषार्थोंकी तुलनामें भक्तिको ही विशेष रीतिसे प्रतिपादन कर जगतमें उसका प्रकाश फैलानेवाले हैं.

कालसामर्थ्यदाता च कालदोषनिवारकः । गर्भोत्तमज्ञानदाता कर्ममार्गनियामकः ।।४५

(१८९) कालसामर्थ्यदाता. कालको सामर्थ्य देनेवाले अर्थात् बल देनेवाले.

अधियज्ञात्मकालको सामर्थ्य बल देनेवाले आप श्रीकृष्ण हैं. इस स्कन्धके २९वें अध्यायमें कह गया है ''जो जगतका शासन करनेवाले ब्रह्मादिका भी प्रभु भगवान् काल ही यज्ञोंका फल देनेवाला विष्णु है''. उसे ऐसा बल देनेवाले प्रभु स्वयं ही हैं. अतएव आप कालको सामर्थ्य देनेवाले कहे जाते हैं.

(१९०) कालदोषनिवारकः. कालसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका निवारण करनेवाले.

कालजनित अनेक दोष उत्पन्न होते हैं. खाते पीते कोई भी व्यापार करते समय जीवहिंसा इत्यादि अनेक दोष होने संभव हैं. वो सब काल दोष भगवानको उद्देशित करके सर्वव्यापार करनेसे दूर हो जाते हैं. जिनके सारे कर्म प्रभु प्रीत्यर्थ होते हैं उन्हें कभी भी कालके दोष नहीं लग सकते क्योंकि परमात्मा श्रीकृष्ण ही उनके दोषोंको दूर करनेवाले हैं.

(१९१) गर्भोत्तमज्ञानदाताः. गर्भमें उत्तम ज्ञान देनेवाले.

माताके उदरमें सातवें मासमें जीवको जो श्रेष्ठ ज्ञान उत्पन्न होता है. भगवद्भाव प्रकट होता है. वैसा ज्ञान गर्भमें देनेवाले स्वयं प्रभु ही हैं. सातवें महीनेमें ज्ञान उत्पन्न होनेके कारण माताके उदरमें जीव परमात्माकी स्तुति करता है और ध्यान धरता है. यह इस स्कंधके ३१वें अध्यायमें ''तस्योपसन्नमवितुं'' इस तेरहवें श्लोकसे लेकर 'तस्मादहं विगतविक्लवः'' इस बाईसवें श्लोक तक बताते हैं. वहां जीवको प्रभु द्वारा दिया गया ज्ञान स्पष्ट भासता है.

(१९२) कर्मनियामकः. कर्ममार्गके नियामक.

प्रारब्धकर्मोंके कारण जन्ममरण होता है. तो वैसे प्रारब्ध कर्मके आधीन जन्म मरण रूप मार्गका भगवान् नाश करते हैं. श्रुति भगवती आज्ञा करती है कि ''अपने अपने प्रारब्ध कर्मके कारण दुःख पाते जीव मृत्युको प्राप्त करके फिरसे जन्म मरण पाया करते हैं'' परन्तु प्रभुका सेवन करनेवाले जीवोंका प्रारब्ध कर्मके आधीन रही हुई जन्ममरण रूप प्रणालीको परमात्मा ही नाश करते हैं अर्थात् प्रभु अपना स्मरण करनेवाले भक्तजनोंके जन्ममरण दूर करके रक्षण करते हैं, ऐसा भगवज्जनोंके कर्ममार्गका नाश करनेवाले स्वयं प्रभु हैं और दूसरे भक्तिहीन सज्जनोंको तो जैसा जैसा प्रारब्ध कर्म होता है वैसा वैसा जन्ममरण देकर उनको योग्य फल देनेवाले भी आप श्रीकृष्ण ही हैं.

सर्वमार्ग निराकर्ता भक्तिमार्गैकपोषकः । सिद्धिहेतुः सर्वहेतुः सर्वाश्चर्यैकमारणम् ।।४६

(१९३) सर्वमार्गनिराकर्ता.

सर्वमार्गोंका तिरस्कार करनेवाले अर्थात् भगवद्धर्मके सिवाय अन्य सर्व धर्म गौण हैं ऐसे समझानेवाले श्रीभगवान्.

जिनसे भक्ति उत्पन्न नहीं होती हो वैसे सर्वमार्गोंका आप तिरस्कार करते हैं. इसकेलिये ही गीतामें आज्ञा करी है कि ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकंशरणं व्रज'' (सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा.) ऐसा कहकर आपकी भक्तिके ऊपर मुख्य प्रीति है ऐसा स्पष्ट दर्शाया है. यहां सर्वधर्म त्याग करनेका तात्पर्य उनपरसे अहंममत्व मोह इत्यादि दूर करके अपनी ही शरण प्राप्त करनेका सूचन करते

हैं. भगवद्धर्म सिवाय सर्व धर्म तुच्छ हैं, अतएव सर्वमार्गोंका तिरस्कार करनेवाले प्रभु ऐसा कहा गया है.

(१९४) भक्तिमार्गैकपोषकः. केवल भक्तिमार्गका ही पोषण करनेवाले.

उपर्युक्त नामसे जब भगवान् सर्व मार्गोंका तिरस्कार करते हैं ऐसा कहा, तब वहां शंका होती है कि तो फिर आप कौनसे मार्गका स्थापन एवं पोषण करनेवाले हैं? तो इस नाम द्वारा उस शंकाको दूर करते हैं. भगवान् सर्व मार्गोंको तुच्छ मानके केवल भक्तिमार्गका ही स्थापन करते हैं. इस स्कन्धके अध्याय ३२में अपनी माताको कपिलदेवजी उपदेश दे रहे हैं : ''इसलिये हे माता ! जिनके चरणकमल सदा भजने योग्य हैं, उन भगवान्का तुम उन्हींके गुणोंका आश्रय लेनेवाली भक्तिके द्वारा सब प्रकारसे भजन करो''. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भी अपनी चतुःश्लोकी ग्रंथमें आज्ञा करते हैं : ''सर्वदा सर्वभावोंसे व्रजाधिप ही भजनीय-सेवाके योग्य हैं. यह ही अपना विशेष धर्म है अन्य कदापि नहीं''. प्रभुका आशय समझके स्वयं श्रीमहाप्रभुजी भी भगवान्के सेवनको ही मुख्य धर्म वरदा रहे हैं. अतएव अपने प्रिय ऐसे भक्तिमार्गका ही केवल स्थापन करनेवाले आप प्रभु पूर्णपुरुषोत्तम हैं.

(१९५) सिद्धिहेतुः. सिद्धि- भगवान्की प्राप्ति होनेके हेतुरूप ऐसे कपिल भगवान्.

देवहूतीको उत्तम भक्तिमार्गका उपदेश करके भगवत्प्राप्ति करानेवाले कपिलदेव स्वरूपमें स्वयं भगवान् ही हैं. इस स्कन्धके ३३वें अध्यायमें आप आज्ञा करते हैं कि ''मेरे द्वारा कही गई बातोंको भली प्रकारसे जो सेवन करेगा वो इस मार्गको अनुसरनेके कारण थोड़े ही समयमें जीवनमुक्त हो जायेगा अर्थात् प्रभुकी प्राप्ति कर लेगा. इस प्रमाणसे माताको उपदेश करनेसे उनको प्रभुकी प्राप्ति हुई है. अतएव ऐसी सिद्धिके कारणभूत आप भगवान् ही हैं.

(१९६) सर्वहेतुः. सर्व हेतुओंके कारणरूप.

सर्व सिद्धियोंके स्वामी-अधिपति आप श्रीकृष्ण हैं. अर्थात् सबको अनेक प्रकारकी सिद्धियां प्रदान करनेवाले आप स्वयं प्रभु ही हैं. इसलिये आपको सर्व सिद्धियोंके कारणरूप कहा गया है.

(१९७) सर्वाश्चर्यैककारणम्.

सर्व आश्चर्योंके एकमात्र कारणरूप अर्थात् अद्भुत आश्चर्यकारक कार्योंको करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

परमात्मा ही सर्व विस्मयकारक वस्तुओंके हेतुरूप हैं, क्योंकि प्रभुने ही देवहूतीको प्रथम कर्दममुनि द्वारा अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएं देकर लौकिक विलासोंका सम्पादन किया है. फिर स्त्री जाति है तो भी उनके यहां कपिलरूपमें प्रकट

होकर ब्रह्मज्ञान और भक्ति स्थिर स्थापन करके वैराग्य उत्पन्न कराया; इत्यादि सर्वको अद्भुत लगे ऐसे कर्म करनेवाले स्वयं प्रभु ही हैं.

चेतनाऽचेतनपतिः समुद्रपरिपूजितः। सांख्याचार्यस्तुतः सिद्धपूजितः सर्वपूजितः॥४७

(१९८) चेतनाऽचेतनपतिः. चेतन और अचेतन दोनोंका पालन करनेवाले.

परमात्माका तो सबमें समान भाव है. उसकेलिये तो कोई विशेष नहीं हैं और न कोई न्यून है. अतएव चेतन अर्थात् सारे ज्ञाननिष्ठ मुनिजन और अचेतन अर्थात् अज्ञानी पामर मनुष्य इन सबको समभावसे पालन करनेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं.

(१९९) समुद्रपरिपूजितः. समुद्रने जिनका पूजन किया है ऐसे भगवान् कपिलदेव.

देवहूती माताको ज्ञान प्रदान करके उनकी आज्ञा लेकर जब कपिल भगवान् उत्तर दिशाकी ओर पधारे उस समयका वर्णन इस स्कन्धके ३३वें अध्यायमें कहा गया है ''समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः''(समुद्रने जिनका भली प्रकारसे अर्चन करके उत्तम निवास स्थान दिया है ऐसे कपिलदेव.) वहां समुद्रने पूजन किया है ऐसे स्पष्ट बताते हैं. अतएव समुद्र द्वारा पूजे गये कपिलरूप भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ही हैं.

(२००) सांख्याचार्यस्तुतः. सांख्यशास्त्रके आचार्यों द्वारा स्तुति किये गये भगवान्.

स्वयं सत्कर्मका आचरण करके दूसरोंको वैसा उपदेश करे उसको आचार्य कहते हैं. ऐसे सांख्य शास्त्रके आचार्य, तत्त्वज्ञानी महात्माओंने जिनकी स्तुति करी है ऐसे स्वयं श्रीकपिलदेव भगवान् ही हैं, अन्य नहीं. इस स्कन्धके ३३वें अध्यायमें ''सांख्याचार्यैरभिष्टुतः''(सांख्याचार्योंने जिनकी स्तुति करी है.) ऐसे कथन करनेमें आया है. इस हेतुसे ही तत्त्वज्ञानी महात्माओं द्वारा स्तुति करवानेवाले प्रभु ऐसा कहा गया है.

(२०१) सिद्धपूजितः. सिद्ध लोग जिनका पूजन करते हैं ऐसे भगवान्.

(२०२) सर्वपूजितः. सर्वजन जिनका पूजन करते हैं ऐसे भगवान्.

सिद्ध लोग देव इत्यादि मनुष्य मात्र जिनका यजन करते हैं–भजते हैं एक परमात्मा ही हैं. आपका ही ऐसा महान प्रभाव देखनेमें आता है कि जिनका सारा जगत वंदन करता है. ऐसा प्रताप प्रभु सिवाय अन्य किसमें हो सकता है? इस स्कन्धके ३३वें अध्यायके अंतमें कहा गया है ''सिद्धों, चारणों, गंधर्वों, मुनियों, अप्सराओं आदि सर्वके द्वारा स्तुति किये गये भगवान् कपिलदेव''. यहां सिद्धादि सर्व द्वारा पूजित, स्तुति करानेवाले भगवान् ऐसा कहा गया है. अतएव ये प्रभु सर्वपूजित हैं, ऐसा कहा गया है.

।। इति तृतीयस्कन्धनामानि।।

अध्याय १५

जय विजयको सनकादिका शाप

निरूप्यते पञ्चदशे क्रोधेन ज्ञाननाशनम्।
बीजे जीवप्रवेशार्थं भक्तशापोऽनुवर्ण्यते।।का.१।।

[1]पन्द्रहवें अध्यायमें क्रोधसे ज्ञाननाश होनेका वर्णन किया गया है और बीजमें जीवका प्रवेश हो तदर्थ भक्त शापका वर्णन किया गया है।।१।।

१.जैसे पूर्व(गत) अध्यायमें भगवान्का अवतार हो, इसलिए कर्मनाश हुआ वैसे इस अध्यायमें ज्ञानमार्ग नाश भगवदवतारार्थ होनेकी कथा है जैसे वहां(उस अध्यायमें) मुक्तजीवोंकी उत्पत्ति कारण दितिका काम था वैसे यहां(इस अध्यायमें) सनकादि एवं जय विजयके क्रोधसे ज्ञानमार्गका नाश कारण है इससे दोनों अध्याय एक कार्य पर हैं यह ही सङ्गति है.

इतिहासप्रवृत्त्यर्थं सङ्गतिश्चाऽपि रूप्यते।
ज्ञानमूलस्य सत्त्वस्य कार्यनाशकता पुनः।।का.२।।

[1]इतिहासकी प्रवृत्ति हो इसलिए संगति भी कहनेमें आती है. ज्ञानका मूल जो सत्त्व फिर कार्यका [2]नाश कर्ता होता है।।२।।

१.ब्रह्माका इतिहास इसलिए है कि जिससे इतिहासकी प्रवृत्ति हो अतः अब कहना है कि प्रयोजनरूप सङ्गति बनाता है, 'च' पदसे यह प्रकट किया है कि देवोंके वचन भी संगतिके कारण हैं.

२.ज्ञानके सत्त्वके कार्यका ज्ञान होने पर उस तत्त्वका फिर नाश होनेका निरूपण है. (प्रकाश)

वैकुण्ठे वृक्षपक्षीणां स्त्रीणां चापि न मत्सरः।
सर्वदोषविहीनत्वात्तत्र दोषो हरीच्छया
अतः सृष्टि प्रसिद्धयर्थं वैकुण्ठस्य च वर्णनम्।।३।।

वैकुण्ठमें वृक्ष, पक्षी और स्त्रियों में भी मत्सर नहीं है, क्योंकि वहां किसी प्रकारका दोष नहीं है, वहां कदाचित् दोष हो तो वह हरीच्छासे होता है।।३।।

अतः सृष्टिमें वैकुण्ठकी प्रसिद्धि हो इसिलिए इसका वर्णन(इससे वैकुण्ठके वर्णनका प्रयोजन कहा है) है.

१४वेंमें अध्यायमें दितिके गर्भाधान होनेकी कथा कही, जिसका अग्रिम वृत्तान्त निम्न श्लोकमें कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

प्राजापत्यं हि तत् तेजः परतेजोहनं दितिः।

दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात्।।१।।

मैत्रेयजी कहने लगे हे विदुरजी! दितिको आशंका थी कि मेरे पुत्र देवोंको कष्ट देंगे वा देव, मेरे पुत्रोंको दुःख देंगे इसलिए गर्भको एक वर्ष तक उदरमें ही धारणकर रखा, वह गर्भ साधारण नहीं था किन्तु अन्य तेजोंको मर्दन करनेवाला प्रजापतिका ब्रह्मतेजरूप वीर्यका था।।१।।

प्रजापति(कश्यप)का तेज बीजरूप था, वह ब्रह्मबीज, ब्राह्मणका बीज होनेसे अन्य(क्षत्रियादिकों)के तेजोको परास्त करनेवाला है 'हि' पद निश्चय वाचक है, जिसके कहनेका भावार्थ है कि, ब्रह्मतेजसे दूसरे तेज नाश किये जाते ही हैं, 'तत्' पदसे यह सूचित किया है कि उसका(तेज गर्भका) मारकपनका कारण उत्पत्तिमें कालादिके धर्म हैं.

दितिने वो गर्भ(तेज) एक सौ वर्ष मनुष्योंके वा देवोंके अपने उदरमें धारण किये इतने वर्ष धारण करनेसे ये गर्भमें ही शक्तिमान बन जायेंगे जिससे देव इनको मारनेमें असमर्थ होंगे और ये भी देवोंको वृथा मार सके, 'दिति' पदसे बताया है कि इसमें ऐसी स्वाभाविक सामर्थ्य है, उसको अपने स्वाभाविक सामर्थ्यका ध्यान होनेसे कोई भय नहीं था, ये पुत्र ब्राह्मणबीज हैं अतः देव इनको वृथा नहीं मार सकेंगे, यों समझने पर पतिके वचनोंसे मनमें शङ्का हुई इसलिए 'शङ्कमाना' पद दिया है.

इसके बाद गर्भमें बीजके दो भाग हुवे उनमें जय-विजयने प्रवेश किया यों ब्रह्मतेज और वैष्णवतेज मिलकर एक हो गये, तब उस मिलित एकीभूत तेजने सूर्यादिके तेजको सहन न करनेसे उसको अपने तेजसे दूरकर दिया।।१।।

लोके तेन हतालोके लोकपाला हतौजसः।

न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम्।।२।।

उस गर्भसे लोकके तेजका नाश हो जानेके कारण लोकपाल भी तेजहीन हो गये, तब लोकपालोंने ब्रह्माके पास जाकर उनको कहाकि चारों तरफ अन्धकार हो जानेसे लोकमें अव्यवस्था हो गयी है।।२।।

अनन्तर उस बीजसे लोकके तेजका नाश होनेसे, लोकपाल भी कालाधीन होनेसे, कालका तेज नष्ट हो जानेसे खुद भी तेज हीन हो गये, वे

इन्द्रादिक भी बलके कार्यरूप हैं, अतः उनका भी तेज नष्ट हो गया तब बल और प्रकाश दोनोंके नाश होनेसे उनका कारण जाननेकेलिए वे लोकपाल ब्रह्मलोकमें गये अथवा सुमेरुके शिखर पर गये, वहां जाकर ब्रह्माको अपना वृत्तान्त सुनाया, अपना तेज नष्ट हो गया है यों प्रतिष्ठा लोप होनेके भयसे नहीं कह सुनाया, किन्तु लोकमें सर्वत्र दिशाओंमें अन्धकार फैल जानेसे अज्ञान छा गया है, इस परोक्ष प्रकारसे अपनी दशा सुना दी।।२।।

इस विषयमें मूल तम(अन्धकार–अज्ञान) ही है, जिसका कारण निम्न श्लोकमें ब्रह्मासे पूछते हैं:

देवा ऊचुः

तम एतद् विभो! वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम्।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनाऽस्पृष्टवर्त्मनः।।३।।

हे समर्थ! काल, आपकी ज्ञानशक्तिको कुण्ठित नहीं कर सकता है. अतः आपसे कुछ भी छिपा नहीं है, जिस अन्धकारसे हम डर रहे हैं उसको आप जानते ही हैं।।३।।

देवा भीता ब्रह्मणैव क्रियते दैत्यवर्द्धनम्।
अतो देवविनाशः स्यादिति तेनैव मीरणम्।।का.१।।

ब्रह्मा ही दैत्योंकी वृद्धिकर रहे हैं, इस वृद्धिसे देवोंका नाश होगा, जिससे देव भयभीत हो ब्रह्माकी इस प्रकार प्रार्थना करते हैं।।१।।

ज्ञानं समर्पितं तस्य स्वदोषाभाव एव च।
विद्यमानेऽपि तच्छान्तिस्तस्य भक्तकृपा तथा।।का.२।।

ब्रह्माको इस विषयके ज्ञान होनेका समर्थन करते हैं तथा अपनेमें(देवोंमें) कोई दोष नहीं है यों बताते हैं, यदि दोष हो तो भी उसकी शान्तिकेलिये इच्छा करते हैं, आपकी भक्तों पर वैसी कृपा है।।२।।

भक्तानामभयं तस्मात्सेवकाश्च वयं भृशम्।
अतोऽस्मासु कृपा कार्या दैत्योत्पत्तिर्हि जायते।
एवमष्टविधं वाक्यं ब्रह्माणं प्रति दैविकम्।।का. ३।।

जिससे(कृपासे) भक्त निर्भय हैं, हम आपके पूर्ण भक्त हैं इसलिए हम पर कृपा करनी चाहिए, कारणकि दैत्य उत्पन्न हो रहे हैं, इसी तरह देवोंने ब्रह्माको आठ प्रकारके वाक्य कहे।।३।।

इनमेंसे प्रथम ब्रह्मा महान् हैं इनसे कैसे पूछा जाय? ऐसी अपनी पूछनेमें अशक्ति जानकर ब्रह्माको इस अन्धकारके ज्ञान होनेकी सम्भावना इस श्लोकमें प्रकट करते हैं.

हे विभो! सकल ज्ञान होनेमें समर्थ! इस अन्धकारको सर्वथा आप जानते ही हैं, यों कहनेका आशय है कि हमको वह बताइये कारणकि हम इस अन्धकारमें बहुत दुःखी हो गये हैं, क्योंकि इससे हमारा तेज नष्ट हो गया है आपमें तो अज्ञानकी सम्भावना नहीं है क्योंकि भगवान्का जो अव्यक्तरूप है वह आपमें नहीं है. जिस कारणसे भगवान् वासुदेवके गुणावतारसे एवं आपसे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है एवं आपसे छिपा होनेका कोई कारण भी नहीं है, जो काल सबको अव्यक्तमें डाल देता है वह काल आपके मार्गको छू भी नहीं सकता है वैसे आप हैं।।३।।

यों उनके ज्ञानका समर्थनकर, अपनेमें दोषाभावका निरूपण करते हुए ब्रह्मा समस्तोंके हृदयके अभिप्रायको जानते हैं, वह इस श्लोकमें कहते हैं:

देवदेव! जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे।
परेषामपरेषां च भूतानामसि भाववित्।।४।।

हे देवाधिदेव! आप जगत्की रचना करनेवालों और सकल लोकपालों के शिखामणि हैं, आप छोटे-मोटे सर्व प्रकारके जीवोंका भाव जानते हैं।।४।।

हे देवदेव! सम्बोधन देकर देवोंने यह भाव प्रकट किया है कि दूसरोंके आप पूज्य(बड़े) नहीं होनेसे उनके हृदयोंमें आप प्रविष्ट नहीं हुवे जिससे कदाचित् उनके भावोंको न भी जानते हो किन्तु हम तो देव हैं अतः हमारे तो आप ही उपास्य होनेसे पूज्य एवं बड़े हैं, अतः हमारे हृदयोंमें तो प्रविष्ट ही हैं अतः हमारे भावोंको तो जानते ही हो. किञ्च हमको शुद्धसत्त्वसे उत्पन्न करनेसे निष्कपटी ही बनाया है इससे भी हमारे भावोंको जानते ही हो इसलिए ही दूसरा सम्बोधन 'जगद्धातः' दिया है जगतीके रचयिता आप ही हैं एवं धारण करनेवाले भी आप ही हैं, यों होनेसे भी आपको हृदयका ज्ञान होना उचित ही है, किञ्च स्वामी ही सेवकके हृदयको जानता है, आप तो सकल लोकोंके नाथ इन्द्रादिकोंके शिखामणि हैं, लोकनाथ अपने लोकके अभिप्रायको जानते हैं आप तो उनके भी अभिप्रायोंको जानते हो, क्योंकि आप उनके शिखामणि हैं जिससे उनके प्रकाशक तथा कर्मके साक्षी होकर रहते हो अतः प्रभुत्वसे, जनकपनसे तथा प्रकाशक

होनेसे एवं हमसे उत्कृष्ट व जो हीन हैं उनका भाव भी जानते हो. 'च'पद देकर यह सूचित किया है कि देवोंका तथा सब भूतोंके भावोंको आप जाननेवाले हैं, अतः हमारे भाव आपसे छिपे हुए नहीं है, अथवा आप सबके भावोंको जानते हैं यह हमसे छिपा हुआ नहीं है।।४।।

इस तरह अपनेमें दोषाभाव कहकर, यदि दोष हो तो क्षमायाचना करते हुए इस श्लोकमें प्रणाम करते हैं:

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदम् उपेयुषे।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये।।५।।

ब्रह्मानुभवरूप वीर्यवाले सृष्टिकी साधनरूप मायाशक्तिसे शरीर धारण करनेवाले, गुणोंके द्वारा भेद दिखानेवाले, अक्षरकी योनिरूप आपको हम नमस्कार करते हैं।।५।।

भगवान् नमस्कार करने योग्य हैं, कारणकि सर्वके स्वामी हैं और गुरु हैं. (और) उसके मार्गका उपदेश करनेसे गौण भी हैं मैं तो न स्वामी हूं तथा न गुरु होनेसे उसके मार्गका उपदेष्टा हूं अतः नमन योग्य नहीं हूं यदि यों कहो तो इसका उत्तर है कि आप ब्रह्मानुभवरूप पराक्रमवाले हैं, लोकमें लौकिक ज्ञानवाली लौकिकी क्रिया सबके पराक्रमका कारण होती है उससे भी किन्हीं ऋषियोंके पराक्रमका कारण वैदिकी क्रिया होती है, उससे भी विशेष ब्रह्मवेत्ताओंका तेज, जो सर्वज्ञाता लक्षणवाला पराक्रम ज्ञानसे सिद्ध होता है, उसमें ब्रह्मा साक्षात्कार रूप विज्ञानसे जो बल होता है वह बल भगवान्का ही होता है वैसा बल आपमें भी है जिसका ज्ञान, आप स्वेच्छासे सृष्टि करते हैं उससे होता है, अतः भगवत्स्वरूपका ज्ञान आपको है इससे एवं गुरु होनेसे आपको नमस्कार करना उचित है.

यदि कहो कि इस प्रकारका ज्ञान होता तो भगवत्सायुज्य हो जाता, इस प्रकारका अधिकार क्यों प्राप्त होता? इस शङ्काको मिटानेकेलिए कहते हैं कि यह चतुर्मुखवाला शरीर मायासे आपने धारण किया है, क्योंकि यह माया सृष्टि रचनेका कारण(साधन) है उस साधनकी सार्थकताकेलिए कर्ताकी अपेक्षा होने पर सेवक होते हुए स्वामी कार्य करे यह अनुचित है, भगवत्समानता होनेसे आपने इस जगत्को उस साधनरूप मायासे ही बनाया है जब जगत्का व्यापार जो भोगादि है वे मुक्तोंमें भी नहीं होते हैं तो आपमें कैसे होंगें?

जीवोंमें कर्तापन नहीं है, कर्तापन भगवान्में है यह दो प्रकारकी स्थिति

सायुज्यसे पहले होती है, कर्तापनमें जब भगवत्त्व है तब शरीरकी अपेक्षा नहीं, यदि कर्तापनमें जीवत्व है तो शरीर धारण करने पर भी भेदको नहीं कर सकता, इस शङ्काके समाधानार्थ कहते हैं कि 'गृहीतगुणभेदाय' गुणोंसे भेद ग्रहण किया है ऐसे ब्रह्मा हैं. ब्रह्माका भगवान्से भेद वास्तविक नहीं है किन्तु गुणोंके कारण है अतः जगत्की रचनामें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं है, गुणोंने ही भेदरूप भगवान्(ब्रह्मा)को चिद्रूप बना दिया है अतः गुणोंका किया हुआ भेद विद्यमान होनेसे गुणानुसार देह धारणकर जगत्को बनाना योग्य ही है.

गीतामें ''**अव्यक्तादीनि भूतानि**'' श्लोकमें कहा है कि भूतोंका आदि अक्षर है, इस वाक्यानुसार भगवान् अलौकिक कर्त्ता होनेसे कार्य सिद्ध हो जाता है फिर ब्रह्माको कर्ता बनानेकी क्या आवश्यकता है? इस शङ्काको मिटानेकेलिए कहते हैं 'नमस्ते अव्यक्तयोनये' आप अव्यक्त(अक्षर)की योनि(क्षेत्र) हैं अर्थात् अव्यक्त(अक्षर) इस जगत्को ब्रह्मामें स्थितकर स्वयं(आप) पिताके समान निवृत्त हो जाते हैं, इस प्रकारसे ब्रह्मा रजोगुणरूप हैं जैसे माता-पिताके सम्बन्ध द्वारा सन्तानकी उत्पत्ति होती है वैसे ही अक्षर एवं ब्रह्माके सम्बन्धसे इस जगत्की उत्पत्ति होती है तात्पर्य यह है कि बीजदाता पितावत् अक्षर है अतः वह जनक है, ब्रह्मा माता होनेसे बीज धारणकर जगत् उत्पन्न करते हैं अतः जगत्की माता होनेसे आपको नमस्कार है।।५।।

इस तरह नमन द्वारा अपराधकी क्षमा कराके इस श्लोकमें उनका भक्त कृपालुपन सिद्ध करते हैं:

ये त्वानन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम्।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम्।।६।।

आप जीवोंकी देहोंको उत्पन्न करनेवाले हैं. आपमें सम्पूर्ण भुवन स्थित हैं. सत् पदार्थोंको असत् करनेवाले भी आप हैं, इसी तरह सर्वभावसे चिन्तन कृपाका कारण है।।६।।

कृपाकी सफलता प्रतिपादन करनेवाले वाक्यकी इस श्लोकमें पूर्णता नहीं हुई है, अतः इस श्लोकमें केवल यही कहेंगे कि कृपासे ही भक्तोंको अभय प्राप्त होता है अर्थात् अभयका कारण कृपा ही है जो भक्त आपको सर्वभावसे जो हृदयमें धारण करते हैं उन पर आपकी कृपा होती है जिससे उनका किसीसे भी पराभव नहीं होता है.

अनन्यभाव(सर्वभाव) तो भगवान्में ही होता है, दूसरेमें कैसे कहते हो? अतः ब्रह्मामें अनन्यभावके चार कारण कहते है 'आत्मभावनं' १.अपने चिन्तक के देहादि स्वरूपको उत्पन्न करनेवाले हैं इससे ब्रह्माके कर्तापनका प्रतिपादन किया है, २.अपनेमें भुवनको स्थिनकर रखा है, इससे ब्रह्माको जगत्का समवायी कारण कहा है, ३.जगत्का नियन्ता एवं स्थितिमें सर्वकी प्रवृत्ति करानेवाले भी आप(ब्रह्मा) हैं, ४.प्रलय करनेवाले भी आप हैं अथवा भावात्मक होनेसे प्रलयकर्ता हो, जगत्की सर्वदा स्थिति नहीं है, जगत् आत्मरूप होते हुए भी प्राप्त और अप्राप्त विचार करनेसे जगत् असत् स्वरूप ही माना जाता है.

अपने जो भी हैं उन सबकी उत्पत्ति आदि करनेसे वे सब आपके ही आधीन होनेसे ब्रह्माका भी सर्वभावसे चिन्तन करना बन सकता है, यों सर्वभावसे चिन्तन ही कृपाका कारण है।।६।।

यों कारणके निरूपणसे कृपाका निरूपणकर इससे अभयकी प्राप्ति होती है जिसका निरूपण इस श्लोकमें करते हैं:

तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मना।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित् पराभवः।।७।।

सर्वभावसे आपके चिन्तन करनेसे जिन्होने आपकी कृपा सम्पादन की है, जिससे प्राण, इन्द्रिय और मनको जीत लिया है उन परिपक्व योगवाले सिद्ध योगियोंका किसीसे भी पराभव(ह्रास) नहीं होता है।।७।।

'सुपक्वयोगानां' विशेषणसे कृपासे अभय प्राप्तिमें अवान्तर व्यापार (मध्यकी क्रिया) कहा है, वह मुख्य आत्मरूप(आसन्य मुख्य प्राणात्मक) होनेसे योग द्वारा सर्व सिद्धियोंका हेतु(कारण) है यों न होवे तो भगवान्की तरह उनको भी स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाए. अच्छे प्रकारसे जिनका योग परिपक्व हो गया है, अच्छी तरह पका हुआ योग ही सर्वत्र उपयोगी होता है, योगके पक्व होनेमें हेतु कहते हुए दूसरी क्रिया 'जितश्वासेन्द्रियात्मनां' पदसे कहा है कि प्राण, इन्द्रिय, और अन्तःकरण जिन्होंने जीत लिया है. ब्रह्मसम्बन्धी पदार्थ इन्द्रियतीत होनेसे इन्द्रियोंसे उनका स्पर्श नहीं होता है अतः श्वासादि जीत लेना साक्षात् प्रीतिका कारण है.

ब्रह्माके भीतर वेद विराजमान है, वे ज्ञानके हेतु होनेसे कारणसहित योग मध्यकी क्रिया है इससे अनेक क्रियाएं नहीं हैं इस कारणसे ही जिन्होंने आपकी

कृपा प्राप्तकर ली है, उनका पराभव काल आदि भी नहीं कर सकते हैं।।७।।

ब्रह्मा भक्तों पर सफल कृपा करते हैं यों कहकर, और उनका कृपालुपन निरूपणकर अब इस श्लोकमें अपने पर कृपा करें ऐसी प्रार्थनासे पहले अपना सेवकपन बताते हैं:

यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नमः।।८।।

रस्सीसे बंधे हुवे बैलोंके समान जिनकी(आप ब्रह्माकी) वेदवाणीके वश होकर समग्र प्रजा आपकी अधीनतामें रहकर नियमित बलि समर्पणकर रही है उन आपको जो सबके नियन्ता मुख्य प्राण हैं, हम प्रणाम करते हैं।।८।।

जिन(ब्रह्मा)की वेदरूप वाणीसे सारी प्रजा जो कन्याके समान असमर्थ है वह सेवक होते हुए भी कर्म करनेमें इस तरह बंधी हुई है जैसे रस्सीमें बैल बंधे हुए होते हैं, ब्रह्माकी वाणी दो प्रकारकी होती है १.तदरूप(वैदिक) और २.लोकरूप (लौकिक) इस कारणसे जिनका वेद भी नियन्त्रण नहीं करता है उनका लौकिकसे नियन्त्रण करते हो, इससे ही(ब्रह्माके नियन्त्रण)में (आधीनतामें होनेसे ही) प्रजाका सेवकत्व निरूपण किया है, सकल प्राणी फल प्राप्तिकेलिए ही कर्म करते हैं, अधिष्ठाता देवता द्वारा फल प्राप्त हो जाने पर उस फलमें जो भाग साररूप हैं उसको उनके द्वारा ही अपनेलिए ब्रह्मा अलग कराकर शेष असारभाग कर्म करनेवालोंको देते हैं.

इस प्रकार सर्व कर्मोंका जो मुख्य फल सृष्टि, भगवदाताज्ञा अथवा सुख वह ब्रह्माको प्राप्त होता है, धर्म तपस्या आदिसे भीतर रहा हुआ मल-मूत्रादि जो पृथक् नहीं हो सकते हैं उनसे ही रमण व्यवहार जीवोंको देते हैं इसको ही फलका असारभाग कहा है, यों(यह असार है) जानकर भी वैसा ही करना(कर्म करते रहना) जिसको नियन्त्रण(आधीनता) कहते है इसी कारणसे ही अधम बैलोंका दृष्टान्त दिया है, यों जानते हुए भी वे कर्म करनेमें दृढ़ विचार करनेवाले हैं, ऐसी स्थितिमें जबकि सर्वदा जो कार्य करते रहे तथा असारका भी भक्षण करे उन पर कृपा करनी उचित है फिर बैलोंसे भी ये उत्तम हैं, जो आसारभूत भी आपको बलिरूपसे देते हैं, यदि यों न करें तो मध्यमें मार डाले अतः आप मुख्य हैं, प्रवर्तक होते हुए भी प्रजाओंमें श्रेष्ठ हैं, यों कहनेसे ब्रह्माका भी एक तरह उपहास ही किया है ब्रह्माको मुख्य कहनेके कारण कहते हैं कि एक आसन्यरूप, प्राण होनेसे मुख्य

है, और दूसरे बलिदानके साक्षी हैं कि बलि नित्य नियमसे मिलती है, पूर्णरीतिसे इस विषयमें(बलिकी साक्षीमें) सावधान हैं इससे बलि कब मिलती है और कब नहीं मिलती है इस शङ्काको मिटा दिया।।८।।

इस तरह अपना सेवकपन सिद्ध करो अब इस श्लोकमें कृपाकेलिए प्रार्थना करते हैं:

स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा लुप्तकर्मणाम्।
अदभ्रदयया दृष्टया आपन्नान् अर्हसीक्षितुम्।।९।।

हे भूमन्! अन्धकारके कारण समयका ज्ञान न होनेसे लोकोंके सर्व कर्म लुप्त हो गये हैं जिससे हम दुःखी हो आपकी शरण आये हैं, अतः अत्यन्त दयाकी दृष्टिसे हमको देखना चाहिये एवं हमारा कल्याण कीजिये।।९।।

हे भूमन्! हे अधिक! हम पर कृपा करोगे तो भी आपकी कोई हानि न होगी इस कारणसे(हानि न होनेसे) हमारा कृपया कल्याण कीजिये(करो). यदि कहो कि दूसरा कल्याण नहीं करता है, तो इस पर हमारी यह प्रार्थना है कि अन्धकारसे सर्व प्रकारके कर्म लुप्त हो जानेसे कर्मरहित लोकोंके सम्बन्धित हम आपद्ग्रस्त दु:खी हो आपकी शरण आये हैं, उन पर विशेष दयामयी दृष्टिसे दुःखियोंको देखिये, कृपापूर्वक देखे बिना शरणागतोंमें विद्यमान दैन्य भी प्रकटमें दीखता नहीं है, अतः कृपा दृष्टिसे, हम दुःखी दोनोंको देखिये. यों कहनेका गूढ़ आशय है. साधारण लोकोंको भी दीनोंको देख दया उत्पन्न होती है, परन्तु वह निष्फल है. वैसे दया आपकी न हो अतः 'अदभ्र' विशेषण देकर अपने मनका भाव प्रकट किया है कि साधारण दया न कर विशेष महती दया कीजिये. आप कृपालु तो हैं ही।।९।।

किस कारणकेलिए कृपा की जाय वह कारण इस श्लोकमें बताते हैं कि दैत्य उत्पन्न हो रहे हैं उनसे अभय होनेकेलिए कृपा कीजिए:

एष देव ! दितेर्गर्भः ओजः काश्यपम् अर्पितम्।
दिशस्तिमिरयन् सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि।।१०।।

हे देव! अग्नि काष्टमें पड़कर जैसे बढ़ती रहती है वैसे ही दितिमें स्थापित कश्यपजीका वीर्य गर्भरूपमें बढ़कर समस्त दिशाओंको अन्धकारमय बना रहा है।।१०।।

दितिका यह गर्भ कश्यपजीके वीर्यसे स्थापित हुआ वह दश दिशाओंको

अन्धकारमय बनाते हुए यों बढ़ रहा है ज्यों शुष्क-काष्ठ (सूखी हुई लकड़ी) पर पड़ी हुई आग बढती है, यह गर्भ दितिका होनेसे स्वभावसे क्रूर होगा, फिर कश्यपजीका बीज होनेसे भी तेजोरूप है. कश्यपजीने ही दितिको इस तेजके धारणका योग्य स्थान समझ इसमें अर्पण किया है, अतः इसका कोई प्रतिकार नहीं है।।१०।।

इस तरह बहुत डरे हुए देवोंके वचन सुनकर, इसका कारण तो हास्यमय है जिसका स्मरणकर समझा कि वह कहनेके योग्य नहीं है, और गर्भ तथा बीजका तो ज्ञात है ही अतः इसके सिवाय अन्य कारण है वह कहनेकेलिए ब्रह्मा कथाका प्रारम्भ करते हैं, यों मैत्रेयजी निम्न श्लोकमें बताते हैं:

मैत्रेयः उवाच

संप्रहस्य महाबाहो! भगवान् शब्दगोचरः।
प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा।।११।।

मैत्रेयजी कहते हैं हे महाबाहो! वेदसे जिनका ज्ञान होता है, जो स्वयम्भू है ऐसे भगवान् ब्रह्मा जोरसे हंसकर सुन्दर वाणीसे देवोंको प्रसन्न करते हुवे कहने लगे।।११।।

विदुरजीको 'महाबाहो' सम्बोधनसे यह सूचना दी कि तुम शूरवीर हो अतः तुमको किसी बातसे भय नहीं करना चाहिए, 'भगवान्' पदसे यह भाव बताया है कि उसका ज्ञान आपको(ब्रह्माको) है और इससे यह भी सूचित किया कि आप(ब्रह्मा) प्रतिकार करनेमें भी समर्थ हैं आपके(ब्रह्माके) स्वरूपका ज्ञान वेदसे ही होता है, इसलिए आप अलौकिक हैं इससे यह बताया है कि आधिदैविक ब्रह्मा, उस स्वरूपमें प्रविष्ट हो उत्तर देते हैं आधिदैविकके सिवाय दूसरोंको भगवान्के सेवकोंका अपकर्ष तुच्छपन(हलकापन) कहना उचित नहीं वा दूसरे कह नहीं सकते, 'प्रत्याचष्ट'का तात्पर्य है उत्तर दिया इसपरसे ब्रह्माने कुछ किया है(दैत्योंकी वृद्धि ब्रह्माकर) रहे है यह शङ्का मिटाई है, भगवान् (ब्रह्मा) इसका उपाय करेंगे यह "**भगवान् तद् विधित्सति**" **श्लो**कमें आगे कहेंगे.

ब्रह्मा स्वयम्भू होनेसे यदि यों कहे, तो इसमें कोई अपराध(दोष) नहीं है, '**मानसाः**' इस निम्न १२ श्लोकमें दूसरे प्रकारकी सुन्दर वाणीसे जैसे उनको आनन्द हो यों प्रेम उत्पन्न करते हुए कहने लगे।।११।।

सनकादिके शापसे दितिके गर्भमें आये हुए तेजरहित जय विजयके तेजसे

यह दशा(अन्धकारादि) हुई है, यह वृत्तान्त ब्रह्माजी 'मानसाः' श्लोकमें दो अध्यायोंमें वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं, सनकादिकोंका स्वभाव ही भ्रमण करना है, प्रसंगसे वे वैकुण्ठ आये जय-विजयको उद्धता(ढिटाई)के कारण शाप दिया.

ब्रह्मोवाच

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः।
चेरुर्विहायसा लोकान् लोकेषु विगतस्पृहाः।।१२।।

ब्रह्माने कहा कि, तुमसे पहले उत्पन्न हुऐ मेरे मानस पुत्र सनकादि, लोकासक्तिको त्यागकर सकल लोकोंमें आकाश मार्गसे भ्रमण करते थे।।१२।।

'मानसाः' पदसे यह सूचित किया है कि भगवान्ने जो मनमें विचारा वही वे करते थे 'मत्सुता' शब्दसे सृष्टिका हेतुपन कहा है, 'युष्मत् पूर्वजाः' पदसे देवोंको यह स्पष्ट समझाया है कि ये तुमसे पहले जन्मे हैं इसीलिए इनके स्वरूपादिका तुमको ज्ञान नहीं है, देव इनसे पीछे उत्पन्न हुए हैं किन्तु कश्यपजीसे उत्पन्न नहीं हुए हैं अतः पूर्वजका अर्थ बड़े भाई नहीं समझना चाहिए, अर्थात् सनकादि देवोंके बड़े भाई नहीं है.

उस कल्पमें मन द्वारा ही सृष्टि होती थी मैथुन द्वारा नहीं, देव शुद्ध सतोगुणी हैं और पहले उत्पन्न हुए सनकादि निर्गुण हैं इससे यह कहा है कि इसमें मेरा(ब्रह्माका) दोष नहीं है, क्योंकि मैंने तो सनकादिको गुणातीत बनाया था किन्तु फिर भी उनको क्रोध हुआ जिससे शाप दे दिया, जैसे वे मेरे पुत्र हैं वैसे आपके भी बड़े हैं, सनकादि तपोरूप हैं अतः उनके दिये हुए शापका प्रतिकार हो नहीं सकता है. 'विहायसा' जानेका तरीका बताया है अर्थात् आकाशमार्गसे भ्रमण करते हैं. पृथ्वी पर पैरोंसे नहीं विचरते हैं, जिससे सूचित किया है कि इस प्रकार भ्रमण करनेसे सामर्थ्यमें किसी प्रकारका प्रतिरोध(रुकावट) नहीं होता है तथा श्रम भी नहीं होता है, सकल लोकोंमें भ्रमण करते थे किन्तु वहांसे कुछ भी लानेकी इच्छा नहीं रखते थे वे निःस्पृह होकर सर्वत्र जाते थे, किन्तु सबका उद्धार करनेकेलिए लोक वा अलोकोंमें घूमते थे, 'लोकान्' शब्दमें द्वितिया विभक्ति देकर सूचित किया है कि अत्यन्त संयोग दशा है, दूसरीबार 'लोक' शब्द देनेका आशय(भाव) यह है कि मनुष्योंमें किसी प्रकारका प्रयोजन नहीं है. उनका भ्रमण नित्य होता है इसलिए भुवन ही कर्म है न कि मनुष्य कर्म है।।१२।।

उन(सनकादि)का प्रसङ्गवश वैकुण्ठमें जाना हुआ, उसका निम्न

श्लोकमें वर्णन करते हैं:

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम्।।१३।।

एक दिन वे(सनकादि) मलरहित स्वरूपवाले भगवान् वैकुण्ठ(विष्णु)के सकल लोकोंसे नमस्कृत वैकुण्ठ धाममें गये।।१३।।

'भगवतो वैकुण्ठस्य' पद कहनेका भावार्थ है साक्षात् पुराण पुरुषोत्तमका अवतारूप 'वैकुण्ठ' उस नामसे बना हुआ लोक भी 'वैकुण्ठ' कहनेमें आता है, वह लोक स्त्रीकी प्रार्थनासे बनानेके कारण वह लोक कामवाला होगा? इस शङ्काके मिटानेकेलिए 'अमलात्मनः' विशेषण दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वह लोक कामवाला नही है क्योंकि वहां मलरहित(कामादि मलरहित) शुद्ध आत्माएं रहती हैं, जैसे सत्यादि लोकोंमें अविद्यावाले(काम, क्रोधादि, दोषवाले) रहते हैं वैसे वहां नहीं रहते हैं. 'वैकुण्ठनिलय' वैकुण्ठधाम पदसे यह सूचित किया है कि यह धाम होनेसे नित्य है यदि कृत्रिम भी हो तो भी इसमें व्यापि वैकुण्ठके प्रवेश करनेसे इस वैकुण्ठकी मुख्यता ही सिद्ध है, यो कहनेका सारांश है कि यह वैकुण्ठ नित्य और कृत्रिम दोनों प्रकारका है, इसलिए 'पुनर्लोकाय कल्पताम्' पदसे फिर सायुज्य प्राप्ति होनेमें विरोध नहीं है, और ''**चैद्ये च सात्वतपतेः चरणं प्रविष्टे**'' शिशुपालने भगवान्के चरणमें प्रवेश किया, इसका भी विरोध नहीं है, 'प्रत्येष्यताम्' फिर लौटकर आओगे इसका भी विरोध नहीं है ''**वैकुण्ठः कल्पितो येन**'' इस वाक्यानुसार वैकुण्ठका कृत्रिमत्व कहा है तथा सनकादिके गमनसे और वह साधारण लोकसम होनेसे भी कृत्रिम सिद्ध होता है, इस कारणसे ही वहां सनकादिको क्रोध उत्पन्न हुआ अथवा कृत्रिममें स्वाभाविक सत्य वैकुण्ठका आवेश हुआ है अथवा(वैकुण्ठ) लोकका अवतार है, 'वैकुण्ठनिलयं' पद पुनः कहनेसे सूचित किया है कि सब(मनुष्य देवादि) वहां नहीं जा सकते हैं इसलिए ही 'सर्वलोक नमस्कृतम्' विशेषण दिया है सर्वको यह लोक नमस्कार करने योग्य है अथवा सर्वभुवनोंसे उत्तम है. अन्य लोकोंमें रहने ाले लोकोको दुःख देते हैं किन्तु वैकुण्ठमें रहनेवाले किसीका भी उपद्रव नहीं करते हैं अतः सर्वलोक इसको प्रणाम करते हैं।।१३।।

चित्, आनन्द और सत्के भेदसे सामान्यरूपसे इस लोकका वर्णन करते हैं जिसमें पहले इस श्लोकमें कहते हैं कि वहां रहनेवाले 'जीव' आनन्दरूप हैं, यों

स्वरूपका उत्कर्ष कहते हैं:

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकृण्ठमूर्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्।।१४।।

वहां वैकुण्ठ(भगवान्) जैसे स्वरूपवाले सकल लोक निष्काम हो, स्वधर्मसे(शरणागतिसे) हरिकी आराधना करते रहते हैं।।१४।।

वैकुण्ठमें केवल पुरुष ही रहते हैं क्योंकि स्त्रियोंको सारूप्य मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु वैष्णवोंकी पतिव्रता स्त्रियां पतियोंके साथ ही जाती हैं वहां रहकर गुणगान करती हैं यों आगे कहेंगे. 'सर्वे' शब्दसे यह सूचित किया है कि सारूप्य मुक्ति प्राक्तिकेलिए वर्ण उपयोगी नहीं है केवल भगवत्स्मरणादि ही प्रयोजक है. सारूप्य मुक्तिवालोंका शरीर आनन्दाकार व आनन्द ही होता है. तो भी जीवोंका आनन्द भगवत्सम आनन्द न होनेसे भगवत्के समान नहीं है, उसमें हेतु कहते हैं कि, जो भगवदीय निष्काम धर्मसे हरिकी आराधना करते हैं अर्थात् लौकिक समस्त कामनाओंका त्यागकर अपने श्रवण शरणागति आदि धर्मसे भगवान्की आराधनासे प्रसन्नता प्राप्त करते हैं वे ही वहां रहते हैं।।१४।।

यों जीवोंकी उत्तमता बताकर निम्न श्लोकमें भगवान्का उत्कर्ष कहते हैं:

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः।।१५।।

जो स्वरूप वेदसे ही जाना जाता है, वे आद्यपुरुष भगवान् शुद्धसत्त्वको धारणकर अपने भक्तोंको आनन्द देते हुए वहां(वैकुण्ठमें) विराजते हैं।।१५।।

जहां आनन्दमय भगवान् सदंशके मुख्य भावरूप(प्रथम धर्मरूप) सत्वको धारणकर विराजते हैं, वह वैकुण्ठ लोक सकल लोकोंसे विलक्षण(अन्य प्रकारका) है इसीसे ही वहां 'चित्'का शरीर 'आनन्द' है, आनन्दका 'सत्' शरीर है और सत्का शरीर मोक्षरूप है. इस कारणसे ही सच्चिदानन्दके ही सत्वादिगुण हैं यों पहले ही कहा गया है, सर्ग(सृष्टि)का आशय है 'आवृति' फिर पाना(होना) अर्थात् बदल-बदलके क्रम रखना, इसलिए सच्चिदानन्दोंकी आवृत्ति कही जाती है, इससे ही आश्रय(द्वादशस्कन्ध)में आनन्दमें स्थिति कहेंगे, 'च' पदसे यह सूचित किया है कि व्यापिवैकुण्ठमें भी पुरुषोत्तम अपने ऐश्वर्यादि धर्मसहित विराजते हैं, 'शब्दगोचरः' पदसे बताया है कि वेदैकगम्य है, अर्थात् लौकिक सम्बन्ध नहीं है, सत्त्वगुणको विशेष प्रकारसे रोक रखना अर्थात् धारणकर लेनेका

आशय है रजोगुणादि गुणोंसे सम्पर्क न होवे, इसलिए कहा है कि 'विरजं' यह सत्त्वशुद्ध है इसमें रजोगुण मिश्रित नहीं है. सत्त्वको रोकनेसे कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होता है? इस शङ्काको मिटानेकेलिए कहते है कि 'स्वानां नो वषः' अपने ब्रह्मादि भक्तोंके स्वामी हैं, अतः उनको(अपने भक्तोंको) कालसे पृथक् अर्थात् जहां कालका सामर्थ्य नहीं चलता है ऐसे सर्वसुख देवें. क्योंकि स्वामी है, स्वामीका आवश्यक धर्म सेवकोंको सुख देना है.

साधारण स्वामीकी अपेक्षा यह स्वामी सेवकोंको विशेष सुख देते हैं, सत्त्वको धारण करनेसे यही पुरुषार्थ सिद्ध होता है. यही सत्त्व धारण करनेका अर्थ(तात्पर्य) है।।१५।।

इस प्रकार आनन्दका सत् शरीरत्व कहकर, निम्न श्लोकमें सत्का दोनों प्रकारका परम पुरुषार्थपन कहते हैं:

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर् द्रुमैः।
सर्वर्तु श्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्तिमत्।।१६।।

जिस वैकुण्ठलोकमें 'नैःश्रेयसम्' नामका एक वन, मूर्त्तिधारी कैवल्य जैसा दिखाता है, वह वन सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित है एवं सर्वदा षट् ऋतुओंकी सम्पत्तिवाला है।।१६।।

जहां वैकुण्ठमें एक उपवन है जिसका नाम 'नैःश्रेयसम्' है. 'नैःश्रेयसम्' शब्दके यौगिक और रूढि ही अर्थ हैं. पहले यौगिक(शब्दोंसे होनेवाला) अर्थ 'कामदुघैः द्रुमैः' वाक्यसे स्पष्ट करते हैं उस वनमें जो द्रुम(वृक्ष) हैं वे कामनापूर्ण करनेवाले हैं वहांके वृक्ष सब कल्पवृक्ष हैं वे ही वहांके परम पुरुषार्थरूप हैं जिसका कारण है कि ये वृक्ष ही वहांके निवासियोंकी भी कामनाओंको पूर्ण करते हैं 'द्रुम' शब्दमें 'द्रु' गति अर्थवाला है, 'मा' 'नहीं' अर्थवाला है अर्थात् जिनमें नहीं है, तात्पर्य 'द्रुम' शब्दका यौगिक अर्थ गतिरहितपन है, तथा वे स्वतः भी उत्तम हैं क्योंकि 'सर्वर्तुश्रीभिः विभ्राजत्' सकल ऋतुनोंकी पुष्पादि जो शोभा सम्पति है उससे सर्वदा सुशोभित हैं अर्थात् सर्व ऋतुओंके पुष्पादि जिस वनमें सदैव रहते हैं यौगिक अर्थ समझाके अब रूढि अर्थ बतानेकेलिये कहते हैं कि वह वन 'मूर्त्तिमत् कैवल्यम्' मोक्षका मूर्त्तिमान स्वरूप है मोक्षका तात्पर्य है, पूर्णताकी स्थिति अर्थात् चिद्रूप जीवोंको अपने स्वरूप स्थिति होना मोक्ष है जहांसे जिससे फिर देहादि संघातमें जाना नहीं पड़ता है, इससे जीवका पुरुषार्थ बताया है.

वहां(वैकुण्ठ में) गया हुआ जीव चित्तरूप ब्रह्ममें चिद्रूपसे भोग भोगता है वह भी भगवान्का औडुलोमि मतानुसार एकरूप सिद्ध है, और जिसको आत्मवादी आत्मा कहते हैं, तथा जिसको भगवान्ने गीतामें ''**अहमात्मा गुड़ाकेश**'' श्लोकमें स्पष्ट कहा है कि हे 'गुडाकेश'(अर्जुन) मैं आत्मा हैं इससे अपनी प्रथम विभूति कही है, वह कैवल्य(मोक्ष)की मूर्ति है, ''**आत्मलाभात् न परं विद्यते**'' इस श्रुति वचनके अनुसार आत्माके लाभसे श्रेष्ट अन्य कोई लाभ नहीं हैं, इस कारणसे इस वनमें प्रविष्ट आनन्दमय हो जाता है एवं ब्रह्मानन्दको पाता है, इस तरह यह सत्रूप, परमपुरुषार्थरूप है।।१६।।

इस तरह वैकुण्ठलोक सर्वलोकोंसे विलक्षण है जबकी उपपत्ति सच्चिदानन्दकी विशिष्टतासे प्रतिपादनकर, अब छः श्लोकोंसे समस्त दोषोंके अभावार्थ मोह आदिका अभाव कहते हैं:

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र, गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः।
अन्तर्जले सुविकसन्मधुमाधवीनां, गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः।।१७।।

जहां(वैकुण्ठमें) विमानोंमें बैठकर भ्रमण करनेवाले गन्धर्व अपनी पत्नियोंके साथ जिस समय लोकोंके पापोंको नाश करनेवाले प्रभुके लीला चरित्र गा रहे हैं, उस समय वहां सरोवरोंके भीतर खिली हुई माधवी लताओंकी गन्ध इनके चित्तको(बुद्धिको) खण्डित करना चाहती है किन्तु ये तो गन्धको लानेसे वायुका भी तिरस्कारकर देते हैं।।१७।।

वहां(वैकुण्ठमें) स्त्रियां मोह करनेवाली नहीं हैं, साधारण जीवोंको मद नहीं है, लतागुल्म आदि जिनमें पुष्पोत्पति विशेष है उनमें भी मत्सर नहीं है, भगवद्भक्तोंकी स्त्रियोंमें कामवासना नहीं है जिससे पुरुषोंमें काम चेष्टा उत्पन्न करें, लक्ष्मीको भी अभिमान लक्षणवाला मानात्मक क्रोध नहीं है, लोभ भी लक्ष्मीमें स्थित है तो भी उसकी यह बुद्धि नहीं होती है कि परमपुरुषार्थकी सिद्धि करने वाली मैं हूं, किन्तु सर्व पुरुषार्थ व परमपुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले भगवान् हैं. इसी प्रकार वैकुण्ठमें समस्त दोषोंका अभाव सिद्ध किया है, इनमें पहले स्वभावसे दुष्ट स्त्रियां भी, अपने दोषोंको त्यागकर भगवद् गुणगानमें तत्पर हो गई हैं जिसका वर्णन करते हैं. 'वैमानिकाः' गन्धर्वगणोंमें स्वभावसे पदोंसे चलकर जानेका बल नहीं इसलिये, तथा सरलतासे जाना हो सके ऐसा अन्य उपाय न होने से, गन्धर्व जब भी कहीं आना चाहते हैं तो विमानोंमें बैठकर आते हैं, उनका वहां आदरसे

जानेमें गान ही कारण हैं, 'सललनाः' स्त्रियोंसहित आते हैं. क्योंकि दोनोंका परस्पर मोह है अतः सर्वत्र साथमें जाते हैं.

वैकुण्ठमें भर्ताके(भगवान्के) चरित्रोंका गान करते हैं, क्योंकि वे(गन्धर्व तथा उनकी स्त्रियां) भगवदीय हैं, भगवान्केलिए 'भर्ता' शब्दको देनेका आशय यह है कि वे(भगवान्) ऐहिक तथा पारलौकिक दोनोंका निर्वाह करनेवाले हैं अतः उनके गुणोंका गान आवश्यक है, इस तरह भगवद्गुणगान अपना उपकारक है यों कहकर गुणगान परोपकार करनेवाले भी हैं. यों 'लोक-शमल क्षपणानि' वाक्यसे कहते हैं, भगवद् गुणगान, भगवान्से भिन्न मार्गोंमें स्थित लोगोंके सम्बन्धसे उत्पन्न पाप अथवा सहज नित्य पापको वहां ही नष्टकर देते हैं.

वे गन्धर्व 'रूप' भगवान्की उपासना करते हैं, इसी कारणसे वे(गन्धर्व) अप्सराओंको ही चाहते हैं. इनका नाम 'गन्धर्व' इसलिए हुआ है कि ये जहां भी गन्ध हो वहांसे उसको खींच लेते हैं, अप्सराए गन्धको भगवद्रूपसे उपासती हैं, दोनों प्रकारसे स्त्रीसहित गन्धर्व गन्ध परायण हैं अतः गन्धसे बुद्धि खण्डित होने पर भी उसतरफ नहीं जाती है प्रत्युत्त(बल्कि) गन्ध ले आनेवाले वायुका भी तिरस्कार कर भगवत्परायण होके भगवान्के गुणोंका ही गान करते हैं.

'गन्ध' भगवद्रूप है अतः उसमें दोषोंका अभाव 'अन्तर्जले इति'से कहते हैं जलके मध्यमें खिली हुई माधवी लताकी गन्ध वहां फैली हुई है 'माधवी' नामवाली वहां कोई लता जहां वसन्त ऋतु आधिदैविक है इसलिए वह लता रसवाली रहती है उसका रस गन्ध खिला(फैला) हुआ रहता है, अतः इस प्रकारकी लताओंकी गन्ध वरसे प्राप्त है जिससे उसको(गन्धको) पृथ्वीका सम्बन्ध न होनेसे वह गन्ध अप्राकृत है(अलौकिक दैवी गन्ध है) अतः दैवी होनेसे उनका उपास्य होते हुए भी भगवद् गुणगानकेलिए त्यागकर दिया है वह गन्ध आधिदैविक है तो भी उससे मोह नहीं है मोह तो भगवद्गुणगानमें ही है।।१७।।

यों गन्धर्व अप्सराओंकी निर्दोषता सिद्धकर, पक्षियोंकी निर्दोषता निम्न श्लोकमें कहते हैं:

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाकदात्युहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चैः भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने।।१८।।

जिस समय भ्रमर श्रेष्ठ ऊंचे स्वरसे गुंजार करते हुए हरि कथाका गान करते हैं उस समय थोड़ी देरकेलिए कबूतर, कोयल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस,

तोते, तीतर और मयूरोंका कोलाहल बन्द हो जाता है जिससे यों जान पड़ता है कि वे सब गुणगान रसमें मग्न हो गये हैं।।१८।।

ये कबूतर आदि नव पृथक्-पृथक् गुणोंके रूप हैं, उनको स्वतः सिद्ध वाणीकी प्राप्ति हुई है, उनकी वाणी ही ब्रह्म है, अलग-अलग शब्द ही उनका माहात्म्य है, इसलिए वैदिक विप्र प्रातःकालमें इनकी वाणीसे पहले ही वेदपाठ प्रारम्भकर देते हैं, नहीं तो इनकी मधुरवाणीमें आसक्ति होनेसे वेदारम्भमें विलम्ब हो जावे.

कोयल, चातक और मयूर इनका कोलाहल प्रसिद्ध है क्योंकि इनकी वाणीमें व्याकरणका अभाव तथा पद एवं वाक्य रचनाका दोष केवल शब्दराशि होनेसे स्पष्टता नहीं है जिससे कोलाहल कहते हैं वास्तवमें वे भी भगवान्के गुण गाते हैं, वहांके पक्षी गुणगानके सिवाय अन्य कुछ नहीं कहते हैं क्योंकि उस लोकमें सर्व उत्पत्ति शुद्ध सत्त्वसे ही हुई है अतः वहांके पक्षी आदि भी शुद्ध सत्त्ववाले ही जन्मे हैं, वह कोलाहल भी क्षणभर मात्र ही बन्द होता है कारणकि भ्रमर श्रेष्ठ जो गान करते हैं वह हरिकथावत् ही करते है इससे यह सूचित किया कि उनको अपनी वाणीका गर्व नहीं है और भ्रमरका आधिपत्य(अधिपति स्वामीपन) स्वीकार करते हैं, कारणकि एक तो भगवान्की सन्निधिमें रहता है और उसके केश भगवत्केशोंके समान हैं. अथवा उत्तम भ्रमर आधिदैविक होनेके कारण अधिपति है, उसकी वाणी रागरूप है इसलिए राग द्वारा गान करेगा यों जानकर कोलाहल शान्त होता है, उसकी वाणी अस्पष्ट होते हुए भी उसकी रागमें अन्त होता है इसलिए अपनी वाणीकी तरह उसको भी धारणकेलिए शान्त हो सुनते हैं, विशेष समय भगवत्कथा गुणगानमें सुन्दर राग उपयोगी है, इसलिए उनके रागके अनुसार भ्रमर गुंजार करता है, जोरसे बोलनेसे यों अनुमान होता है कि प्रायः ऐसी भगवदाज्ञा हुई है।।१८।।

इस तरह पक्षियोंकी निर्दोषता बताकर निम्न श्लोकमें विशेष पुष्पोंवाली लताओं आदिमें ईष्यारूप दोषका न होना कहते हैं:

मन्दार-कुन्द-कुरबकोत्पल-चम्पकार्ण-पुन्नाग-नागबकुलाम्बुजपारिजाताः।
गन्धेऽर्चिते तुलसीकाभरणेन तस्या यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति।।१९।।

तुलसीके आभरणसे सुसज्जित श्रीहरिने, तुलसीकी गन्धकी जब प्रशंसा की तब वहांके मन्दार, कुन्द, कुरबक, उत्पल(रात्रिमें खिलनेवाले कमलों)

चम्पक अर्ण पुन्नाग, नागकेसर, मौर सिरी, अम्बुज(दिनमें खिलनेवाले कमल) और पारिजात आदि सुमनसोंने सुगन्धयुक्त होने पर भी तुलसीके तपका महत्व देख उसकी प्रशंसा ही की ईर्ष्या नहीं की।।१९।।

मन्दार देववृक्ष होनेसे पृथ्वी पर प्रसिद्ध नहीं है, कुन्द, कुरबक, उत्पल (रात्रिमें खिलनेवाले कमल) और चम्पक, सर्वत्र प्रसिद्ध है. 'अर्ण' काश्मीरमें प्रसिद्ध है, पुन्नाग, नागकेशर, मोलसिरी और अम्बुज(दिनमें खिलने वाले कमल) भी प्रसिद्ध हैं, पारिजात भी मन्दारकी तरह देववृक्ष है, ये सब पुष्प प्रधान हैं. अर्थात् इनमें पुष्प ही पुष्प होते हैं और वे पुष्प अतिशय गन्धवाले है, तो भी जब तुलसीकी वनमालारूप आभरणोंसे सजाये हुए भगवान्ने तुलसीकी गन्धकी प्रशंसा की तब वहां(वैकुण्ठ)के मन्दार आदि वृक्षोंने तुलसीके तपका बहुत आदर किया, क्योंकि वे खुद उत्तम पुष्पवाले तथा उत्तम शुद्ध मनवाले थे कारणकि हीन भी तपस्या करनेसे उत्तम हो जाता है, तुलसी भगवान्का आभरण है क्योंकि तुलसीसे ही भगवान्की वनमाला बनती है, कारणकि तुलसी लक्ष्मीकी तरह अमृतसे उत्पन्न हुई है और भगवत्कृपासे उसने तप किया है, अथवा जब वह वृन्दा थी तब भगवान्ने उस पर कृपा की थी. कारणकि वह जालंधरकी पत्नी तथा मधुकी कन्या थी, भगवान्ने जालंधरके वधार्थ(मारनेकेलिए) वृन्दाको अङ्गीकार किया था वृन्दाकी तपस्या उसका पातिव्रत्य था अथवा पहले ही तपस्याकर रखी थी जिसका फल अब मिला, गुणसे उत्पन्न इसका सौन्दर्य न रहे अतः इसको वैसी ही रखी, भक्तिमार्गमें इसका(वृन्दा तुलसीका) माहात्म्य सबसे विशेष है, जीवोंने अपने स्वाभाविक सात्त्विक, राजस और तामससे उत्पन्न दोष अभिमानादिको त्यागकर वैकुण्ठमें अस्वाभाविक गुण ग्रहण किये हैं, यों कहा है।।१९।।

स्त्रियां स्वभावसे दोषवाली होती हैं उनकी निर्दोषता इस श्लोकमें प्रतिपादन करते हैं, वहां लक्ष्मीके सिवाय दूसरी सब स्त्रियां आधिभौतिक हैं. लक्ष्मी दो प्रकारकी है: लोक(वैकुण्ठ) सम्बन्धवाली आध्यात्मिकी और भगवद्भक्ता भगवदानन्दरूपा आधिदैविकी. तीन प्रकारकी स्त्रियां भी आनन्दरूपा हैं जिससे उनमें सहज दोष(काम) होता है जिसका निराकरण किया जाता है, इसमें पहले भगवदीय स्त्रियोंकी निर्दोषता कहते हैं:

तत् संकुलं हरि–पदानति–मात्र–दृष्टैः वैदूर्य–मारकत–हेम–मयैर्विमानैः।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः।।२०।

वह(वैकुण्ठ)लोक वैदूर्य, मरकतमणि और सुवर्णसे बने हुए विमानोंसे भरा हुआ है, ये विमान किसी कर्मके फलसे प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु केवल भगवान्के चरणकमलोंमें प्रणाम करनेसे ही प्राप्त होते हैं, उन विमानों पर बैठे हुए श्रीकृष्णके भक्तोंके चित्तोंमें बड़े-बड़े नितम्बोंवाली सुन्दरियां अपनी मन्द मुसकान एवं मनोहर हास्यसे काम विकार पैदा नहींकर सकती हैं।।२०।।

वह वैकुण्ठ विमानोंसे भरा हुआ है, उन विमानोंकी प्राप्तिका उपाय कहते हैं कि 'हरिपदानतिमात्रदृष्टैः' जो हरिके चरणकमलोंमें ही नमन करते हैं वे इस प्रणाम मात्रसे उन विमानोंको देख सकते हैं, भक्तिमार्गानुसार भगवान्को नम्रतासे नमन करना ही विमान दर्शन(प्राप्ति)का एक मात्र उपाय है. अथवा श्रवणसे लेकर वन्दन तक छः प्रकारकी भक्ति उपाय है. 'मात्र' पदका तात्पर्य अवधि है, अथवा संख्यादिके अभाव होने पर भी प्रणाम पर्यन्त करनेसे भक्तिमार्गमें उनको (विमानोंकी) प्राप्ति होती है विमान तीन तरहके हैं, जो वैदूर्यसे बने हैं वे तामस हैं जो मरकतमणि(पत्रों)से बने हैं वे सात्त्विक हैं और जो सुवर्णसे बने हैं वे राजस हैं, भक्त भी तीन प्रकारके(सतो, रजो और तमोगुणी) हैं अतः गुणानुसार उनको विमान प्राप्ति होती है. इससे भक्तोंकी भोगोकेलिए विमानमें स्थिति कहीं है, विमानोंके सम्बन्धवाली भी भोगार्थ ही उनमें स्थित है, 'बृहत्कटितटाः' जिनके बड़े-बड़े नितम्ब भोगका ही पोषण करते हैं और स्मित (मुस्कान)से शोभायुक्त मुख देखते ही मोहमें डालनेवाला है अन्तरङ्ग(भीतरी) और बहिरङ्ग(बाहरी) दोनों प्रकारके रस सिद्धिकेलिये दो विशेषण दिये हैं.

मोह करनेके हेतु बताकर अब मोह न करनेके हेतु कहते हैं, 'कृष्णात्मनां न रज आदधुः' श्रीकृष्णमें ही जिनका चित्त आसक्त है उन भगवद्भक्तोंमें काम उत्पन्न नहींकर सकी यों भी न समझना चाहिये कि वे कामोत्पादक व भावादि भावोंको नहीं जानती थी, कारणकि हास्य आदि सर्वभाव करते हुए भी काम पैदा न कर सकी, वैकुण्ठका यही माहात्म्य है कि जो वहां रहते हैं वे कृष्णभक्त स्वतः हो जाते हैं उनका अतःकरण चतुष्टय भगवान्में आसक्त हो जाता है. अथवा कृष्ण है अन्तःकरणमें जिसके उनमें जो दोष हो तो वे अदोष(गुण) हो जाते हैं वहां ऐसा कोई नहीं जिसका चित्त कृष्णमें न हो अथवा विशेषरूपसे किसी व्यक्तिका नाम न कहनेसे कामोत्पत्तिका हेतुपन है, तब वैकुण्ठकी उत्तमता ही होती है, अन्य स्थल पर भी वह दोषरूप नहीं होता है, नहीं तो वहां उनके कीर्तनका विरोध हो

तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठवासी कहीं भी हो स्त्री–पुरुष साथमें हो तो उनमें काम जागृत नहीं होता है कारणकि उनका अन्तःकरण चतुष्टय(मन्, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार) कृष्णमें ही लगे हुवे हैं।।२०।।

इस तरह भगवद्भक्त स्त्रियोंमें दोषोंका अभाव कहकर यह वैकुण्ठ लक्ष्मीकेलिये ही बनाया है जिससे लक्ष्मीको गर्व होनेकी सम्भावना है तो भी उसमें(लक्ष्मीमें) गर्व नहीं है, यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि संमार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः।।२१।।

सुन्दरताकी साक्षात् मूर्त्ति लक्ष्मी, जिनकी कृपा प्राप्त करनेकेलिये ब्रह्मा आदि देव भी यत्न कर रहे हैं वैकुण्ठमें चञ्चलता दोषको त्यागकर रहती है, जब अपने चरणकमलके नूपुरोंकी झनकार करती हैं तथा लीला कमलको घुमाती हई फिराती है तब सुवर्णमें जड़े हुवे स्फटिक मणियोंकी दिवारोंमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ऐसा दीखता है मानो उसको साफ कर रही है।।२१।।

सम्पूर्ण जगत्में विद्यमान् लक्ष्मिओंकी यह लक्ष्मी देवता है. इसलिए इनको मूर्त्तिमती(रूपवाली) कहा है, अथवा बिना रूपवाले ब्रह्मानन्दका रूप हुआ है यों अलौकिक अर्थ बतानेकेलिए इसको(लक्ष्मीको) रूपवती कहा है, यद्यपि सुन्दरताकी तरह आभरणादि भी अभिमानके हेतु(कारण) है, तो भी अभिमान नहीं है यों बतानेकेलिए 'क्वणयती' पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि चरणारविन्दको नूपुरोंकी झनकारसे शब्दमय करती थी, उसका रूपवतीपन चरणोंकी ध्वनि और लीलाकमल सर्वको विदित ही है इसलिए अन्य गुण नहीं कहे हैं, प्रतिमाका भी रूप होता है इस शङ्काकोमिटानेके लिए 'क्वणनं' पद विशेष दिया है अर्थात् झनकारसे जाना जाता है कि वह प्रतिमा नहीं किन्तु साक्षात् ब्रह्मानन्दमय अलौकिकरूपवाली है. यह लक्ष्मी अन्य स्त्रियोंसे पृथक् एव विशेष है. यों जतानेकेलिए कहा है कि इसके हस्त(हाथ)में लीलाकमल है, अन्यके नहीं है, क्योंकि यहां 'पद्मकरा' है. चञ्चलतादि दोषोंको त्याग स्थिरता सम्पादनकर ली है. लोकमें लक्ष्मी चंचला कही जाती है वह आधिभौतिकी लक्ष्मी है. जिसमें चञ्चलतारूप दोष है, यह लक्ष्मी उससे पृथक् है यों बतानेकेलिए कहा है कि इसने ही प्रसारित हस्तमें लीलाकमल धारण किया है. 'हरिसद्मनि' पदसे यह सूचित किया है कि यह दुःख हरण करनेवाले हरि(भगवान्)का गृह है अतः यहां सबको

स्वाभाविक दुःखाभाव है, यदि दुःखका अभाव होनेसे सर्व सुख प्राप्ति होगी जिससे अवश्य अभिमान होता है, किन्तु यहां गर्व नहीं है. इसलिए ही उस घरको बुहारनेका काम स्वयं लक्ष्मी कर रही है गृहको बुहारना स्त्रियोंका धर्म है अतः यों करना उचित ही है किन्तु वह ब्रह्मानन्दरूप आनन्दकी स्वरूपात्मक आध्यात्मिका लक्ष्मी है, जिससे किस तरह बुहारती है वह प्रकार कहते हैं उस वैकुण्ठकी दीवारे स्फटिक मणियोंसे जड़ित सुवर्णकी बनी हुई है, अतः जब लक्ष्मी हस्तमें लीला कमल धारणकर घुमाती हुई नूपुरोंकी झनकार करती हुई फिरती रहती है तब उसका प्रतिबिम्ब दीवारोंमें फिरता हुआ दीखता है जिससे यों जान पड़ता है कि दीवारोंको वा गृहको साफकर रही है लक्ष्मीमें वहां रजोगुणका सम्बन्ध न होनेसे भी निरभिमान रहती है. समग्र वैकुण्ठ अतिशय शोभावाली लक्ष्मीजीकी शोभासे हुआ है अथवा यहांके रहवासी(निवासी) लक्ष्मीके आधीन नहीं है अतः वह तर्क किया है, जिसका आशय है कि लक्ष्मीमें दोषभाव हैं अतः लक्ष्मीसे उत्पन्न दोष दूसरोंमें भी नहीं है, लक्ष्मीका आदर नहीं यह तो अलौकिक विचार है, यह जताने केलिए कहा है कि 'यदनुग्रहणे अन्ययत्नः' जिस लक्ष्मीके अनुग्रहको प्राप्त करने केलिये ब्रह्मादि देव प्रयत्नकर रहे हैं।।२१।।

आध्यात्मिका लक्ष्मीमें दोष नहीं है कहकर अब आधिदैविकी लक्ष्मीमें मान और अभिमान नहीं है जिसका वर्णन करते हैं:

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्रमुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग! यच्छ्रीः।।२२।।

हे अङ्ग! जिस समय दासीसहित लक्ष्मी अपने क्रीड़ावनमें वापियोंमें, तुलसीदलोंसे भगवान्की पूजा करती हैं उस समय निर्मल अमृतमय मीठे जलवाले, तथा मूंगेके बने हुए घाटोंवाली वापियोंमें(बावड़ियोंमें) अपना सुन्दर केशवाला एवं उन्नत(ऊंची हुई) नासिकावाला मुखारविन्द देखकर यों मानती थी कि इस मुखकमलका भगवान्ने चुम्बन किया है।।२२।।

लक्ष्मीजी अपने वनमें तुलसीरूप सामग्री द्वारा वापियोंमें भगवान्का पूजनकर रही थी, तब यों मानने लगी कि मेरे मुखारविन्दका भगवान्ने चुम्बन किया है भगवत्सेवा करती हुई वह(लक्ष्मी) अपने भजनका महाफल भगवान्का चुम्बन ही समझने लगी जो लक्ष्मी यों समझती है उसको अभिमान कैसा होगा? तुलसीदलोंसे व पत्रोंसे पूजा करनेसे यह सूचित किया है कि मेरेमें तुलसीकेलिए

सौतका भाव नहीं है वापी तथा दासियोंका उपयोग अवस्थाकी स्मृति केलिए है ऐसा कदाचित् नहीं होता है किन्तु सदैव रहता है इसलिए 'वापी' शब्द बहुवचनमें दिया है. वापियोंके तट मूंगेके बने हुवे थे जिससे वहां प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ते थे क्योंकि उनके कारण तट मलरहित थे वापियोंका जल अमृतमय मीठा था जिससे भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट पडते थे, खारे जलमें प्रतिबिम्ब धुंधला सा पड़ता था.

लक्ष्मी जिस समय पूजाकेलिए ध्यान धरती थी उस समय भगवान् दासीके प्रतिबिम्बमें जब प्रकट दीखनेमें आये. केशोंको पकड़कर जब चुम्बन किया जाता है तब मुख ऊपर(ऊंचा) होता है, यों होना ही लक्ष्मीने महापुरुषार्थ समझा अथवा दासी साथमें थी यह शङ्का न रहे, इसलिए यों कहा व समझा है 'निजवने' पद कहनेसे यह संकेत किया है कि भगवान् वहां पधारनेवाले नहीं है कारणकि वहां विराजमान ही हैं, जहां उसका इतना ही मनोरथ सिद्ध हुआ है वहां गर्व(अंहकार)का भाव कैसे होगा? 'स्वालकं' सुन्दर केशोंवाला पद कहनेसे यह सूचित किया है कि भगवान् इसको ग्रहण करेंगे? सुन्दरता न हो तो भगवान् ग्रहण न करें, भगवान् केश ग्रहण न करें तो नासिका ऊपर न होय, लक्ष्मी पूजा करनेकेलिए बैठी थी अतः उसकी नासिका(मुख) ऊपर करनेकेलिये केशोंका ग्रहण आवश्यक था, यह आधिदैविक लक्ष्मी थी जिसने माना है कि भगवान्ने मेरे मुखका चुम्बन किया है, 'तुलसीभिः' बहुवचनका आशय है कि लक्ष्मी एक लक्षसे पूजन करती थी, पूजा करते हुवे पतिके कारण भगवान्का अनादर नहीं करती थी, पूर्ण भगवद्भावसे पूजन करती थी वह पूजन भी साङ्ग करती थी, क्योंकि साङ्ग पूजन ही महाफलदाता है, चुम्बनसे अपनेको कृतार्थ समझना परम भक्तपनका बोध कराता है. आत्मसमर्पण तो हुआ ही है 'भगवान्ने चुम्बन किया' यों मानती थी, इस प्रकारके शब्दोंसे यह सूचित किया है कि जब साक्षात् फल प्राप्त हो गया है, फिर चुम्बन क्यों किया? उसकी आवश्यकता नहीं थी।।२२।।

यों वहां सकल दोषोंका अभाव(न होना) कहकर कहते हैं कि दोषी वहां नहीं जा सकते हैं:

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादात् शृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारान् तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त!।।२३।।

जो मनुष्य पापोंको नाश करनेवाली भगवान्की कथाओंको न सुनकर बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाली लौकिक विषयोंवाली कथाओंको सुनते हैं वे कथाएं

उनको अन्धकारमें फेंक देती हैं, जिससे वे वैकुण्ठमें नहीं जा सकते हैं।।२३।।

इससे यह समर्थन किया है कि, वैकुण्ठमें वासनारूप दोष भी नहीं है, जो मनुष्य पाप नाशकारी भगवच्चरित्र तथा भगवत्सम्बन्धरहित लौकिक दुष्ट कथाओंकी कथा सुनते हैं वे साधन होते हुए भी वैकुण्ठमें नहीं जा सकते हैं कारण कि भगवत्सम्बन्धरहित अन्य विषयवाली कथाएं वैकुण्ठमें जानेमें रुकावट डालनेवाली है, अन्यथा साधनोंके न होनेके कारण वैकुण्ठमें न जाना दुष्ट कथानोंके श्रवणसे साधन होते हुए भी वैकुण्ठमें नहीं जा सकते हैं, यों कहनेका आशय क्या है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् पापोंके नाशक हैं यह गुण भगवान्में स्वभाव सिद्ध है. उनके चरित्र स्वतन्त्र हैं इसलिये समास नही किया हैं चरित्रोंको सुनकर उनका कीर्तन करना चाहिये, किन्तु वह कीर्तन काव्यकी तरह तर्कयुक्त नहीं करना चाहिये. अन्य विषय(लौकिक)के सम्बन्धवाली जिनसे भगवान्का सम्बन्ध न हो अथवा भगवान्के विरुद्ध दैत्योंकी कथाएं हों वे कथाएं भगवत्सम्बन्धी न होनेसे दूसरी कथाएं हैं अतः वे कुकथायें हैं, उनके(दैत्योंके) धर्म दोषरूप होते हैं इसलिये दैत्योंका पराक्रम भी ब्रह्महत्यारूप है जिन मनुष्योंने भगवान्के चरित्र भी सुने हैं उनको केवल कुकथाओंका फल क्यों? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि ये कुकथायें, भगवत्कथाओंसे उत्पन्न सुमतिको नाश करती हैं ये सुनी हुई कथाएं विषके समान होनेसे जिस पर पड़ती हैं उसका नाशकर छोड़ती हैं वे(कुकथाएं) स्वतन्त्रता पूर्वक अनिष्ट करनेवाली भी हैं.

'यास्तु श्रुताः' पदसे कहते हैं कि जो पुण्यात्माएं हैं उनको ऐसी कथा श्रवण करनेकेलिए ये सम्भव ही नहीं है. इसलिए 'हतभगैः' पदसे बताते हैं कि ये कुकथाएं हतभाग्य मनुष्य सुनते हैं सुखका अनुभव करानेवाले अदृष्टको 'भाग्य' कहा जाता है वह भाग्य जब किसी कारणसे नष्ट होता है तब 'कुकथा' सुननेकी बुद्धि होती है.

कुकथा सुननेवाले मन्दभाग्योंमें विवेकधैर्यादि विद्यमान होनेके कारण कभी भाग्योदय होगा वो तब भगवत्कथाका श्रवण करेगे इसका उत्तर देते हैं कि, मनुष्योंमें यों भी समझ अल्प(थोड़ी) है वह भी कुकथाओंके श्रवणसे नाश हो जाती है. तब सच्चे साधन नष्ट हो जानेसे वे दुष्ट कथाएं, जहां कोई शरण(रक्षक) नहीं ऐसे तमोरूप दैत्योंके स्थानोंमें दूरसे ही फैंक देती है, ऐसी दशा खेदजनक दिखानेकेलिए 'हन्त' पद दिया है. बड़े कष्टसे सुनी हुई फिर दुःख देनेवाली होती

है, 'तांस्तान्' (उनको-उनको) दुःख देनेवाली होती है यों दो बार कहनेका आशय है कि दृष्ट कथाओंको सुननेवाले किसीकी भी सद्गति नही हुई है, दुष्ट कथाएं सुनते ही श्रोताको तमोरूप स्थानोंमें फेंक देती है. मनन आदिकी भी अपेक्षा नहीं करती है मुक्तिकी तरह कोई भी वहां सहायक नही, उनकी(दुष्ट कथा सुननेवालोंकी) वहां स्थिति ही इस बीचमें कौन जाने क्या हो जाय? ऐसे बहुत हैं इसलिए बहुवचन दो बार 'तांस्तान्' कहा है।।२३।।

इस प्रकार दोषवाले तामस जीव वहां(सद्गतिमें) न जाकर अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं यों कहकर अब इस श्लोकमें राजसजीवोंको गति न उर्ध्व(ऊंची) होती है और न नीची होती है बीचमें ही भटकते रहते हैं उनका क्लेश देखकर शोक प्रदर्शित करते हैं:

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य संमोहिता विततया ननु! मायया ते ।।२४।।

जिस मनुष्ययोनिमें ज्ञान धर्मसहित तत्त्व विषयको जाना जा सकता हैं उस मनुष्य देहको प्राप्तकर भी भगवद्भजन नहीं करते हैं वे उस(भगवान्)की फैलाई हुई मायामें मोहित हुए हैं।।२४।।

जो जीव मनुष्यत्वको पाकर भी भगवान्का भजन नहीं करते हैं वे इनकी (भगवान्की) मायासे मोहित हो गये हैं. मनुष्ययोनिकी प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि सर्व योनियोंमें उत्तम है इसमें भगवत्प्राप्ति की जा सकती है अतः ब्रह्मादि भी मनुष्य होना चाहते हैं, कारणकि समस्त(ब्रह्मादि) भी प्राकृत हैं जैसे स्वर्णसे सर्व प्रकारके कुण्डलादि आभूषण बनते हैं, कुण्डलसे आभूषण नहीं बनते हैं इस कारण ही ब्रह्मादि भी मनुष्ययोनिकी प्राप्ति चाहते हैं, 'नः' यह षष्ठी केवल सम्बन्धको बतानेवाली मनुष्ययोनिकी विलक्षणता प्रतिपादन करनेकेलिए हैं, जिस मनुष्ययोनिसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है वह आसुरी नहीं है.

'नः' षष्ठीसे जो विशेष कहा उसको 'ज्ञानं च तत्त्वविषयं' पदसे कहते हैं, जिस मनुष्ययोनिमें तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जाता है ब्रह्मज्ञान सुलभ है. ब्रह्मभावको प्राप्त प्रापञ्चिक पदार्थोंका और वैदिककर्मोंके स्वरूपोंका ज्ञान होना दुर्लभ है. 'तत्त्वविषयं' वाक्यमें 'विषय' पदसे जताते हैं कि, तत्त्वसे ज्ञान नहीं होता है, यदि होवे तो बाधित स्वरूप(असज्ज्ञान)को ही जाना जावे, तत्त्व तरीकेका ज्ञान दैत्योंके ज्ञानमें भी समान है. 'च' पदसे स्वरूपका ज्ञान होना प्रकट किया है. धर्म सहित ज्ञान

होने पर भी यदि भगवद्भजन न हो तो वह मायाका कार्य है. 'वितरणं'से कहते हैं. जिसमें दान(कार्य-सेवा) करनेकी सीमा न होवे, सारांश यह हैं कि सर्वथा(सर्व प्रकारसे) सर्वदा भगवान्का भजन करते रहना न कि स्मार्तोंकी तरह केवल पूजन करना अथवा एकबार आराधना करना वितरण नहीं है.

मायाका मोह शास्त्रज्ञानसे दूर किया जाता है वह(शास्त्रज्ञान) होने पर भी यदि भगवद्भजनादि न होता हो तो इसको मायाका कार्य कैसे कहा जाय? इस पर कहते हैं कि 'विततया' अर्थात् माया सर्वत्र फैली हुई है जिससे शास्त्रज्ञान होते हुए भी आराधन नहीं होता है. क्योंकि यह शास्त्रमें भी अन्यथा बुद्धि करा देती है यह माया भी मायावियों(असुरों)को मोह करानेवाली है, सृष्टिकेलिए यह माया मोह नहीं कराती है।।२४।।

निम्न श्लोकमें वैकुण्ठमें जानेका साधन कहते हैं:

यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या दूरेहमा ह्यपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग-वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः।।२५।।

हे इन्द्र! अहङ्कार छोड़कर, जब भक्तजन परस्पर प्रभुके सुयशका गान करते हैं तब उत्पन्न प्रेमसे ऐसी विह्वलता होती है, जिससे उनके रोम-रोमसे हर्षके आंसू निकलते हैं जिनसे भीतरका तापादि शांत होता है और वे सत्यलोकसे ऊपरके लोक(वैकुण्ठ)में जाते हैं।।२५।।

'च' शब्दसे व्यापि वैकुण्ठका सूचन किया है. जिस वैकुण्ठमें, हरिको सर्वथा दैन्यपूर्वक नमन करनेसे एवं अनुसरण करनेसे ही जाना होता है, 'हे अनिमिषाम् ऋषभः' पदका अर्थ-हे देवोंके स्वामी इन्द्र! उसको भगवत्कृपासे ही इन्द्र पदकी प्राप्ति हुई है, सर्व दुःखोंके हर्ताका अनुसरण करनेसे क्लेशोंका अभाव हो जाता है, विमानदर्शन एवं प्राप्ति केवल भगवान्को प्रणाम करनेसे भी होती है, किन्तु वैकुण्ठमें स्वतः जाना तो भगवान्के अनुसरण करनेसे ही होता है. यह भगवान्का अनुसरण करता है जिसका प्रमाण(सबूत) अहङ्कार निवृत्ति है भगवदनुसरण करनेवालेसे अहङ्कार दूर रहता है कारणकि भगवद्भजन दोषोंको मिटानेवाला है अतः अहङ्कार दोष मिट जाता है. यदि अहङ्कार न मिटा होता तो भजन नहीं हो सकता.

वैकुण्ठ हमारे लोक(सत्यलोक)से ऊपर है यों जताया है. जो लोग निरन्तर भगवद्भजन करते हैं वे शुद्ध सात्त्विक स्वभाववाले होते हैं इसलिये हम भी

ऐसे स्वभावके होनेकी इच्छा करते हैं. इसलिये ही हमसे अर्थात् हमारे लोकसे ऊपर(वैकुण्ठमें) जाते हैं, यद्यपि हम भी भगवद्भजन करते हैं तो भी हमारा स्वभाव उनके समान नहीं है, इसलिये ही हमसे अहङ्कार नष्ट नहीं हुआ है, इस कारणसे ही उनका स्वभाव चाहने योग्य है, उनके जाननेके लक्षण कहते हैं, 'भर्तुः' वह प्रभु यहां भी पालन करते हैं अतः वे देहादिके निर्वाहकी चिन्ता नहीं करते हैं, यदि वह पालन नहीं करे तो निर्वाह भी न होवे, 'मिथः' पदसे यह बताया है कि आपसमें मिलकर भगवद्भजन करनेसे इसका आविर्भाव(प्राकट्य) होता है, 'सुयशसः' विषयकी उत्तमता दिखलाई है, लौकिक मनुष्योंका भी यशोगान किया जाता है, यशोगानसे धर्म होता है. फिर यह यश(भगवान्का यश) तो धर्म, ज्ञान और भक्तिको उत्पन्न करनेवाला है जिससे सुयश होता है. इसलिये ही उसके कहनेमें अनुराग होता है, भगवत्कथा अनुराग(प्रेम)के कारण ही की जाती है न किसीके दबावसे या फलकी प्राप्तिकेलिये की जाती है, वह अनुराग भी केवल आसक्तिरूप नहीं, किन्तु सफल और लक्षणोंवाला है 'वैक्लव्येति' अनुरागसे शरीरमें विकलता होती है जिससे सत् कार्य करनेमें असमर्थता हो जाती है. यही फल है, 'लक्षणद्वयमाह' दो लक्षण कहते हैं '१.बाष्पकलया २.पुलकीकृताङ्गाः' अनुरागसे विकलता होने पर अश्रुओंकी धाराओंका बहना बढ़ता ही रहता है, भीतर स्थित भगवान्का आनन्द, सर्व प्रकारके संसारतापको बाहर निकाल देता है तब उसके आंसू रोम-रोमसे कलासहित निकलने लगते हैं, उस कलासे ही प्रकाशित अङ्ग रोमाञ्चवाले हो जाते हैं, अतः जो वैकुण्ठ गये हैं उनमें दोष है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये।।२५।।

इस तरह नव श्लोकोंमें सिद्ध किये हुवे दोषरहित वैकुण्ठमें निर्दोष सनकादिने महान् दोष किया यह महान् आश्चर्य है यों निम्न श्लोकोंमें कहते हैं:

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं दिव्यं विचित्र-विबुधाग्र्य-विमान-शोचिः।
आपुः परां मुदम् अपूर्वम् उपेत्य योगमायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम्।।२६।

जब सनकादि मुनि विश्व गुरु हरिके आधिपत्यवाले और सकल लोक वन्दनीय तथा श्रेष्ठ देवोंके विचित्र विमानोंसे सुशोभित उस अपूर्व दिव्य वैकुण्ठमें अपनी योग मायाके बलसे पहुंचे तब वे बहुत प्रसन्न हुए।।२६।।

सनकादिने वह वैकुण्ठ योगमायाके बलसे प्राप्त किया, यों वाक्यका सम्बन्ध(अन्वय) है. वह स्थान जब भक्तिसे प्राप्त किया जाता है तब कल्याण-

कारी होता है अपनी योगमाया बलसे प्राप्त करने पर हितकर नहीं होता है, फिर योगमाया जो इनको(सनकादिकों) सृष्टिकेलिये लाई और जो स्वयं सृष्टि करनेवाली है वे कैसे अनर्थ करेंगे? यों भाव है, वह धाम भक्ति द्वारा ही प्राप्त करनेके योग्य है यों कहनेकेलिये विशेषण कहते हैं 'विश्वगुर्वधिकृतं' वेदादिके प्रवर्तक विश्व गुरुने अपने अधिकारमें ले लिया है, अतः वह स्थान गुरुका है वहां धृष्टतासे(अभिमानसे) नहीं जाना चाहिये और खाली हाथ नहीं जाना चाहिये और विशेष वह स्थान 'भुवनैकवन्द्यं' सब लोकोंका वन्दनीय लोक है अतः वह पैरोंसे आक्रमण करने(फिरनेके) योग्य नहीं है, यों किया जाता है तो अनर्थ होगा ही, किञ्च अन्य विशेषता दिखाते हुए कहते हैं कि 'दिव्यं' वह अलौकिक धाम है, जिससे वहां लौकिक प्रकारसे नहीं जाना चाहिये, इस कारणसे यदि विरक्त भी लौकिक प्रकारसे जाते हैं तो उनमें भी दोषोंकी उत्पत्ति होती है किञ्च 'विचित्र विबुधाग्र्यविमानशोचिः' जिस धामकी शोभा देवोंके विचित्र सुन्दर विमानोंसे फैल रही है. ब्रह्मादि उस स्थानका पैरोंसे स्पर्श न होनेकेलिये अलौकिक विमानोंमें बैठ उसके नीचे(बाहर) ही खड़े रहते हैं जिससे उत्कर्ष प्रकट करते हैं, विमानोकी विचित्रता वेदमय होनेसे है, ऐसे उत्तम स्थानोंमें जिस तरह भी चाहें उस तरह नहीं जाना चाहिये. ऐसी चतुर्विध उत्कर्षवाला धाम वैकुण्ठ कभी भी नाश नहीं होता है ऐसे अलौकिक वैकुण्ठको प्राप्त होके सनकादि प्रसन्न हुए, उसके(वैकुण्ठके) अलौकिकधर्मका सनकादिने प्रत्यक्ष अनुभव किया, यो सारांश है।।२६।।

उस योगमायाको भगवान्ने सृष्टिकी उत्पत्ति करनेकी आज्ञा दी उसने वह आज्ञा शिरोधार्यकर सृष्टि रचना की, अनन्तर योगमायाको यह इच्छा हुई कि भगवान् पृथ्वी पर पधारकर मेरी रची सृष्टिको देखे जिसकेलिये भगवान्को साक्षात् कहनेमें तो डरी किन्तु उसने इसका यह उपाय किया कि आपके द्वारपालोंको पृथ्वी पर लानेकेलिये मुनियोंको अपने बलसे वहां ले गई, भगवान्ने वैकुण्ठमें जिनको द्वारपाल बनाया था वे यदि पृथ्वीके पालक बने तो पृथ्वी वैकुण्ठका द्वार हो जावे, तब भूमि द्वार बन जायेंगी तो भगवान् वहांसे प्रकट हो जायें और मेरा आगे कृत्य देख लेंगे. मायाका इनको लानेमें यह गुप्त अभिप्राय था उनको(मुनियोंको) लाकर जो कराना था सो करने लगी यह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

तस्मिन् अतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः कक्षाः समान–वयसावथ सप्तमायाम् ।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य–केयूर–कुण्डल–किरीट–विटङ्कवेषौ।।२७।।

आनन्दमग्न हुवे वे वैकुण्ठधामकी छः ड्यौढियां तो बिना रुकावटके पार करके जब वे सातवीं पर पहुंचे तब वहां उन्हें दो समान वयवाले देवश्रेष्ठ दिखाई दिये, जो बाजूबन्द, कुण्डल और किरीट आदि अमूल्य आभूषणोंसे सुसज्जित थे एवं हाथमें गदा लिये द्वार पर खड़े थे।।२७।।

उस वैकुण्ठमें वे मुनि छः ड्योंढियां पारकर सातवींमें जब पहुंचे तब दो देव (द्वार पर) खड़े देखे, यों अन्वय है. हर्ष भी प्राप्तकर और उसके(वैकुण्ठ)के माहात्म्यका भी स्पष्ट अनुभवकर, मायाके मोहाधीन होनेसे उन(द्वारपालों)को क्रोध दृष्टिसे देखने लगे, जो छः ड्यौढियां पारकर आये वहां भी द्वारपाल खड़े थे किन्तु उनको पारकर आये वहां रुकावट न हुई क्योंकि ये विरक्त थे वे छः ड्यौढ़ियां ऐश्वर्यादि षड्गुणवाली थी इसलिये वहां रुकावटकी आवश्यकता नहीं थी यह सातवीं कक्षा भक्ति है यदि ये शुद्ध भक्त होते तो इसको भी पारकर जाते परन्तु भक्तिके अभावसे वहां देव(द्वारपाल) देखनेमें आये, ये कुमार आसक्ति रहित वैराग्यवाले थे इसलिये छः ड्योढ़ियां पार करनेमें वैराग्य कारण था. 'समानवयसौ'का भाव है कि वैकुण्ठमें काल नियामक नहीं है, वृद्धि और क्षय करनेवाले कालका वहां अभाव है, काल समान होनेसे कालसे प्रेरित कर्म और स्वभावकी भी समानता है, 'अथ' पद देनेका तात्पर्य है कि अब अन्य विषयका प्रारम्भ होता है. यहां पहुंचने पर मुनियोंकी विरक्तता नष्ट हो गई एवं द्वारपाल यहां आनेवालोंको पहले रोकते नहीं थे क्योंकि वे भक्त होते थे अतः अब यह कक्षा सातवीं न होकर पहली हो गयी है, अतः इसमें ङीप प्रत्यय लगाकर 'सप्तमी' न कहकर 'सप्तमा' कहा है इसलिये यह उल्लंघन योग्य नहीं रहनेके(ठहरनेके) स्थानके समान हुई है, वे दो द्वारपाल देवश्रेष्ठ थे अतः कुमारोंको भी पूज्य थे क्योंकि ये कुमार मनुष्य हैं वे देव हैं, किन्तु मनुष्य होते हुए मुनि होनेके कारण वहां जा सके, किन्तु इन देवों(द्वारपालों)के हाथमें जो गदा है वह बताती है कि आसन्य (प्राणरूप बल) हमारे हाथमें है, इसलिये अभक्तोंको व दैत्योंको रोकनेमें हम समर्थ हैं इसलिये इन देवोंकी आज्ञानुसार मुनि चलें तो कृतार्थ हो जावे, और इन दोनों देवोंने भगवत्सायुज्य भी प्राप्तकर लिया है, सायुज्यका वर्णन करते हैं, 'परार्ध्येति' हस्त कर्ण और शिरोभूषण, केयूर हस्त भूषण, कुण्डल कर्ण भूषण और किरीट शिर भूषण धारण किये हैं इससे इनके कर्म सिद्ध हैं (सांख्ययोग और ज्ञान) आसन्य(प्राण) तो इनके आधीन है ही, इसलिये मृत्युरूप दैत्य जय स्वतः

सिद्ध है. इन कारणोंसे भी इनका वेष अलौकिक है उन्होंने अलौकिक प्रकारसे भगवत् द्वारपालकोंके योग्य वेश पहना है. उनके कर्मादिक भी भक्तिके उपयोगी हैं. यों अर्थ(तात्पर्य) है।।२७।।

मत्त–द्विरेफ–वनमालिकया निवीतौ विन्यस्तयाऽसित–चतुष्टय–बाहु–मध्ये।
वक्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां रक्तेक्षणेन च मनाग् रभसं दधानौ।२८।

उन(द्वारपालों)की चार श्याम भुजाओंके मध्यमें मत्त मधुकरोंसे गुंजायमान वनमाला सुशोभित हो रही थी, एवं बांकी भौहें, फड़कते हुए नासारन्ध्र और लाल नेत्रोंके कारण, उनके चेहरे पर कुछ क्षोभकेसे चिन्ह दिखाई दे रहे थे।।२८।।

मत्त भ्रमरोंसे युक्त वनमालाको धारण किये हुऐ देवोंको देखा, उनके चार प्रकारके कर्म सिद्धसे हो गये हैं, १.उत्पत्ति, २.स्थिति, ३.प्रलय और ४.मोक्ष तथा लौकिक, वैदिक, दिव्य और भगवदीय भी उनसे सम्बद्ध हैं ही, उन दोनोंकी कीर्त्ति 'वनमाला' है उसका वर्णन करते हैं, मत्त जो दो रेफवाले भ्रमर, 'द्विरेफ' शब्द रूढ है. सबको इसकी प्रतीति शीघ्र होती है, अन्यथा प्रतीति होने पर बर्बर शब्द जो दो रेफवाला है उसका व्युदास भी न होवे, मत्त भ्रमरों सहित वनमाला, भ्रमर शब्दमें जो रेफ है वह अग्नितेजका सूचक है, तात्पर्य यह है कि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकारकी अग्निके तेजके समान वेदसहित वनमाला है, वह भी प्रेमके सम्बन्धसे मत्त भ्रमरोंसे सम्बन्धित है, 'वनमालिकया' पदसे यह बताया है इन दोसे दो रेफवालों(भ्रमरों)से वनमालाकी शोभा थी वह जिन(द्वारपालों)के कण्ठसे लटक रही थी, उनके कर्मसहित वह कीर्त्तिरूप उनके श्यामल चार भुजाओंके मध्यमें धरी हुई थी इससे यह सूचित किया है कि उन दोनोंके हृदय पर भगवान् वनमाला, कमल और चार भुजाएं तथा पत्र(तुलसी पत्र) सुशोभित है.

यों होने पर भी बांकी भौंहेवाले, फड़कते हुए श्वासयुक्त नासिका पुटवाले लाल नेत्रसे स्वल्प(थोड़े) क्रोधयुक्त मुखको धारणकर रहे थे, यद्यपि भगवत्सायुज्यसे जो रूप था वह यह नहीं था. यह रूप तो मायाने अपने गुण भावको पूर्ण करनेकेलिये किया था, 'वक्रंदधानौ' पदसे सूचित किया है कि भक्तिमार्गमें निष्ठ(पक्के) स्थित थे. इस समय इनमें मायाने तीन दोष प्रकटकर दिये बांकी भौंहे क्रोध प्रकट करती हैं देहस्थ भगवान्के दर्शन हमको ही होते रहे अन्यको नहीं इसलिये इनको भीतर नहीं जाने दिया जाय, अतः स्थित भगवान्के दर्शनरूप धनके महान् लोभसे उत्पन्न चिन्तासे थके हुऐ नासापुटोंसे बाहर निकल

आनेवाला वायु लोभका सूचक था, भगवद्दर्शनानन्दके लेनेका अधिकार हमारा ही है वह मुनियोंको प्राप्त न हो ऐसी कामनासे उत्पन्न क्रोधका सूचन नेत्रोंकी लालास करती थी, इन तीन दोषोंके कारण थोड़ा सा मुख कम्पायमान सा हो रहा था, ये तीन दोष ही भक्तिमें प्रतिबन्धरूप होनेसे इनको तीन जन्मोंके चक्करमें डालेंगे और मुनियोंका तिरस्कार करनेके कारण तो सहज क्रोध हुआ था वह पृथक् था।।२८।।

इस तरह देवोंके गुण दोषोंका निरूपणकर इस श्लोकमें मुनियोंके गुण दोषोंका निरूपण करते हैं:

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोर पृष्ट्वा पूर्वा यथा पुरट–वज्र–कपाटिकायाः।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्टया ये संचरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः।।२९।।

इन दोनों देवोंके इस प्रकार देखते हुवे भी वे मुनिगण, बिना पूछताछ किये हुए ही जैसे पहलेके द्वारोंमें प्रवेश करते यहां आ गये वैसे अब निशङ्क हो हीरोंसे जडित सुवर्णके कपाटवाले द्वारमें प्रवेशकर गये क्योंकि वे समान दृष्टिवाले होनेसे प्रतिबन्ध सहित सर्वत्र आते जाते रहते थे।।२९।।

ज्ञानमार्गमें ४ गुण होते हैं १.समान दृष्टि, २.शङ्का(भय)का अभाव (निर्भयता) ३.मनन और ४.आत्माका ज्ञान(स्वरूपका ज्ञान) वे गुण यदि भगवान् के माहात्म्यज्ञानके साथ हैं और भगवान्के गुणोंका आदर भी करते हैं तो भक्तिमार्गमें भी गुणरूप होके रहते हैं अन्यथा अर्थात् यदि भगवान्के माहात्म्यके ज्ञानका न होना है और भगवान्के गुणोंका आदर नहीं करना तो वे गुण ज्ञानमार्गमें इसलिये गुण कहे जाते हैं कि वे लौकिक दोषोंकी निवृत्ति करते हैं १.अधिकारी–ओंका उल्लंघन २.भगवान्के स्थानको सामान्य स्थान समझना, ३.अन्तरङ्ग और बहिरङ्गको समान जानना ४.अन्तरङ्गके विशेष गुणोंको ध्यानमें न लाना, ये चार दोष थे.

इन दोषोंके कारण, जो(दोष) बलवान् थे अतः मुनियोंमेंसे ज्ञानमार्गके गुण भी इस समय तिरोहित हो गये जिससे देवोंको ऐसा शाप दिया कि १.दैत्य–योनि २.स्वरूपज्ञानाभाव ३.विशेष समय तक गर्भवास दुःख और ४.यातना भोगोगे –यह शाप देनेसे इन(मुनिओं)को अन्तःकरणमें क्लेश हुआ किन्तु क्लेश दोषकेलिये नहीं है.

इन दोनों देवोंके देखते हुए इनकी अवगणना(तिरस्कार)कर अन्तरङ्ग

द्वारमें बिना पूछे प्रविष्ट हो गये, पहले पूछना चाहिये था कि इस समय भगवान् दर्शन देगें वा नहीं ? यों न पूछ अहङ्कारमें आकर भगवान् क्या करेंगे ? हम ज्ञानी विरक्त मुनि हैं अवश्य दर्शन देंगे ही, जैसे पहले द्वारमें प्रविष्ट हुवे इसको उनके समान समझ प्रविष्ट हो गये किन्तु यह हीरोंसे जड़ित सुवर्णसे बने हुए विशेष द्वार थे. यों पूर्वार्द्धमें मुनियोंके दोष कहे.

अब उत्तरार्द्धमें मार्गान्तरमें(दूसरेमार्गमें) स्थित गुणोंको कहते हैं 'सर्वत्र' इति, वे मुनि सर्वत्र समान दृष्टिसे विचरते हैं, इस कारणसे इनको कोई रोकता नहीं है, क्योंकि इनके भीतर रही हुई समान दृष्टि दूसरोंसे भी समताका कार्य कराती है इससे इनमें ऐसा प्रभावशाली ज्ञान है यों जताया है इसलिये 'विगता' पदसे इनकी निर्भयता प्रकट की है, यदि ब्रह्मको जाननेवाले हो तो तब दोष न होता, ब्रह्मज्ञानमें ही ये गुण कहे हैं ये तो आत्मवित् हैं वह आत्मा चिद्रूप ब्रह्म है उसमें भी ये मुनि मनन पर्यन्त पहुंचे हुवे हैं, आत्माके स्वरूपके सम्बन्धवाले वे मननका भी अनुभव सदैव न था चिद्रूप और उसके धर्मके मध्यमें जो सीमा है वह बलिष्ठ है जिसको अहङ्कार कहा जाता है, अतः अहङ्काररहित आत्मस्वरूप(चिद्स्वरूप)का ज्ञान ही गुणरूप है. यदि यों न होवे तो संसारियोंको भी आत्मज्ञान होता ही है जिससे ही उनका भी मोक्ष हो जाना चाहिये, आत्मा भगवान्की विभूति है विभूतिवाले भगवान् व ब्रह्मके समीप, पर धर्मोका त्याग करता है इसलिये उनकी अन्यत्र प्रच्युति नहीं अर्थात् वे पीछे आवागमनमें नहीं आते हैं।।२९।।

इस तरह दोनोंके गुण-दोषोंका निरूपणकर अब निम्न श्लोकसे उनकेकिये अतिक्रम कर्म(अनुचित कर्म)का निरूपण करते हैं:

तान् वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान् वृद्धान् दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।
वेत्रेण चास्खलयताम् अतदर्हणांस्तौ तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ।३०।।

आत्माके स्वरूपको जाननेवाले, सबसे आयुमें वृद्ध होते हुए भी ५ वर्षके बालक जान पड़ते थे एवं वस्त्रविहीन थे ऐसे मुनिकुमारोंको बिना आज्ञा लिए कक्षमें प्रविष्ट होते देख, भगवत्स्वभावके शीलसे विपरीत भाववाले उन देवों (द्वारपालों)ने उनके तेजका तिरस्कारकर जो रोकनेके योग्य नहीं थे उनको वेंतसे भीतर जानेसे रोका. यद्यपि वे ऐसे अनुचित व्यवहारके योग्य नहीं थे।।३०।।

इसमें पहले द्वारपालोंका अनुचित व्यवहार बताते हैं, वहां उन दोनों देवोंका सहज स्वभाव वैसा होनेसे जो-जो किया यह कहते हैं, पहला हेतु

रोकनेका यह था कि वे वस्त्ररहित(नंगे) थे अर्थात् उनकी वायु ही रशना(लंगोट) थी, बालक भी कटि(कमर) पर वस्त्र लंगोट लगाते हैं, इसलिए इनको वह भी नही है. देवोंने इनको ज्ञानी नही किन्तु भ्रान्त(पागल सा) समझा, चारों एक जैसे देखे इससे आश्चर्य भी हुआ. कुमार पांच वर्षके समझे जाते थे, क्योंकि कालने उनकी इतनी ही आयुका भोग किया था, इनके जन्मके समयका विचार किया जावे तो ये वृद्ध हैं क्योंकि ब्रह्मकल्पमें जन्मे हैं इसलिये आधी आयु भोग चुके हैं, पांच वर्षके हैं यों कोई कहते हैं. वास्तवमें परार्द्ध द्वयवाली जो इनकी आयु है उसकी आधी बीत जानेसे ये वृद्ध हैं तथा ज्ञानसे भी वृद्ध हैं क्योंकि चिद्रूप आत्माका स्वरूप हम हैं यों जान लिया है, जिससे आत्मविद् हैं.

ऐसे महापुरुषोंकी मानमर्यादाका विचार न कर भीतर भगवद्दर्शनार्थ जाते हुए उनको वेंतकी लकड़ी लम्बी करके रोका जिससे उनके गिर जानेका संभव था 'च'से यों समझा जाता है कि वाणीसे भी निषेध किया, यों करनेके वे योग्य नहीं थे क्योंकि मुनि आत्मवित् तथा वृद्ध(ज्ञानवृद्ध) थे अतः उनको ठहराकर पूछना चाहिये था कि ऐसी शीघ्रता क्योंकर रहे हो? अब दर्शनका समय नहीं है ये दो कर्तव्य न कर उनके गिरानेका जिसमें तरीका था ऐसा जो कर्म रोकनेकेलिये किया वह अनुचित था, यों कहकर उन दोनों देवोंको दोषी निरूपित किया है.

'तेजो विहस्य' पदसे यह सूचित किया है कि इन्होनें इस प्रकार जो रोकनेका कार्य किया वह अज्ञानसे नही किन्तु कुमारोंके तेजकी हंसी उड़ाते हुए किया है वास्तवमें कुमार तो अपने तेजके प्रभावसे बिन पूछे भीतर प्रविष्ट हुवे थे, इसको न समझ एवं उनके ज्ञान, त्याग, स्वधर्म और देहादिके अभिमानका अभाव ही तेज है इसका विचार न कर, जो इनको दण्ड देनेकी इच्छा ही हास्यमें हेतु थी न कि कौतुक मात्र था. ऐसा अनुचित कार्य इन्होने क्यों किया जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवत्स्वभावसे इनका शील मायाने विपरीतकर दिया था, इस कारणसे इनमें इस समय स्वामी–सेवक धर्म भी न रहा किन्तु द्वारपाल होनेका गर्व उत्पन्न हुआ, वह(गर्व) दैत्य धर्म है जिससे इनको प्रतिकूल पदकी प्राप्ति होगी. 'शील' पदसे सूचित किया है कि वह कठिनाईसे बदलता है।।३०।।

इस तरह उनका अतिक्रमण कर्म कहकर अब इस श्लोकमें मुनियोंके अतिक्रमणको कहते हैं:

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम् ।

ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईषत् कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः।।३१।।

जब देवोंके देखते हुए द्वारपालोंके रक्षकोंने उन पूजनीय सर्वश्रेष्ठ मुनिओंको अपने प्रियतमके दर्शनमें भङ्ग डाला जिससे कामना निष्फल होनेसे कामके छोटेभाई क्रोधने नेत्रोंमें आके निवास किया इस प्रकार क्रोधोत्पत्ति होनेसे जो कुछ किया वह ३२वें श्लोकमें कहेंगे।।३१।।

'ताभ्यां' यह चतुर्थी विभक्ति होनेसे इसका भावार्थ यह है कि उन दोनोंकेलिये शाप कहने लगे. यद्यपि शापका अब विचारकर रहे हैं क्रोधसे जो वचन कहे जाते हैं वें भी शाप ही माने जाते हैं, अतएव रोके गये अर्थात् साक्षीमें स्थित देवोंने कहा कि इस प्रकार शीघ्रतामें शाप न दीजिये.

द्वारपालादिने जानेका निषेध तो कर ही दिया है, यहां वर्तमान कालका प्रयोग होना जंचता नहीं, इससे 'ताभ्यां' चतुर्थी विभक्ति कही है 'अनिमिषेषु मिषत्सु' इस पदसे देवोंको दोनों तरफ साक्षीपन कहा है क्योंकि वे पलक बंद नहीं करते हैं जिससे सबको सर्वत्र देखते ही रहते हैं इसलिए सबके साक्षी हैं, उन्होंने भी रोका यों भी समीप होनेसे भाव प्रकट होता है, अथवा उन दोनोंने ही रोका यों माना जाय तो 'ताभ्यां' तृतीया विभक्ति समझी जायेगी. वास्तवमें प्रवेशका निषेध दोनोंने ही किया है वर्तमानके सामीप्यमें वर्तमान प्रयोग होता है, 'स्वहर्त्तमाः' पदसे यह सूचित किया है, अतियोग्य होनेसे रुकावटके लायक नही थे, जो सदाचारी होते हैं उनको भी रोका नहीं जाता है ये तो शास्त्रानुसार परमहंस थे जिससे विशेष पूजनीय थे अधिकता यह है कि उस पर भी ज्ञानी हैं, अतः सर्व प्रकारसे आदरणीय थे, तब निषेध क्यों किया? जिस पर कहते हैं 'हरेः प्रतिहारपाभ्यां' ये हरिके प्रतिहारोंके रक्षक थे, हरि सर्व दुःखहर्ता हैं, भीतर जाने पर भगवान्का अतिक्रम (आज्ञाभङ्ग) होनेसे महान् दोष होगा, इसलिए भगवान्ने सर्वत्र बहुत द्वारपाल खड़ेकर दिये हैं जिनके ये दो स्वामी हैं अतः द्वारपालोंकी रक्षाकेलिए उनकी अपनी रक्षाकेलिए भी प्रवेशका निषेध किया, जब यों है तो इनको(मुनियोंको) क्रोध क्यों आया? इस पर कहते है कि ''सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्गे ...उपप्लुताक्षाः'' वे मुनि आत्मज्ञानी थे इसलिए इनकी सर्वमें आत्मबुद्धि थी भगवान्में भी आत्मबुद्धि थी, भगवान् भी आत्मवित् हैं अतः मित्र(सुहृद्) हैं इसमें भी उनके गुणोंसे अन्तःकरण निर्मल होता है इसलिए वे सुहृत्तम विशेष सुहृत हैं अपने भी इच्छित ज्ञानके साधक होनेसे, सुहृत्तम है उनके दर्शनकी लालसा मनमें हो रही थी, जिसने हम पर इतना

उपकार किया है उनके दर्शन करने ही चाहिए अब फल प्राप्त हो रहा है उस अवसरको कैसे गुमावे ? साधनसे स्वल्प(थोड़ी) कामना थी.

दर्शनकी इच्छाके अल्प(थोड़े) प्रतिबन्धसे ही भङ्गकर दिया इसलिए इनके मनमें ऐसी इच्छा न रही कि इनसे पुनः बातचीत द्वारा समाधानकर हम दर्शन करें इस कारणसे कामके छोटेभाईका जन्म हो गया. बड़े काम रुक जाने पर भी इनको क्रोध नहीं आता है जैसे ईश्वरवाक्यसे या मांगनेवालेको क्रोध नहीं होता है उनको द्वारपालोंका भी विचार नहीं आया एकदम नेत्र लाल हो गये जिससे इनको, उनके(देवोंके) गुण भी देखनेमें नहीं आये. लालाई ऐसी नेत्रोंमें भर गयी मानों अब सर्वनाश प्रलय होगा यों वैसे कहने लगे।।३१।।

इस श्लोकसे लेकर तीन श्लोकोंमें जो मुनियोंने वचन कहें वे बताते हैं:

मुनय ऊचुः

को वामिहेत्य भगवत्परिचर्ययोच्चैः तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः।
तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां को वात्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः।।३२।।

मुनि कहते हैं, हे द्वारपालो! भगवान्की महती सेवासे यहां आकर जो भगवत्सेवकोंमें रहे हों फिर भी आपका ऐसा विषम स्वभाव कैसे हुआ है? आपका स्वभाव तो भगवान्के समान समदर्शी होना चाहिये. यहांवाले सब समदर्शी हैं क्योंकि भगवान् परमशान्त समदर्शी हैं यहां तो कोई भी ऐसा नहीं है जिस पर शङ्का हो सके? तुम स्वयं कपटी विषम दृष्टिवाले हो जिससे अन्योंको वैसा देखते हो यह उचित नहीं।।३२।।

तयोः स्वाभाविको दोषः स्वामिद्रोहस्तथाऽपरः।
स्वस्यान्तरङ्गमित्रत्वात्तदुल्लङ्घनमेव च।।का.१।।

उन दोनोंका स्वाभाविक दोष और दूसरा स्वामीका द्रोह और (हम मुनिलोग) भगवान्के अन्तरङ्ग मित्र थे(हैं) इसलिए ड्योढीका उल्लंघनकर रहे थे।।१।।

दोषस्तृतीयो नाऽत्रोक्तो मित्रकार्यं परं कृतम्।
तथावचनसंदर्भात्सोच्यते जन्मसंख्यया।।का.२।।

तीसरा दोष यहां नहीं कहा है, मित्रोंने कार्य किया है, वैसे वचनोंके संदर्भसे मित्रकृत्य जन्म संख्यासे(तीनसे) कहा जाता है।।२।।

उनमेंसे पहले इन दोनोंका स्वाभाविक दोष कहा जाता है इस वैकुण्ठमें,

पूर्वजन्ममें की हुई भगवान्‌की विशेषसेवासे भूमिमें आकर रहनेवाले भगवत्सेवकों मेंसे तुम दोनोका ऐसा विषम स्वभाव कैसे हुआ है? जिससे हम लोगोंमें दोषकी बुद्धिकी है पुरुष(भगवान्‌)से द्वेष करनेवालोंकी बुद्धि लाभदायक नहीं होती है, यों पुरुषसे द्वेष करनेकी निन्दा की गयी है. किसीको प्रविष्ट करने देना और किसीको न करने देना यह उनकी विषम बुद्धि है यों कोई कहते हैं यदि यों होवे तो भगवान्‌ने द्वारपालोंको जो अधिकार दिया है उससे विरोध आता है. जो अपने हों वा माता-पिता हों उनको भी जब भगवद्दर्शनका समय न होवे तब जाने देना(वा छुट्टी देना) उचित नहीं है. इसलिए लौकिककेलिए यों करना द्वारपालोंको उचित ही है. वैसे नये आये हुवों और बड़ोका उपहास(मजाक करना) तथा क्रोध दिखाना वैकुण्ठ वासियोंको उचित नहीं है, सामान्यधर्मकी जगह पर विशेषधर्म करने पड़े तो करना उचित ही है उनके मतानुसार सब कुछ कर्मसे ही होता है. जिसमें भी भोगरूप फल तो कर्मसे ही भोगा जाता है, क्योंकि उनको भक्तिमार्गके स्वरूपका ज्ञान नहीं है, अतः निरन्तर भगवत्सेवा करनेसे यहां आकर स्थिति होती है यों मानते हैं, वहां(वैकुण्ठमें) भी जो भगवान्‌के समान गुणवाले, ब्राह्मणोंके हितेच्छु हैं, धर्ममें श्रद्धावाले एवं प्रेमवाले है उनके साथ रहते हुए इस प्रकारका विषम स्वभाव कैसे? वह क्यों? इससे यों सूचना दी है कि ये दो देव सहजमें वैकुण्ठसे भूमि पर नहीं आये हैं, ऐसे वचन अपने(मुनियोंके) मुखसे इस कारणसे निकलते हैं.

'को वा' इस पदसे अपमान प्रकट किया है वा 'कः'से अनादरका सूचन है मनुष्य तीन प्रकारके गुणवाले होते हैं जिससे कोई विषम स्वभाववाले भी हो सकते हैं, यहां इससे यह सूचना दी है कि वे शान्त पुरुषवाले और विग्रहरहित हैं तब यों कहा हैं, यह विषम स्वभाव, अपनेलिए है व भगवान्‌केलिए है? जो अपनेलिए हैं, तो तुम दोनों भगवदीय(भगवद्भक्त) नहीं हो, क्योंकि भगवान्‌के भक्त शान्त होते हैं यदि भगवान्‌केलिए कहो तो उनमें विग्रह(कलह) है ही नही अथवा आग्रह नहीं है वा देह ही नहीं है, देहाभाव(देह न होने)से किसीका भी उनसे अनिष्ट नहीं हो सकता है तथा न उनका कोई अनिष्ट कर सकता है. कलह न होनेसे कोई शत्रु नहीं है, आग्रह न होनेसे किसीकी अनुचितता नहीं मानते हैं, अतः यहां(वैकुण्ठमें) उत्पत्तिसे व उपपत्ति(हेतुसहित युक्ति)से विषम स्वभावका बोध किया जाता है तुम दोनोंका विषम स्वभाव है.

इस प्रकार उनके विषम स्वभावकी निन्दाकर, उन्होंने जो अपना

अतिक्रमण किया है उसको सिद्ध करते हैं, 'को वा आत्मवदिति...परिशंकनीयः' कपटी धूर्तोंके सिवाय कौन ऐसा है जो सत्पुरुषोंमें दोष देखता है? दुष्ट ही दूसरोंमें दोष देखते हैं, क्योंकि स्वयं ऐसे हैं, अतः जाना जाता है कि तुम दोनोंमें दोष (विषमता) है, इसलिये दूसरोंको भी वैसा ही देखते हो. परिचर्या ही वैकुण्ठ आनेमें हेतु मानते हो, न कि कपटरहित शुद्ध आत्मरूपको भावनासे की हुई परिचर्याको, अतः कपटसे सेवा द्वारा वैकुण्ठमें आके अधिकार प्राप्तकर स्वभावसे और अधिकारसे यों समझते हो कि जैसे हम आये वैसे दूसरा भी यहां आया होगा, इस विचारसे मानते हो जैसे हमारा स्वभाव विषम है वैसा दूसरोंका भी होगा, किन्तु आपका ऐसा स्वभाव इसलिये हुआ है जो आपको विषयका ज्ञान नहीं है अतः आपमें विषम दृष्टि है, यों उस पक्षका(मुनियोंका) द्वारपालों पर आरोप है. यों कहनेका तात्पर्य यह है कि इस प्रकारकी शङ्का हम लोगोंमें नहीं करनी, यदि हम लोग ऐसे विषम स्वभाववाले आत्मबुद्धिरहित हैं यों स्वीकारो तो हमको, रोक सकते हो अन्यथा नहीं, यदि हममें ऐसी कुशंका करोगे तो आपमें धूर्तत्त्व सिद्ध होगा, इसीमें हम निर्दोष हैं. तुम दोनों ही दोषी ही हो क्योंकि निर्दोष पर दोषारोपण किया है. आग्रहयुक्त बुद्धि, युक्तिकी विशेष अपेक्षा नहीं रखती है अतः इस पक्षमें समर्थ तर्कवाली युक्ति नहीं है यों ही आगेके पक्षमें भी जान लेना चाहिये।।३२।।

इस श्लोकमें द्वारपालोंने जो स्वामीका द्रोह किया उसका वर्णन करते हैं:

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षौ आत्मानम्आत्मनि नभो नभसीव धीराः।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं व्युत्पादितं ह्युदरभेदिभयं यतोऽस्य।।३३।।

समस्त ब्रह्माण्ड जिसके कुक्षिमें है उस भगवान्में यहां(वैकुण्ठके अन्दर) रहनेवाले ज्ञानी भक्त श्रीहरिमें अपनेसे कोई भेद नहीं देखते हैं परन्तु जैसे घटाकाश महाकाशके ही अन्तर्गत है वैसे सबको वैकुण्ठ भगवान्के ही अन्तर्गत देखनेमें आता है, फिर तुमको ऐसी विषम बुद्धि कहांसे आई जो भेदभावके कारण भयकी कल्पनाकर रहे हो?।।३३।।

इस शुद्ध सत्त्वात्मक वैकुण्ठमें रजोगुण एवं तमोंगुणके अभावसे उच्चत्व तथा नीचत्त्व भी नहीं है अर्थात् भेदभाव नहीं है और विशेषमें भगवान्में कुछ भी अन्तर(भेद) नहीं है, इससे जो ज्ञानवान् हैं वे भगवद्रूप हैं इसलिये उनमें तथा भगवान्में भेद करना स्वामीका द्रोह है और अधिक यह है कि जिस (भगवान्)की कुक्षिमें समस्त स्थित है, वैकुण्ठवासी सर्व पहले उस(भगवान्)की कुक्षिमें ही

स्थित थे वा अब सब नारायणके उदरमें स्थित हैं, अतः प्रथम पक्षमें वैकुण्ठवासियोंमें भेद करना उचित नहीं है, द्वितिय पक्षमें तो किसीसे(में) भी भेद करना योग्य नहीं है, उनकी कुक्षिमें ही समस्त स्थित हैं. यह श्रुति और अनुभव सिद्ध है, इससे श्रुति ''**आत्मैव इदं सर्वम्**'' ''**यस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम्**''. 'यह सर्व जो दिख रहा है वह आत्मा ही है', 'जिसके अन्दर अच्छी रीतिसे बहुत एवं समस्त रहता है' यों ओर श्रुतियां अनुभव प्रकट करती हैं ''**आत्मानम् आत्मनि नभो नभसीव धीराः पश्यन्तीति**'' अर्थात् अपनी आत्मा(चिद्रूप जीवात्माको) 'आत्मनि' भगवान्में. आत्माको सर्वत्व ज्ञानसे सर्व भगवान्में होगा, अथवा अपने दृष्टान्तसे अनुभव सिद्ध है, यह पहला पक्ष वादीको कहने योग्य नहीं क्योंकि वह समझे वा न समझे अतः दृष्टान्त द्वारा ''**नभो नभसीव**''से समझाते हैं जैसे घटाकाश जिस समय घटमें विद्यमान है उस समय भी वास्तविक स्वरूपमें घटाकाश होते हुए भी महाकाशका रूपान्तर है एवं महाकाशमें होनेसे उससे पृथक् वा अन्य नहीं है, वैसे ही सब आत्माएं उपाधिवाली भी भगवान् ही है, वा भगवान्में स्थित है. इससे प्रमाण है ''**धीराः पश्यन्ति**'' धीर पुरुष(अनुभवी) यों दर्शनकर रहे हैं इस प्रकार दर्शन करनेवाले अधिकारी वे हैं जो 'धीर' ज्ञान वैराग्य भक्तिवाले हैं, यह श्रुति 'धीराः पश्यन्ति' ब्रह्मवाद एवं भगवद्वादमें उत्पन्न होती है, तो भी आत्मवादमें अनुभव स्वाधीन ही है, अतः 'धीरा' यह ही अधिकारीका विशेषण है, धैर्य ही निश्चयसे आत्माके महाफलरूप ज्ञानसे प्राप्त होता है, अन्य फलकी इच्छाका अभावपूर्वक इन्द्रियादिका जय अथवा चित्तकी स्थिरता धैर्य है, यह धैर्य जिनमें है वे धीर कहे गये हैं.

इस प्रकार सब कुछ जो है वह सर्व भगवान्की कुक्षिमें अर्थात् भीतर स्थित है यों प्रतिपादन कर कहते हैं उस भगवान्का देवोंके चिह्नधारी तुम दोनोंने अपराध किया है देवोंका चिह्न तो धारण किया है किन्तु वस्तुतः तुम दैत्य हो, इसलिये 'युवयोः' षष्ठी दी है यदि 'युवाभ्यां' तृतीया देते तो उसका भाव यह भी हो जाता कि देव गतिसे यों हो जाता है, षष्ठी देकर सिद्ध किया है कि देवगतिसे नहीं बल्कि इनमें दैत्य सम्बन्ध है जिससे यों मुनियोंको इस प्रकार रोका है. जो थोड़ा(स्वल्प) भी भेद करता है उसको भय होता है जैसे भगवती श्रुति कहती है ''**यदा ह्येवैष एतस्मिन्न उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति**'' अर्थात् जब जीव इसमें उदरका भेद करता है तब उसको भय होता है, अर्थात् जो मनुष्य भगवद्भक्त

एवं ज्ञानियोंमें भगवान्‌से थोड़ा भी भेदभाव करता है उसको भय होता है, विशेष वा स्वल्प(थोड़ा) भी जो सेवक भेद करता है तो वह लोकमें स्वामीका ही किया समझा जाता है ऐसी दशामें उदर भेदियोंको, भगवद्भक्त व ज्ञानियोंको भगवान्‌से भिन्न समझ भेद करते हैं उनको जो भय होता है वैसा कृत्य(काम) इस विषयमें भी तुमने किया[१] है इसलिये यों समझना कि तुमसे स्वामी द्रोह हुआ है वह उचित ही है, यह 'हि' शब्दका तात्पर्य है, जो (कार्य) सेवक करता है वह स्वामी अपना समझ लेते हैं अर्थात् मान लेते हैं, यों होने पर भय होगा ही यह गूढ़ाशय है।।३३।।

१. जो थोड़ा भी भेद-भाव रखता है उसको भय होता है.

देवों(द्वारपालों)का किया हुआ कार्य स्वामी(भगवान्) स्वीकार नहीं करें तो स्वामीको भय नहीं होगा, वह भय इनको ही होगा, यों शास्त्रका अर्थ सिद्ध हो एवं भगवान्‌से भी मैत्रीका निर्वाह होता रहे तदर्थं इन दोनोंको शाप देते हैं:

तद् वाम् अमुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः कर्तुं प्रकृष्टम् इह धीमहि मन्दधीभ्याम्।
लोकान् इतो व्रजतम् अन्तरभावदृष्ट्या पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र।।३४।।

इससे हम तुम्हारेलिए यह विचारकर रहे हैं जो विकुण्ठके स्वामीकेलिए उत्तम हो और तुम्हारे योग्य हो, तुम मन्द बुद्धि, भगवत्सेवक होते हुए भी भेद दृष्टिवालोंके समान यहां कर्मकर रहे हों अतः यहांसे निकलकर पापी लोकमें जन्म लो जहां इनके तीन शत्रु रहते हैं।।३४।।

यह भगवान् सर्वके स्वामी, हम जैसोंके अनुग्रहार्थ विकुण्ठ स्थानमें विराज रहे हैं 'विकुण्ठ' शब्दसे शुद्धसत्त्व प्रकट कहा है. उस शुद्धसत्त्व(विकुण्ठ)के भर्त्ता होनेसे हमलोगोंके सत्त्वके भी भर्ता हुवे अतः उनका हित करनेकेलिये इस विषयमें जो उचित करना चाहिये, उसका ध्यानपूर्वक विचारकर वह साक्षात् करेंगे, तुम दोनों मन्द बुद्धिवालोंको यदि अनिष्ट दिया जायेगा तब उससे भगवान्‌का इष्ट(इच्छित) मनोरथ सिद्ध होगा. इसलिये 'मन्दधीभ्याम्' पद तृतीया और चतुर्थी दोनों विभक्तिकेलिये है ध्यान(विचार)कर निश्चित निर्णय कहते हैं 'लोकानितो व्रजतं' भेदभाववाली क्रूर दृष्टिसे जो अनुचित कार्य किया, इससे तुम यहांसे जोसे नीचे लोक है उसमें जाओ यह शुद्ध सतोगुण है इससे स्थान नीचेके लोक राजस-तामस हैं उनमें पहला राजस, दूसरा राजस-तामस और तीसरा तामस है, अवान्तर लोक बहुत हैं अतः तीन पापी जहां रहते हैं वह लोक कहा है, इन भगवान्‌की प्राप्तिमें रुकावट डालनेमें जो शत्रुरूप हैं वे जिस लोकमें रहते हैं वे

भगवान्के मानो शत्रु हैं अतः भगवद्भक्तोंकेलिये त्याज्य हैं, जैसे ''**कामः क्रोध तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्**'' ये काम, क्रोध और लोभमें तीन पापियोंके सम्बन्धित हैं भगवदीय(भगवद्भक्तोंके सम्बन्धी) नहीं हैं, किन्तु उनके विरोधी हैं, अतः भगवद्विरोधी ये कामादि तीन जहां रहते हैं उस लोकमें जाओ।।३४।।

देवोने(द्वारपालोंने) यों नहीं जाना था कि हम इनको रोकेंगे तो ये शाप देंगे इसलिये कुमारोंको उपहासपूर्वक रोक लिया अब जब देखाकि शाप ऐसा मिला है जिसका गदादिसे मिटाना असम्भव है अतः इस शापको मिटानेकेलिये प्रार्थना करें तो मिट सकेगा यों समझ, उनको प्रसन्न करने लगे जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

तेषाम् इतीरितम् उभाववधार्य घोरं तं ब्रह्मदण्डम् अनिवारणम् अस्त्रपूगैः।
सद्यो हरेर् अनुचरावुरु बिभ्यतस् तत् पादग्रहावपतताम् अतिकातरेण।।३५।।

उनके कहे हुए ये वचन घोर ब्रह्मदण्ड हैं, इनको शस्त्र समूहसे रोका नहीं जायेगा यों निश्चयकर, दोनों हरिके अनुचर बहुत भयभीत होके उनके पैरोंको पकड़कर उन(पैरों) पर गिर पड़े।।३५।।

यदि शापको स्वीकार करनेमें आवे तो वह दुःख व ग्लानिदायक नहीं होता है, उस शापका अङ्गीकार करनेकेलिये और इससे विशेष न कहें तदर्थ उनके चरणोंमें गिर पड़े पूर्वोक्त प्रकारसे कहे हुए उनके वचन सुनकर जान लिया कि यह ब्रह्मदण्ड है इसको शस्त्रादिसे हटाया वा रोका न जायेगा. यों निश्चयकर, हरिके अनुचर होते हुए भी उनके पैरोंमें गिर पड़े. न केवल गिरे किन्तु क्षमार्थ पैर पकड़ लिये 'सद्यः' इस कार्यमें कुछ भी विलम्ब न किया, क्योंकि डर लगा कि विलम्ब होने पर फिर ये शाप दे देवें अथवा भगवान् दण्ड देवें जब इन देवों(द्वारपालोंमें)से माया निकल गयी तब ये हरिके अनुचर होनेसे भगवदभिप्रायको जान गये कि दूसरे स्थानमें जाना हमारेलिये हित है ऐसी भगवदिच्छा है, वह सर्वदा हरि(दुःखहर्ता) है, दूसरे स्थान पर दुःखहर्ता कोई नहीं है उनके(कुमारोंके) मनमें जो दुःख उत्पन्न हुआ उसकों दूर करनेकेलिये उनके चरणों पर पड़े क्योंकि इन द्वारपालोंके स्वामी हरि(दुःखहारी) हैं, और अधिक कहते हुए भयभीत होने लगे, कारणकि उस समय ही श्रुतिके अर्थका इनको ज्ञान हुआ. इसलिये बहुत दीनतासे चरणोंमें पड़े, इसलिये मुनियोंके हृदयमें भी हमारेलिए दया उत्पन्न होवे।।३५।।

यों चरणोमें गिरकर एकको प्रार्थना करते हैं:

भूयाद् अघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो यो नौ हरेत सुरहेलनम् अप्यशेषम्।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेद् इह तु नौ व्रजतोरधोऽधः।।३६।।

हे मुनियों! आपने जो हम पापियोंको दण्ड दिया है वह उचित ही है, क्योकि हमने भगवदभिप्राय न जानकर आपका तिरस्कार किया, इससे हमको जो पाप लगा वह इस शाप द्वारा मिट जायेगा हमारी कुबुद्धिसे किये हुए कृत्यका फल यह दशा हुई है किन्तु आप इतनी कृपा कीजिए कि भगवत्स्मृति नाश करनेवाला मोह हमको न हो किसी भी तरह भगवान्की स्मृति(याद) बनी रहे।।३६।।

हम पापियोंको आप भगवानोंने जो दण्ड किया वह भले ही (द्वारपालोंके इस तरह कहनेका कारण अपने दोषकी स्वीकृति है) हम दोनोंने जो देवका अपमान व भगवदवज्ञा की, उसका दण्ड है. यह दण्ड, भगवान् जिनके देव हैं उन मुनियोंके, हमसे हुए पापोंको मेटेंगे. शापकी स्वीकृतिका कारण यह है कि यदि हम शापको स्वीकार नहीं करेंगे तो मुनिवर वरदान भी न देंगे, अतः स्वीकारकर प्रार्थना करने लगे 'मा वोऽनुतापकलया' आपके वृथा दिये हुए शापके लेशमात्रसे नीचे तीनलोकमें जाते हुए भी हमें मोह न होवे, काम, क्रोध और लोभसे नरक प्राप्ति होती है, न कि संसार प्राप्ति होती है मोहसे संसार होता है अतः इस प्रकारकी(मोह न होवे) प्रार्थना करनी उचित ही है यदि, आवश्यक होनेसे मोह उत्पन्न भी होवे तो भी वह(मोह) (भगवान्)की स्मृतिका नाश करानेवाला न हो किन्तु उत्पन्न हुआ भी मोहात्मक अज्ञान भगवत्स्मरण ही करावे, फिर भगवान्में मोह हो वैराग्य न हो.

'व्रजतम्' क्रियाका गूढाशय यह है कि जानो और फिर जल्दी आओ. अतः इस भगवान्के वाक्यसे फल प्राप्ति सिद्ध होगी यों जताया है. न केवल विस्मृति हो किन्तु स्मरण भी होता रहे. प्रार्थनामें यह भाव(रहस्य) भी है, 'अधोऽधः' पदसे दीनता प्रकट की है. दैत्यसे राक्षस निकृष्ट हैं किन्तु वह(राक्षस की) यानि देवयोनि है अतः उनसे मनुष्य निकृष्ट(नीची कक्षाके) हैं इनको क्रमशः तीन योनि भोगनी पड़ी १.दैत्य २.राक्षस ३.मनुष्य।।३६।।

मुनियोंने देवोंकी प्रार्थना स्वीकारकर उन पर कृपा की किन्तु प्रत्यक्ष नहीं की, क्योंकि पश्चातापसे जो व्याकुल हो उनको प्रत्यक्ष कृपा करना उचित नहीं है, विवेकसे अथवा सकल प्रतिरोध करे तब सर्वका निर्णय करनेकेलिये भगवान् स्वयं पधारे जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

एवं तदैव भगवान् अरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रमम् आर्यहृद्यः।
तस्मिन् ययौ परमहंस–महामुनीनाम् अन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः।।३७।।

भगवान् कमलनाभ जिनके प्यारे है वे इस कृत्यको जानकर उस ही समय लक्ष्मीजीके साथ श्रीचरणोंसे चलकर वहां आ गये जिन चरणोंको परमहंस और महामुनि भी ढूंढ रहे हैं।।३७।।

जब यों हुआ तब उसको जानकर उस समय ही उस स्थान पर पधारे, 'तदेव' उस समय ही कहनेका भाव यह है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं उनको जानकारी देनेकी आवश्यकता नहीं थी, यदि भगवान् सर्वज्ञ है तो पहले ही क्यों नहीं उपाय किया? जिसके उत्तरमें कहते है कमलनाभ होनेसे सृष्टि पैदा करनेवाले आप हैं, अतः पहले नहीं किया यों अर्थ(तात्पर्य) है इस विषयमें यह संदेह होता है कि, भगवान्ने मुनियोंका भी अपराध(दोष) समझा कि, केवल सेवकोंको ही दोषी जाना, दोनोंके दोषी होनेमें युक्तियां मिल सकती हैं इस पर निर्णय करते हैं कि 'स्वानां विबुध्य सदतिक्रम' अपने सेवकोंने सन्तोंका अपमान किया इसलिये वे अपराधी हैं, क्योंकि सन्तोका जो अपमान किया है वह पहला अपराध इन्होंने किया है. लोकमें भी जो पहले अपराध करता है वह दोषी माना जाता है और वह ही दण्डके योग्य होता है, जो बिना आज्ञा लिये ही घुस गये वे, दोषी क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं कि 'आर्यहृद्यः' भगवान्के जो सन्मार्ग पर चलनेवाले हैं वे प्रिय है, अथवा सन्मार्गियोंको भगवान् प्यारे हैं, अतः वे बिना पूछे चले आये इसमें दोष नहीं, इन प्यारोंका आना उचित ही था, दोनोंकी कृतिका समर्थन करनेकेलिये वहा आप स्वयं भगवान् पधारे, आप स्वयं इसलिये पधारे कि मुनियोंको मेरे सेवकोंने भीतर आनेसे रोका है अतः उनको भीतर प्रवेश कराना योग्य नहीं है उनको दर्शनकी इच्छा है और वे दर्शन करने योग्य भी है, इसलिये उनको दर्शनार्थ भीतर न बुलाकर आप स्वयं भगवान् लक्ष्मीजी सहित चरणोंसे चलकर उस स्थान पर आ गये, कारणकि उनको भगवच्चरणोंके दर्शनकी उत्कण्ठा थी. प्रभु चरणोंसे चलकर पधारे जिससे आपको श्रम हुआ यह देख दोनोंको खेद हुआ होगा, इस पर कहते हैं कि सेवकोंको तो खेद होना उचित ही है किन्तु मुनियोंको भी खेद होना योग्य है. कारणकि परमहंस तथा महामुनि दोनों दर्शनकेलिये चरणोंको ढूंढ रहे हैं. परमहंस पदसे धर्मका निष्कर्ष बताया और महामुनि पदसे ज्ञानका उत्कर्ष जनाया है, दोनोंमें जो उत्कर्ष हो वे भगवान्के चरणोंको ढूंढनेवाले होते हैं. इससे कर्म

और ज्ञान दोनों काण्डोंके अर्थकी सिद्धि हो जाती है यों बताया है शेष भक्ति ही रहती है. लक्ष्मीजीको प्रभुने साथमें लिया जिसका भाव यह था कि मुनियोंको बताना था कि जिस समय आप दर्शनार्थ भीतर आ रहे थे वह दर्शनका समय नहीं था फिर भगवान् श्री(लक्ष्मीजी)को साथमें बाहर ले आये, जिससे सेवकोंको दुःख हुआ मुनियोंको भी यह मालूम हो गया कि हम दर्शनके समय न होने पर दर्शन करना चाहते थे यह हमारा दोष(भूल) था जिससे उनको भी दुःख हुआ.

मतान्तर बताते है कितने ही कहते हैं कि १.लक्ष्मीजीको सन्तोष हो इसलिये उनको साथमें ले पधारे २.किसी समय लक्ष्मीजीको गर्व हुआ उस गर्वको मिटानेकेलिये भगवान्ने दूसरालोक(वैकुण्ठलोक) रचकर वहां जय-विजयको द्वारपाल बनाकर आप उसमें प्रवेशकर(जाके) बिराजे. द्वारपालों द्वारा लक्ष्मीजीको भीतर प्रवेश करने नहीं दिया, उसी दिनसे लक्ष्मीजीके मनमें उन(जय-विजय)के लिये द्वेष रहा हुआ है, और फिर कोई कहते हैं कि इनका, तीन जन्मोंसे सम्बन्ध कार्य करनेकेलिये शेष, लक्ष्मी और सुदर्शन भी आये इसमें दिखाये गए दो मत श्रीधरजीके नहीं है कोई दूसरोंके हैं।।३७।।

इस समय पधारे हुए भगवान्का वर्णन 'तं त्वागतं' श्लोकसे लेकर पांच श्लोकोंमें करते हैं कारणकि पहले जब वैकुण्ठका वर्णन किया तब भगवान्का वर्णन नहीं किया था. इसलिए(भगवान्) पांच विद्याओंकी प्रवृत्ति करानेवाले होनेसे यहां पांच प्रकारसे पांच श्लोकोंमें वर्णन किया है:

समागमक्रियायुक्तम्, समागमनहेतुकम्।
समागत्य स्थितं चाऽपि, दृष्टं नतमितिक्रमः।।का.१।।

पधारनेकी जैसी क्रिया थी, इसका वर्णन ३८वें श्लोकमें पधारनेका प्रायोजन ३६वें पधारकर जिस प्रकार स्थित हुए उसका ४०वें तथा दर्शन दिये उसका वर्णन ४१वें और फिर नमनका वर्णन ४२वें श्लोकमें है।।१।।

निम्न श्लोकमें पधारते हुऐ भगवान्का वर्णन करते हैं:

तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भिः तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधि-भाग्यम्।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायु-लोलच्छुभ्रातपत्रशशि-केसरशीकराम्बुम्।।३८।।

मुनियोंने अपनी समाधिके विषय प्रभुको चरणारविन्दोंसे शीघ्र आते हुए अपने नेत्रोंके पास पहुंचा हुआ देखा उनके साथ पार्षदगण भी छत्रचवरादि लेकर चल रहे हैं, वे पार्षद प्रभुके दोनों और राजहंसके पंखोंके समान दो श्वेत चवर

डुला रहे थे, उन चवरोंकी शीतल वायुसे प्रभुके श्वेत छत्रमें लगी हुई मोतियोंकी झालर हिलती हुई यों शोभित हो रही थी वा दिखाई देती थी कि मानो चन्द्रमाकी किरणोंसे अमृतमय छोटे-छोटेसे कण आकर सबको शीतलकर रहे हैं।।३८।।

उन्होंने(मुनियोंने) भगवान्के कैसे दर्शन किये? दृष्टिगत शीघ्र ही पधार आये. किन्तु सेवककी तरह नहीं स्वामीके समान इसलिए 'तु' शब्द दिया है इनको यह भी दृष्टि गोचर हुआ कि, भगवत्सेवकोंने पधारनेके समय जिन पादुकादि सामग्रियोंकी आवश्यकता थी. वे सब आगे धर दी थी और मुनियोंने उन देवोंको चरणों पर पड़ा हुआ भी देखा, उन्होंने(मुनियोंने) पहले भी ऐसे ही दर्शन किए थे किन्तु हृदयमें किये थे नेत्रोंसे प्रत्यक्ष नहीं किए थे अब साक्षात्(प्रत्यक्ष) नेत्रोंसे दर्शन किये, यद्यपि भगवान्के इन नेत्रोंसे दर्शन नहीं हो सकते हैं परन्तु जब उनको अपनी इच्छा दर्शन देनेकी होती है तो इन नेत्रोंको भी दर्शन दे देते हैं कारणकि स्वतन्त्र प्रभु हैं, उन(प्रभु)की पहचान 'स्वसमाधि भाग्यं' पदसे देते हैं यह प्रभु समाधिमें भी कदाचित् प्रकट होते हैं, जब प्रकट होते हैं तब समाधिका भाग्य समझा जाता है इससे यह कहा है कि जिनके समाधिमें भी दर्शन दुर्लभ हैं वे अब नेत्रोंसे कृपाकर दर्शन दे रहे हैं ऐसे उनके(मुनि आदिके) भाग्य उदय हुए.

प्रभुको पधारनेमें श्रम नहीं हुआ इसलिये आप छत्र चंवरादिके साथ पादुकाओंसे पधारे हैं जिनकी हंस जैसी(श्वेत) शोभा है ऐसे दो चंवरोंमें हुए रत्नदंडोसे हंसके पुच्छके समान शोभित दोनों तरफ झूल रहे थे. जिनकी सुखद वायु श्वेत छत्रको झुला रही थी, जो चन्द्रके समान छत्र अमृत वर्षा रहा था, क्योंकि अमृत बिन्दुके समान किरणोंवाली मुक्ताओं(मोतियों)की झालर बन्धी हुई थी, वे मोती ही वायुके चलनेसे जलकी बिन्दुओंके समान दिखते थे, 'शीकराः' पदसे यह सूचित किया है कि वे(मोती) नन्हीं-नन्हीं(स्वल्प) बिन्दुके समान वायुसे चलित हो भगवान्का थोडा सा स्पर्श कर रहे थे. अतः 'अम्बु' पदसे शीतलताका सूचन हुआ है अथवा सर्वत्र ही शीकर बहुत जलवाले हो गये, इसलिये 'अम्बु' पद दिया है. 'केसर' पदसे सुगन्धिका सूचन किया है, मन्दत्व और शीतलता तो स्पष्ट है ही, 'शशित्व'से तपत बुझाना सिद्ध ही है, अम्बुत्व कहनेसे तृषा मिटानेको प्रकट किया है. छत्र था इसलिये छाया भी थी, 'हंसत्व' कहनेसे लीला कर्तृत्व(करना) कहा है कल्याणरूप वायु कहनेसे बताया है कि यह वायु सकल वायुओंसे उत्तम है इसलिये यह वायु चंवरोंका सम्बन्धी है यदि यों

न होता तो महाभूत वायु अपनी चालसे ही प्रकट हो जावे कारण कि उस वायुमें कालादि धर्म होनेसे समय-समय पर बदलता रहता है यह कल्याणी वायु स्वभावसे शीतल नहीं रहता है यह कल्याणवायु स्वभावसे शीतल है अतः आनन्दप्रद है इत्यादि हेतुओंसे प्रभुको पधारनेमें परिश्रम नहीं हुआ।।३८।।

यों पधारते हुए भगवान्का वर्णनकर अब निम्न श्लोकमें आगमनके हेतुके रूपका वर्णन करते हैं:

कृत्स्नप्रसाद-सुमुखं स्पृहणीय-धाम-स्नेहावलोक-कलया हृदि संस्पृशन्तम्।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्वश्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम्।।३९

सर्वके ऊपर कृपा करनेकेलिए सुन्दर मुखवाले, वांच्छनीय कान्तिवाले, स्नेहरूप देखनेकी कलासे हृदयमें प्रविष्ट होनेवाले श्याम एवं विशाल वक्षःस्थल पर शोभित लक्ष्मीसे, स्वर्गादिके चूड़ामणि(शिरोमणि)रूप अपने स्थान (वैकुण्ठ)को सौभाग्यशालीकर रहे थे।।३९।।

भगवान्का वैकुण्ठमें विराजना, वैकुण्ठ बनाना और विवादके स्थान पर पधारना आदि कार्य सबके हितकेलिए ही हैं यदि ब्रह्माण्डमें वैकुण्ठ धाम न होवे तो ब्रह्मादिक कहां जाकर अपने कार्य पूर्ण करनेकेलिये प्रार्थना करें? अथवा यदि वहां भगवान् नहीं विराजते हों तो प्रार्थना होने पर भगवान् कैसे प्रकटे? अथवा यदि भगवान् स्वयं वहां न पधारें तो सबका समाधान कैसे हो? अतः ब्रह्माण्डमें जो सब हैं उन पर कृपा करनेकेलिए आपने सुन्दर मुखाकृति स्वरूप धारण किया है. इससे भगवान्का पधारना मुनियों वा जय-विजयमेंसे किसीकेलिए हानिकारक नहीं है. ४२वें श्लोकमें आनेवाले 'अङ्ग' पदके ये सब विशेषण हैं 'स्पृहणीयधाम' जिस(प्रभु)का तेज चाहने योग्य है दीपादिके तेजको सब नहीं चाहते हैं और न सर्वदा चाहते हैं क्योंकि उस तेजसे आनन्द प्राप्ति नहीं होती है परन्तु इन प्रभुके तेजसे आनन्दकी प्राप्ति होती है कारणकि 'आनन्दरूप' हैं. 'धाम' पदसे यह सूचित किया है कि कान्तिसे ही आनन्द उत्पन्न करनेवाले हैं इससे यह प्रकट किया है कि परिणामके विचार किये बिना ही(भी) सबकेलिये कृपाके कारण बने हैं किञ्च 'स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्' पदसे बताया है कि आप दूसरे समयमें अर्थात् अब दर्शन देनेके समयमें न देकर(बादमें) फलदान करेंगे यह बात नहीं है, किन्तु अब ही स्नेहपूर्वक जो अवलोकन आपकर रहे हैं उससे उस अवलोकनके एक भागके भी चिन्तनमात्र करनेसे प्रभु हृदयमें पधार जाते हैं,

अथवा कलाके साथ हृदयको स्पर्शकर रहे हैं जिससे सर्वके हृदयके ताप दूर करते हैं एवं उसमें ज्ञान उत्पन्न करते हैं यह सूचित किया है, इसी तरह उपयुक्त तीन विशेषणोंसे कार्य द्वारा बाहर तथा भीतर सबको सुख देनेवाले आपके श्रीअङ्ग हैं यह सूचित किया है. इसी तरह अङ्गमात्रके ही गुणोंको कहकर आभूषणोंके उपयोगका वर्णन करते हैं.

'श्यामे पृथावुरसि' श्याम वर्णवाले स्थूल वक्षःस्थल पर, जैसे कसोटी पर सुवर्णकी रेखा उसी तरह श्रीवत्स पर विराजमान लक्ष्मीसे स्वर्गोंके शिरोभूषण वैकुण्ठको सौभाग्यशाली बनाते, वह 'आत्मधिष्ण्यं' वैकुण्ठ अपने रहनेका स्थान है, भगवान् जो श्रीवत्स चिह्नवाला अपना असाधारणरूप ग्रहणकर वैकुण्ठमें विराजते हैं वह वैकुण्ठकी शोभाकेलिये ही है अन्यथा(नहीं तो) ऐसा रूप क्यों धारण करे? समस्त जगत्की शोभा स्वर्ग है उसका मुकुटमणि वैकुण्ठ है. उस(वैकुण्ठ)की शोभा वक्षःस्थलमें स्थित लक्ष्मीसे है. इससे यह सूचित किया है कि जैसे स्थानादिकी शोभासे लोककी(नगरकी) शोभा होती है वैसे ही भगवान्की सुन्दरता वैकुण्ठादि स्थानोंसे नहीं है किन्तु भगवान्की सुन्दरतासे ही सर्व सुन्दर हुवे हैं, यों निरूपण किया गया है. वैकुण्ठकी शोभा कहांसे वा कैसी हुई(होती) है? तो कहते हैं 'आत्मधिष्ण्यम्' अपने स्थान(निवास स्थान)से शोभा हुई है. 'इव' पदसे कहते है कि इतना ही प्रयोजन नहीं है किन्तु दूसरा भी है. लक्ष्मीके बिना कुछ भी शोभा नहीं है. वह तो चञ्चल है, इसलिए उसके रमणकेलिये श्यामरूप धारण किया है जो वर्ण शृङ्गाररूप है, स्थूल वक्षःस्थल आलिङ्गन योग्य है, उस(लक्ष्मी)के आनन्दार्थ वह स्थान(वक्षःस्थल) रहनेकेलिये दे दिया है. हृदय पर ही सर्वको सुख प्राप्त होता है क्योंकि सब कुछ भगवान्के हृदयमें ही रहता है इसलिये सबको सब तरह उससे सुख होता है यह भी केवल कहनेकेलिये है. वस्तुतः तो ब्रह्माण्डमें जो आनन्द प्रकट है वह ही भगवद्रूप है उससे सब सुखी हैं इसी तरह श्रीवत्सका प्रयोजन बताया है।।३९।।

पीताम्बरादि वस्त्रोंका प्रयोजन कहते हैं:

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या काञ्च्याऽलिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे विन्यस्तहस्तम् इतरेण धुनानम् अब्जम्।।४०।।

प्रभुके पीताम्बरसे सुशोभित,विशाल नितम्बोंवाली कटि पर चमकती हुई करधनी लटक रही थी, भ्रमरोंसे गुंजित वनमालासे धरी थी वैसे ही कलाईयां

सुन्दर वलयों(कंगण वा बाजुबंद)से सुशोभित थीं,अथवा सुन्दर कलाईयोंमें वलय पहने हुए थे. ऐसे प्रभु अपना एक हस्तकमल गरुडजीके कन्धों पर धर दूसरे हस्तसे कमलको फिराते हुए दर्शन दे रहे थे।।४०।।

पीताम्बरसे सुशोभित विशाल नितम्बोंवाली कटि पर चमकती हुई करधनीसे भोर भ्रमर गुंजित वनमालासे अपने स्थान(वैकुण्ठ अथवा जगत्)को सुशोभित कर रहे हैं.

यह पीताम्बर वेदरूप पृथ्वी पर फैला हुआ यज्ञादि द्वारा हृदयादिकी शुद्धि कर आत्माओंके स्थान(आसन)रूप अन्तःकरणको सुशोभित करता है. 'नितम्ब' पदसे हिमालयादिके समीप जो विस्तृतरूपमें भूमियां हैं वे सर्व प्रकारके फलजनक होनेसे कर्मभूमिरूप हैं अतः भगवान्के नितम्बवत् है, इससे यदि भगवान् आधिदैविकरूपमें पीताम्बरको धारण करते हैं तब ही यहां(भूमि पर) वेदका प्रचार होता है, तब ही भगवान्का हृदय सर्वका अधिष्ठान होता है, उस पर चमकती हुई सुवर्णकी बनी हुई करधनी(कन्दोरा) उपनिषदोंका अर्थरूप है उससे सुतरां ही महत्पुरुषोंका हृदय भगवान्का अधिष्ठान हो जाता है 'विस्फुरन्त्या' चमकती हुई कहनेका भाव है कि वह करधनी योगादि सहित ब्रह्मविद्या है, यदि वैसा न होवे तो कहीं भी भगवान्की स्थिति(विराजना) न हो सके 'वनमाला' जिसका तात्पर्य है कि भगवद्गुणोंका कीर्तन ही वनमाला है 'अलयः' पदसे यह सूचित किया है कि जिन्होंने कालको जीत लिया है ऐश्वर्यादि ६ गुण जिनमें विद्यमान(मौजूद) हैं वैसे तो भगवद्भक्त इन गुणोंका गानकर रहे हैं वे यहां भ्रमर माने गये हैं. यदि ऐसे भक्त भगवद्गुण गान न करें तो भगवान् हृदयमें नहीं विराजते हैं, इससे ही अर्थात् पीताम्बर, करधनी तथा वनमाला इन तीनोंको भगवान्ने धारण किया है तब पृथ्वी पर भगवात्प्राप्तिके तीन मार्ग प्रसिद्ध चल रहे हैं. 'च'से सूचित किया है कि विशेष भगवत्कृपा उपवीतरूपा है, इसी तरह तीनोंका विनियोग बताकर वलयादि तीन आभरणोंका विनियोग(भावार्थ) कहते हैं, भगवान्के चार हस्त चतुःपुरुषार्थरूप हैं. पुरुषार्थ सिद्ध करनेकेलिये जो क्रिया करनी पड़ती है उसके साधक(सिद्ध करनेवाले) ये चार हाथ हैं, उनकी शोभा चतुर्मूर्ति भगवान्के ज्ञान होने पर समझी व देखी जाती है. उनकी कलाईयोंमें जो बलय है वे ज्ञानरूप हैं यदि ज्ञान रूप वलय वहां धारण न किये होते तो कोई भी पुरूषार्थ सिद्ध नहीं होता अतः पुरुषार्थ सिद्धिकेलिये ही वलयोंका उपयोग(धारण) है.

गरुड़ कलात्मा है वह भगवान्के पराक्रमसे रुका हुआ है नहीं तो भक्तोंको भी खा जावे, कारण कि गरुड़, विनता नामवाली जो भगवान्की माया है उसका पुत्र गरुड़ काल है, वह ही श्रद्धा है यों वैष्णवतंत्रोंमें कहा है, उस गरुड़के कन्धे पर अथवा प्राणियोंके अदृष्ट प्रवाहमें, आपने एक हस्त धरा है जिससे वे रुके हुवे हैं 'इतरेण' इस वचनसे यः सूचित किया है कि भक्तोंकेलिये एक व्यापार (कार्य) लोकोंके भ्रमणार्थ, दूसरा कार्य, इसको कहते हैं 'इतरेण धुनानमञ्य' अन्य हस्तसे कमल फिरा रहे हैं, दूसरे हस्त कहनेका आशय यह है कि भगवत्सम्बन्ध रहितोंको मोह उत्पन्नकर रहे हैं, 'अब्जं' पदसे जगतरूप कमल अथवा अन्योंके ऊपर लीलारूप कमल फिरा रहे हैं।।४०।।

इस श्लोकमें कुण्डलादि तीनका विनियोग कहते हैं:

विद्युत्क्षिपन् मकर–कुण्डल–मण्डनार्ह–गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत् किरीटम्।
दोर्दण्ड–षण्डविवरे हरता परार्घ्य–हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन।।४१।।

बिजलीकी प्रभा(रोशनी)को भी तिरस्कृत करनेवाले मकराकृति कुण्डलोंसे सुशोभित योग्य कपोल और उभरी हुई नासिका युक्त मुखवाले, शिर पर मणिमय मुकुट धारण करनेवाले प्रभुकी चारों भुजाओंके मध्यमें महा मूल्यवान हारसे और गलेमें कौस्तुभ मणिसे शोभा अपूर्व हो रही थी।।४१।।

बिजलीको भी तिरस्कृत करनेवाले जो मकराकृतिवाले दो कुण्डल उनसे सुशोभित गण्डस्थल और उभरी हुई नासिकासे युक्त है मुखारविन्द जिनका, शिर पर जिनने मणियुक्त मुकुट धारण किया है इससे शिरके दो रूप वर्णन किये एक गोलाकार और दूसरा कोशका स्थानरूप, दो कुण्डल साङ्ख्य और योग विद्याके स्वरूप हैं, बिजली मृत्युरूप योग तथा साङ्ख्य विद्या मृत्युका तिरस्कार करती है. दो कपोल(गाल) प्रेम एवं प्रपत्ति(शरणागति) हैं साङ्ख्य और योग प्रेम और शरणागतिके अङ्ग हैं, वे वैराग्य प्राप्तिकेलिये तथा भगवत्स्मरणार्थ उपयोगमें लिये जाते हैं, वे दो शास्त्र मृत्यु निवारक होते हैं तब ही इस(प्रेम और प्रपत्ति) शास्त्रमें उपयोगी बनते हैं, जैसे जलजन्तु मकर(मगर) प्राकृत शरीरको ग्रस लेता है वैसे ही साङ्ख्य और योग शास्त्र मकररूप होके अभिमान और शरीरको ग्रस लेते हैं उन दोनोंसे सुशोभित गण्डस्थल अप्राकृतरूपके योग्य होता है. ऐसे हो जाने पर ही प्रेम(भक्ति, प्रपत्ति–शरणागति) पैदा होती है, क्योंकि सकल दोषोंका अभाव रूप आपकी नासिका उभरी हुई हैं, जिससे भक्तिमार्गकी शोभा होती है. उपनिषदोंका

ज्ञान आपका शिर हैं अथवा ज्ञानसे प्राप्य पारमेष्ठ्य, वह(शिर) भी मणियुक्त किरीट जिसके मुकुटमें स्थापित करते हैं यों कहनेसे यह सूचित किया है कि ये मणि भक्तरूप हैं अतः भगवान्के स्थान पर जा रहे हैं यदि वे न जावें तो सत्य लोककी शोभा ही न होवे. भक्तोंकी सत्यलोकमें स्थितिका कारण भगवान्का मणिमय मुकुट अपने मस्तक पर धारण करता है. हारका प्रयोजन कहते हैं 'दोर्दण्ड-षण्डविवरे हरतापरार्ध्य-हारेणेति' हस्तरूप डण्डे चार हैं उनके समूहके मध्यमें मनोहर(मनको हरनेवाले) अथवा तीनों लोकोंकी शोभाको हरनेवाले हार हैं, 'हरता' तृतीया पहचान करानेवाला यह चिह्न है इसलिये दी है, 'मुक्ताः' पदसे यह गुढाभिप्राय बताया है कि मुक्तजीव हार हैं, वे(मुक्तजीव) अपने संघात (पार्श्व भौतिक देह)का हरण करते हैं उन जीवोंका समूह वह मुक्ताहार, वे मुक्त जीव इस ब्रह्माण्डमें परार्ध्य है ब्रह्माकी आयु जिनका मूल्य है, अर्थात् ब्रह्माकी उत्पत्तिके समयसे लेकर समाप्ति पर्यन्त अन्य ब्रह्माण्डमें पुण्यपुञ्जा इकट्ठा करने वाले परार्ध्य हैं, 'परार्ध्य' पाठ हो तो जिसका अर्थ इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्माकी अर्द्ध आयु हरणकर लेते हैं. वैसे वे हार परार्ध्य हार कहे जाते हैं. इन हारों(मुक्तजीवों) की रक्षा भगवान् महान् प्रयत्नसे कर रहे हैं इसलिए इनके चारों तरफ हस्तरूप डंड रखे हैं जिनका उपाय न हो सके ऐसे दोषोंको दूर करनेकेलिए हस्तरूप डंडोके मध्यमें उनको रखा है, हस्तोंको केवल रक्षार्थ डंडे नहीं कहा है, किन्तु दुःख देनेकेलिए आनेवालोंके ऊपर प्रहार करनेके कारण डंडे कहे है. इसी तरह हरिका उपयोग कहकर कौस्तुभका उपयोग कहते हैं 'कन्धरा' पदके दो तरहसे अर्थकर उनको कंठ कहा है, 'कं(शिरः) धारयति इति कन्धरा कण्ठ' शिरको धारण करनेवाली वह कन्धरा अर्थात् कण्ठ 'कं(सुखं) धारयति इति कन्धरा कण्ठ' सुख(कौस्तुभ)को धारण करनेसे कन्धरा कण्ठ है. 'कौस्तुभ'के भावार्थ यह हैं पृथ्वी पर स्तुतिसे जो, भगवद्भक्त प्रकाशित हो रहे हैं, और मुक्तजीव इसके ही तत्त्वरूप हैं, उनका समूह ही 'कौस्तुभ' मणि है, वे ही कण्ठमें धारण किये हैं यदि कौस्तुभरूप इन भक्तजीवोंको अपने कण्ठमें धारण न करें तो उनको ब्रह्मानन्द प्राप्ति न होवे. 'च'से जाना जाता है कि कौस्तुभके सिवाय अन्य भी आभूषण धारण किये हुवे हैं, जो आभूषण गोपिकादि भक्तोंके तत्त्वरूप हैं, 'च' पद जहां श्लोकमें आया है. जिससे यों बोध(ज्ञान) होता है कि कौस्तुभ वक्षःस्थल पर भी धारणकी हुई है तब ही गोपी आदि अन्य भक्त जगत्के प्रकाशक सिद्ध होते हैं।।४१।।

इस तरह आभरणोंका उपयोग बताकर निम्न श्लोकमें श्रीअङ्गके सौन्दर्य तथा माहात्म्यका वर्णन करते हैं:

अत्रोपसृष्टम् इति चोत्स्मितम् इन्दिरायाः स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम्।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तम् अङ्गं नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः।।४२।।

भगवान्के श्रीअङ्ग बड़े ही सौन्दर्यवाले थे जिसे देख भक्तगण यों कहने लगे कि लक्ष्मीजीका सौन्दर्य इसके आगे फीका पड़ गया है जिससे उस(लक्ष्मी)का सौन्दर्याभिमान जाता रहा हैं, ब्रह्माजी देवताओंको कहते हैं कि मेरे महादेवजीके और तुम लोगोंकेलिए, परम सुन्दरतासे पूर्ण श्रीविग्रह धारण करनेवाले प्रभुका दर्शनकर मुनियोंने उन्हें शिरोंसे सानन्द नमस्कार किया तथा आपको अद्भुत सौन्दर्यवाली आकृति देख तृप्त नहीं हुवे।।४२।।

लक्ष्मीजीका सौन्दर्य गर्व यहां गलित हो गया है, अतः भगवान्की सुन्दरताका लेश प्राप्त करनेकेलिये वत्सकी तरह प्रयत्नशील हो रही है, 'इति' पद समाप्तिकी सूचना करता है और हस्तसे दिखाता है, कि त्रैलोक्यका सौन्दर्य यहां तिरोहित हो गया है. 'च' शब्दसे विशेष कहते हैं कि ब्रह्माण्डसे परे भी जो सौन्दर्य है वह भी फीका पड़ गया है, भक्तोकी निश्चयात्मिक बुद्धिसे जो विशेष प्रकारसे रचा हुआ एवं ध्यानादिसे जिसकी कल्पनाकी गई है, एवं सुन्दरतासे उत्पन्न गर्व जिसके अगाड़ी(आगे) त्यागा गया है, अथवा सौन्दर्य वा गर्व छोड़ दिया है, भगवान्का सौन्दर्य उसे भी उत्कर्षको प्राप्त करेगा जो लोग कहते हैं कि लक्ष्मी भगवान्से गर्व करती है इसी तरह लक्ष्मीका दोष ही कहते हैं, वे तिरस्कार करनेके योग्य है. यों कहना शङ्का युक्त है. वह भक्तजन बुद्धिसे ऐसा कैसे करेंगे? भगवान्की सुन्दरताके प्राकट्यका यह विनियोग(उपयोग) स्पष्ट ही कहा है, 'बहु सौष्ठवाढ्यम्' पदसे यह दिखाया है कि भगवान्के श्रीविग्रहके प्रत्येक अङ्गकी रचना बहुत सुन्दर तरीकेसे हुई है, वह कारीगरी ब्रह्मासे निर्मित कमलादिमें दीखती है, किन्तु वह कारीगरी भी जितनी ब्रह्मा जानता है, उतनी ही है, किन्तु प्रभुके श्रीविग्रहमें उससे बहुत अधिक कारीगरी है, इससे वह रूप सर्वप्रकारसे सुन्दर है. वह सौष्ठवं(सुन्दर रचना) पूर्ण है, इससे इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्माके बनाये हुए पदार्थोंसे अतिरिक्त भी बहुत भगवदीय(भगवत्प्रकटित) पदार्थ हैं, यदि यों न होता तो भगवान्के मूलरूपमें जैसी रचनाका उत्तम प्रकार होता ही नहीं इतनी दूर तक सृष्टिके पदार्थोंका उपयोग हुआ है, इसलिये अधिक वर्णन नहीं किया जाता है.

यह स्वरूप मूलरूप है यह समझानेके लिये इसका माहात्म्य कहते हैं 'मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्ग' इस वाक्यमें(मह्यं) पद चतुर्थीमें दिया है, किन्तु इसका अर्थ षष्ठिमें करनेका है. किन्तु(चतुर्थी) इसलिए कही है कि यह भगवत्स्वरूप अपने लिए(हम लोगोंकेलिए) फलरूपसे प्रसिद्ध हैं.

राजस, तामस और सात्विक आधिदैविक आदि भेदके कारण जो भिन्न हैं उन सबोंकेलिए यह रूप भजनीय है, भजनीयके स्थान पर(भजन्त) कहके यह सूचित किया है, कि भजन सफल है निष्फल नहीं हैं, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीताके श्लोकानुसार भजन सफल है. 'भजनीयं' यह पाठ तो स्पष्ट है. भगवान्ने सबकेलिए भजनीय स्वरूपका प्राकट्यकर सर्वको दर्शन दिए इससे अनिश्वर वादी(भगवान् नही हैं यों कहनेवाले) परास्तकर दिये(हरादिये) यदि यों न होता तो जिनको महाफल प्राप्त हो गया है, उनकेलिए भी भजनीय कैसे कहा जाय? ये मोक्षोपयोगि पदार्थ नहीं हैं, तब अधिकारीयोंको भजनीय कैसे हों? फिर सृष्टि प्रकरणमें यह कहना विरुद्ध गिना जावे, ब्रह्मादि भी नित्य भगवद्भजन करते हैं, अन्य मत अपूर्ण व असत् है यों सिद्ध करनेकेलिए ही भगवान् प्रकट हुवे हैं इससे सनकादि भगवान्के दर्शनकर यह ही भजनीय स्वरूप है यों जानते हुए उनको नमन करने लगे, प्रकाशित भगवान्के सकल गुण उनकी दृष्टिमें होने लगे जिस कारणसे नमन किया, नमन करनेसे जो दोष हुआ उसका निवारण करते हैं. 'नवितृप्तदृशः' जिनके नेत्र तृप्त नही हुए थे, तब नमन क्यों किया? क्योंकि नमन दर्शनमें प्रतिबन्ध डालनेवाला है, बाहर दर्शनमें उनको रस न होनेसे नमस्कारके भीतर प्रभुको पधराके फल आनन्द पाया, नमस्कार तो साधन है साधनसे फल(दर्शन) उत्तम है उसको छोड़ नमन कैसे किया? इस पर कहते हैं कि एक बार दर्शनसे ही यों पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है जैसे गंगामें घट निमग्न हो जावे, अतः प्रेमसे ही प्रणाम किया अथवा भगवदानन्दने ही उनको नमन करा दिया जिससे पूर्णानन्द ही चरणोंमें गिर पड़े उनकी दृष्टि तृप्त न हुई जिसका इससे तुच्छत्त्व निराकरण किया है, 'कैः शिरोभिः' मस्तकसे नमस्कार करना ब्रह्मविदोंका ब्रह्मत्त्व सूचन करता है।।४२।।

यों करनेसे भगवान्के गुण हृदयमें प्रविष्ट होते हैं इसको जतानेकेलिए उनमें भगवद्धर्म प्रविष्ट हुवे, निम्न श्लोकमें प्रकट करते हैं:

तस्यारविन्द-नयनस्य पदारविन्द-किञ्जल्क-मिश्रतुलसी-मकरन्द-वायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभम् अक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः।।४३।।

यद्यपि सनकादि मुनि अक्षरोपासक होनेसे ब्रह्मानन्दमें निमग्न थे तो भी भगवान् कमलनयनके पदारविन्दकी केसर सहित तुलसी गन्धके रसवाली वायुने नासिका रन्ध्रोंके द्वारा उनके अन्तःकरणमें जब प्रवेश किया तब उनके चित्त और देहमें खलबली मचा दी जिससे वे अपनेको संभाल न सके।।४।।

मुनियोंके चित और शरीरमें, भगवच्चरणाविन्द सम्बन्धी वायुने खलबली मचा दी यह तो अनुचित है, क्योंकि वे अक्षरब्रह्मके उपासक हैं. आत्मरूप ब्रह्मके उपासक होनेसे वे देह, इन्द्रियां अन्तःकरणके धर्माध्याससे रहित हैं, अतः उनको कहीं कभी भी क्षोभ नहीं होता है, भक्तिरस तो इनको प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी भगवत्सान्निध्यसे भगवदीयधर्म जैसे महान् दोषको दूर करते हैं तथा उत्तम गुणोंको भी ग्रहण कराते हैं, उस समय उत्तम गुण प्राप्त करानेवाले संस्कार उनमें आये यों 'तस्यारविन्द नयनस्य' वाक्यसे कहते हैं वे प्रसिद्ध कमलनेत्र भगवान्, जिनको अपना करना चाहते हैं उन सबको भक्त बना देते हैं, वैसे इन मुनियोंकी भी भगवान्को अपेक्षा थी, इससे भगवान्ने अपनी इच्छासे इनको भक्त बनाया है, भगवान् कमलनयनकी दृष्टिसे ही ये संस्कृत(संस्कार करनेवाले शुद्ध) हो गये. 'अरविन्द्यति इति अरविंदः' सूर्य बिना नाश हो वह अरविन्द जिनके(ज्ञानरूप प्रकाश) ऊपर उनका आधार था उसके सिवाय जो विरुद्धधर्म उनमें थे उनको भी निवृत्तकर दिया, कारणकि नेत्र पहुंचानेवाले धर्मको करते हैं, अतः दृष्टिसे बाधक धर्म दूरकर दिये और जो कामके (भक्तिप्रद) गुण थे वे स्थापित किए इनको भगवान्के ज्ञानरूप पादका स्पर्श हुआ था जिससे इनको जो ज्ञानीपनका हम आत्मवित् है ऐसा जो आग्रह रूप व अभिमान रूप दोष था, वह निवृत्त हो गया था वह चरण भी अरविन्द है इससे आत्माके प्रकाशके सिवाय अन्य गुणको दूर कर देता है. इससे ज्ञान धर्मका निरूपण किया, उन चरणारविन्दोंकी केसर धीरे-धीरे दोषोंको निवृत्त करनेवाली होनेसे औषधरूप है. उनसे युक्त भक्तिनिष्ठ भक्तपनको प्राप्त करानेवाले शरीरको उत्पन्न कर्ता रजसे मिश्रित वायु, नासिका मार्गसे भीतर अन्तःकरणसे प्रविष्ट होके स्थूल शरीरकी अपेक्षा(परवाह) न कर मध्यमें अन्य शरीर उत्पन्न करता है तब पहलेके चित्त और देहके कुछ अंशोंका ग्रहण एवं त्याग होनेसे खलबली होना उचित ही है, गन्ध जाने-आनेका द्वार नासिका है इससे वहांसे गन्धको जानेमें कोई रोकता नहीं है. फिर यह गन्ध तो आधिदैविक है इसलिये 'स्व' शब्द देकर यह सूचित किया है कि उन मुनियोंको सब साधन समान

है, अतः इस गन्ध पानेका छिद्र भी स्वतन्त्र हो सकता है. इसलिए ही चतुःसन होते हुए भी प्रह्लाद भक्त हुआ है, जय-विजयमें जो भक्ति थी वह प्रभुने इन चारों मुनियोंमें स्थापित कर दी और मुनियोंका ज्ञान जय-विजयको दिया।।४३।।

उन्होंने भक्तकी तरह प्रणाम किया जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

ते वा अमुष्य वदनासित-पद्मकोशम् उद्वीक्ष्य सुन्दरतराधर-कुन्दहासम्।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयम् अङ्घ्रिद्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः।।४४।।

उन्होने भगवान्का अत्यन्त सुन्दर अधर कुन्दकलीके समान हास्यवाला एवं श्याम कमलकली सदृश्य मुखको देखकर तथा आशिर्वाद पाकर फिर पद्मरागमणिके समान लाल नखोंसे सुशोभित प्रभुके चरणकमल देख उनका ध्यान करने लगे।।४४।।

निश्चय भक्त्यतिरेकसे व्याकुल उन चारोंने भगवान्के दोनों चरणकमलों पर ध्यान धरा. भक्ति ही चारोंतरफ भगवान्से सम्बन्ध जोडनेकेलिए एक साथ ही सकल देह-इन्द्रियादिमें खलबली उत्पन्न करती है. उस समय ज्ञान आदिसे वह खलबली नहीं मिट सकती है जिससे शान्ति सुख प्राप्त होवे, क्योंकि ज्ञान तथा भक्तिका परस्पर विरोध होनेसे समाधान नहीं हो सकता है. इसलिए केवल सर्व प्रकार समाधान करनेवाले भगवच्चरणारविन्द हैं, यों समझ उनका ही ध्यान धरने लगे. ध्यानसे पूर्व उनको शान्ति न होनेका कारण प्रभुके मुखारविन्दका दर्शन है, कुमारोंको भक्त बनानेवाले भगवान्का श्यामकमलकी कलीके समानरूपका दर्शनकर, आशिष प्राप्तकर, अनुराग युक्त दृष्टि पाकर, फिर कई बार देखकर बार-बार नमन किया और पुनः-पुनः मुखके दर्शन किये यों करनेसे उत्पन्न माहात्म्यज्ञानने तथा स्वरूप सौन्दर्य अनुभवने मुनियोंके अन्तःकरण तथा दृष्टिको अपने वशकर लिया, जीव तो उन दोनोंका क्रमशः अनुसरण करते ही समाधान करना चाहता था तो भी समाधान न होनेसे शान्ति न होती थी, यदि एकका किसी प्रकार समाधान होता तो दूसरेसे उपद्रव उत्पन्न हो जाता, एक प्रकारसे दोनोंका समाधान नहीं हो सकता. 'असितपद्मकोशम् इति अभूतोपमा' श्यामकमलकी कली यह अभूत उपमा है, क्योंकि श्यामकमल इस देशमें उत्पन्न नही होते हैं. अन्य देशोंमें उत्पन्न होते हैं, ऊंचा होकर देखनेमें नेत्र कारणरूप हैं इसलिए वैसा कहा है, वह सर्व श्याम नहीं था, रूपसे और ज्ञानसे उसका वैसापन होगा इसकी प्रसिद्धिकेलिए 'पद्म' पदका प्रयोग किया हुआ है अपनी जातिवाले जातिवालोंके

पोषक होते हैं इससे 'कोश' पदसे उसमें रहे हुए पदार्थोकी रक्षाकी सूचना दी है, ऊचा ही देखनेसे इस शब्द द्वारा यह बताया है कि चरणोंमें पड़े हुए मुखारविन्दका दर्शन करते रहेते थे. अत्यन्त सुन्दर कुन्द पुष्पके समान हास्यवाले मुखको देखते थे. यह हास्य ही आशिष है. अति 'सुन्दर' पदसे कहा है कि पूर्व अवस्थाका निवारण करनेवाली माया प्रवृत्त होती है तो भी पूर्व अवस्थामें प्राप्त सुखकी निवृत्ति नहीं होती है 'तरप्' प्रत्यय देनेसे यह सिद्ध किया है कि अधरमें विशेष आनन्द व सुन्दरता है. अर्थात् ब्रह्मानन्दसे भजनानन्दका महत्व होनेसे तब वहां (उसमें) परमानन्दसे अधिकरस लोभात्मक स्थापित किया है. इसलिए उस रसको स्पर्श करनेवाला हास, गोपियोंकी तरह सुख देनेवाला है. उस आनन्दमूर्तिके सुन्दरतरत्वमें अक्षरानन्द एवं भजनानन्दसे महान् आनन्द है यों जनाते हैं. अन्यथा केवल मोह अनिष्टका कारण है, कुन्द पुष्पकी समानता भौतिक, पदार्थोंसे रागकी निवृत्तिकेलिए है, मोह भी भक्तिकेलिए है न कि विषय भोगार्थ है, 'कुन्द'का अर्थ है पृथ्वीको खण्डन करनेवाला.

ऐसी कृपा सम्पादनकर फिर दर्शन करनेका कारण भगवच्चरणारविन्दोंको अपने हृदयमें स्थापित करना है, अतएव भगवान्के दो चरण प्रकट हों तो हृदयमें धरे जांय इसलिए ध्यान करने लगे, 'द्वन्द्व' पद अवतारके अभिप्रायसे कहा है, साकार ब्रह्मवादमें दूसरी तरह ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती है, भगवान्के वे चरण भक्तिमार्गके प्रसिद्ध सर्वपुरुषार्थ सिद्ध करते हैं यों जतानेकेलिए कहते हैं कि चरणोंके लाल नख मणिरूप अनुरागात्मक हैं अतः इनसे उनके(कुमारादिके) सर्व मनोरथ सिद्ध हुवे हैं।।४४।।

इस प्रकारसे उनके भीतरका भक्तकृत्य कहकर इस श्लोकसे बाह्य भक्तकृत्य स्तुति आदि कहते हैं:

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गैः ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम्।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धैः औत्पत्तिकैः समगृणन्युतमष्ट भोगैः।।४५।।

इस जगत्में योगमार्ग द्वारा मोक्ष पदका खोज करनेवाले पुरुषोंके ध्यानका विषय अत्यन्त आदर योग्य नयनोंके आनन्दकी वृद्धि करनेवाला पुरुषरूप जो गुणागान प्रकट करते हैं, उन हरिका गुणगानरूप स्वाभाविक अष्ट सिद्धियोंकी स्तुति वे मुनिगण करने लगे।।४५।।

मुनियोंसे की हुई यह स्तुति उचित एवं वास्तविक है कि असद् गुणोंकी

आरोपित स्तुति है, पहले गुणोंका ज्ञान प्राप्तकर पश्चात् उनका गान करना चाहिए, भगवान्के गुण तो भक्त ही जानते हैं. ये तो पहले भक्त नही थे तो इनसे गुण ज्ञान कैसे हुआ? इस शङ्काका समाधान करते हैं कि, यद्यपि पहले ये भक्त नहीं थे किन्तु योगी तो थे. उस समय योगसिद्धि आदि भगवान् द्वारा सिद्ध हुवे, उस मार्गसे उसी प्रकारका भगवन्माहात्म्य जाना जाता है यों कहनेकेलिए योगमें उपयोगी होनेवाले भगवान्की पांच विशेषणोंसे पहचान कराते हैं या स्तुति करते हैं योगमें प्रथम ध्यान करने योग्य स्वरूपका ज्ञान प्राप्त किया जाता है. अन्तमें योगकी सिद्धि देनेवाले स्वरूपका, मध्यमें तीनरूपोंका, इसी तरह इनके निरन्तर ध्यान करनेसे उस स्वरूपमें आदर होता है, तब वह स्वरूप विशेष आदरणीय बन जाता है. इसके बाद साक्षात्कार दर्शन होते हैं जिससे अर्थात् बाहर दर्शन होनेसे नयनोंको अभिराम(महदानन्द) प्राप्त होता हैं, वह योगी भीतर भी द्वितीय स्कन्धमें वर्णन किया हुआ प्रादेशमात्र पुरुषके दर्शन करता है. तब उसमें कहे हुए प्रकारसे फल मिलता है अणिमा सिद्धिरूप भी प्राप्त होता है यों वहां ही कहा है. योग अनेक प्रकारके हैं, जैसे फलकी इच्छा हो वैसा योग करना पड़ता है किन्तु कोई भी फल चाहिए तो इस एक ही रूपका ध्यान पर्याप्त(समर्थ) है, क्योंकि यह सर्व फलदाता स्वरूप है इसलिए ''नानाविधिगतिम् मोक्षरूपावा मृगयतां पुंसां ध्यान्यास्पदं'' विशेषण दिये हैं. पृथक्-पृथक् प्रकारकी गति अथवा मोक्षरूप गतिको ढूढनेवालोंकेलिए ध्यान करने योग्य है, 'पुसां' पदसे यह सूचित किया है कि प्रायः पुरुष ही योगाभ्यासकर योगी हो सकते हैं. बहुत समय योगाभ्यास करनेके बाद योगबलसे सर्व हो जाने पर भी प्राणियोंको क्या गति होती है ? ऐसी अपेक्षा होने पर उसके निश्चयार्थ कहते हैं, कि तदर्थ भी भगवान्का ध्यान करना उचित है. यों 'मृगयत' पद देनेका भावार्थ है अन्तर्यामीका स्वरूप ही पुरुषरूप होने वह ही साक्षात् फलको सिद्ध करनेवाले हैं, अन्यसे प्राप्त नहीं ऐसी सहज अणिमादि सिद्धियांसे भगवान्में हैं जिस कारणसे बहुतोंको सिद्धियां देते हुए भी आप खाली तो नही होते हैं किन्तु पूर्ण होनेके कारण सहज पूर्ण ही रहते हैं अणिमादि अष्ट सिद्धियां हैं जिनमेंसे छः मन सहित ज्ञानेन्द्रियोंको सुखद हैं और दो गुह्यन्द्रिय और वाणीको सुखदायी है. 'अष्टभागैः' पाठसे भी यही अर्थ होता है सम्यक् प्रकारसे स्तुति आगे स्पष्ट होगी।।४५।।

निम्न पांच श्लोकोंसे कुमार स्तुति करते हैं

कुमाराः ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त! राद्धः।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः पित्राऽनुवर्णितरहा भवद् उद्भवेन।।४६।।

कुमारोंने कहा हे अनन्त! यद्यपि आप सकल जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी स्वरूपसे बिराजते हैं. वह जीव चाहे दुरात्मा भी हो किन्तु दुष्टोंको दृष्टिसे छिपे हुए रहते हों आपसे उत्पन्न हमारे पिताश्रीने जब आपका रहस्य हमको सुनाया तब आप कर्णरन्ध्र द्वारा हमारे हृदयमें पधारे थे. अतः आज ही हमारे यहां पधारे हो यों नही हैं किन्तु नेत्रोंसे प्रत्यक्ष दर्शन करानेकी कृपा तो आज ही की है।।४६।।

योगे लोके तथा भक्तो भवान् विख्यातमङ्गलः।
सर्वात्मना वयं दासा लब्धं तत्र च यत्फलम्।।का.१।।

योगमें, लोक(वैकुण्ठ)में तथा भक्तिमें आप मङ्गलरूप हैं यों प्रसिद्ध है. हम आपके सम्पूर्ण प्रकारसे दास हैं, दासत्वसे जिस फलकी प्राप्ति होतो है वह हमको प्राप्त है।।१।।

एतावतैव तैः स्तोत्रं कृतं भक्त्याऽतिविह्वलैः।
अपराधस्य करणाद् नाऽधिकं स्फुरितं हृदि।।का.२।।

भक्तिसे बहुत विह्वल हुए कुमारोंने इतनी ही स्तुति की, क्योंकि अपराध करनेसे उनके हृदयमें भगद्गुणोंकी विशेष स्फूर्ति नहीं हुई।।२।।

इनमेंसे पहले भगवान्की ब्रह्मत्व भावसे स्तुति करते हैं यह स्तुति शास्त्रोंमें कही हुई है वा केवल प्रशंसा मात्र हैं यों समझनेमें न आवे तदर्थ कहते है कि जिस स्वरूपके पहले दर्शन हुए वह ही यह स्वरूप है ऐसी पहचान व पहलेका अनुभव करते हुए उनके अन्तर्यामित्वका समर्थन करते हैं. आप दुष्टोंके हृदयोंमें विराजते हुए भी इनको दर्शन नहीं देते हैं. वे आप आज ही हमारे सामने नहीं पधारे थे किन्तु आपसे उत्पन्न हमारे पिताके द्वारा वर्णित गुणों द्वारा कर्णरंध्रमें प्रविष्ट हो आगे भी हृदयमें पधारे थे तब हो परावृत दृष्टिसे आपके दर्शन किये थे इसलिए तब ही हमारे नेत्रोंके मूलके पास पधारे थे. शास्त्र तथा अनुभवसे निश्चय होता है कि यह स्वरूप ब्रह्मका ही है, शास्त्र यों कहता है कि यह स्वरूप दुरात्माओंको दृष्टिगोचर नहीं होता है किन्तु सत्पुरुषोंको होता है यों भी नहीं कहता है. इसलिए श्रुति कहती है कि शोकरहितको दर्शन होता है जो अधिकारी नहीं हो उसको दर्शन नहीं होता है. जिस पर भगवत्कृपा होती है अर्थात् भगवान् स्वयं कृपासे जिसका वरण करते हैं

उसका दर्शन होता है हृदयमें विराजते हुए भी दुष्टोंको दर्शन न देनेवाले भी आप ही अन्तर्यामी स्वरूप हैं शास्त्रमें भगवान् नामसे आप ही कहे गये हैं वे ही पाप हृदयमें प्रकाशित हैं यह हम लोगोंको अनुभव सिद्ध भी है अतः आज ही हमारे नयनके समीप पधारे हो यों नहीं है. यदि भगवान् बाहरकी इन्द्रियोंसे दर्शन दें तो आत्मा नहीं कहे जायेंगे इससे आत्मस्वरूपके दर्शन करनेवाले हम लोगोंके नेत्र भी पीछे लौटे हुए है इसलिए वस्तुतः यह बाहरका दर्शन नहीं है पूर्व(भीतर) किये हुए आत्मदर्शनके समान ही है यों सिद्ध करनेकेलिए ही कहा है कि आपने आज ही दर्शन दिये हैं यों नहीं है, केवल पहले बाहर दर्शन होता तो अनादर प्रतीत होता किन्तु यह दर्शन पहले भीतर किये हुए आत्माके स्वरूपका ही कृपासे प्राप्त हुआ है, इससे अनादर नही है.

भक्तिमार्गानुसार भी भीतर भगवान्का साक्षात्कार हुआ है यों कहने केलिए ही 'कर्ण विवरेण गुहां गतः' वाक्य कहा है यो न होता तो भीतर ही उनका आविर्भाव कह देते, यों न कहकर कर्णरन्ध्रसे प्रविष्ट कहा यह भगवत् शास्त्र है पहले भी हम भगवदीय थे यदि भगवद्भक्त न होते तो हमारे पिता ब्रह्मा हमको भगवद् रहस्य कहकर नहीं सुनाते, यों भी नही है कि ब्रह्मा शास्त्राधिकारको नहीं जानते थे. यों भी नहीं कह सकते हो क्योंकि वे आपके औरसपुत्र हैं अतः 'स्वांनां भाव सरोरुहम्' अपने भक्तोंके भावरूपी कमल इस वाक्यसे विरोध नहीं है।।४६।।

इस तरह भगवान्की परब्रह्मपनसे स्तुति की यह अर्थात् अन्यके गुण इसमें आरोपण करके की गयी है, इस प्रकारकी शङ्काका निवारण करते है:

तं त्वा विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तम् एषाम्।
यत् तऽनुतापविदितैर् दृढभक्तियोगैर् उद्ग्रन्थयो हृदि विदुर् मुनयो विरागाः।।४७।।

भगवान्! आप साक्षात् परमतत्त्व हैं यों हम जानते हैं इस समय अपने इन भक्तोंको प्रेम देनेकेलिये सत्त्वात्मक श्रीविग्रहसे प्रकट हुए हैं, अनेक प्रकारके तापोंसे दृढ हुए भक्तियोगोंसे जिनकी मायोत्पन्न अहंकारादि गांठे शिथिल हो गयी हैं ऐसे वैराग्ययुक्त मुनियोंके इस स्वरूपका हृदयमें अनुभवकर रहे हैं।।४७।।

आप वह ही परब्रह्मरूप हैं यों हम जानते हैं, एक प्रकारसे जानकर दूसरी तरह कहनेकेलिये उत्प्रेक्षा करनी पडती है. प्रकृत(चालू) प्रसङ्गमें यों नहीं है किन्तु आपको परमात्मतत्व ही हम जानते हैं, ये मुनि सांख्यशास्त्रका अनुसरण करनेवाले हैं(यों हंसगीतामें सिद्ध किया गया है). ये सर्वत्र 'तत्त्व' शब्द काममें लाते हैं

'तत्त्व'का तात्पर्य है स्वाभाविकरूप तत्त्वोंमें आत्मापन एक तत्त्व है यों इनके साङ्ख्य मतमें माना जाता है, तथा वह आत्मा भी तीन प्रकारकी है, हम लोग जो जीव कहलाते हैं वे भी आत्माके अंशसम होनेसे १.आत्मा कहलाते हैं २.आत्मा वह है जो पच्चीस तत्त्वोंमें श्रेष्ठ प्रकृतिका अधिष्ठाता है, उनमें भी उत्तम असङ्ग उदासीन परमात्मा है, वह ही प्राप्त करने योग्य है. इसलिये हम आपको वहां प्राप्य परमात्मा जानते हैं, वह परमात्मतत्त्व तो स्वतः प्रकाशरूप है तथा आत्मवृत्तिसे जानने योग्य है. न कि वे नेत्रोंका विषय हो सकते हैं? ऐसी शङ्काका निवारण उनके मतानुसार दृश्यमानत्वं सिद्ध करते हैं, 'सत्वेन सम्प्रति रति रचयन्तमेषां' अब वैकुण्ठमें स्थित इन भक्तोंको आनन्द प्राप्त हो तदर्थं शुद्ध सत्वको आकाररूपकर आप पुरुष स्वरूपसे दर्शन दे रहे हो, जो असंग और उदासीन परमात्मा हैं वह ही यों पुरुषरूप धारणकर रहे हैं, यदि यों न करे तो उसका फलपन एवं शास्त्रार्थपन सिद्ध न होवे तथा स्वभक्तकी इच्छा पूर्ण न होवे अतः भक्तानुरोधसे यों करते हैं किञ्च यदि भगवान् अपना सत्वमें वासत्व द्वारा प्राकट्य न करें तो ज्ञानकी भी सिद्धि न हो सके इसलिये कहते हैं कि 'यत्तेऽनतापविदितेरित्ति' जिस पंक्तिसे बताते हैं कि जीव जन्म जन्मान्तरमें चक्कर काटते हए बहुत दुःखी होता है तब सतत दयालुको अपने अंशरूप आत्मा(जीव) पर दया आती है वे(परमात्मा) जानते हैं कि मेरी प्राप्तिकेलिये हो इसने ये दुःख भोगे है तब कृपया उन जीवोंको योगमार्गका ज्ञान कराते हैं वे मार्ग ही दृढ तथा भक्तिमें मुख्य हैं अथवा भक्तिमार्गके प्रसिद्ध 'प्र' योग है. भगवान्का सत्व जब प्रकट होता है तब ही फलकी प्राप्ति होती है. भगवान्की कृपासे ही मायाकी गांठ टूटती है कारणकि अहंकारकी गांठ रजो गुण तथा तमोगुणसे दृढ होती है वह दृढ़ता सत्वके प्रकट होनेसे शिथिल होती है.

सत्त्वसे ही मुनि तथा वैराग्ययुक्त बन सकते है, केवल भक्तियोगसे भगवान्का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु सत्त्व सहित भक्तियोगोंसे ही भगवान्का ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये सर्वके ऊपर उपकार करनेवाला जो सत्त्व गुण है उसको भगवान् प्रकट करते हैं. यों अर्थ तात्पर्य है।।४७।।

इस तरह सन्तोंके मार्गानुसार यह सत्त्वरूप है यों निरूपणकर निम्न श्लोकमें कहते हैं कि भक्तिमार्गानुसार वह स्वरूप परम पुरुषार्थरूप है:

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।

येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः।।४८।।

हे अङ्ग! आपके चरणोंकी शरण जिन्होने ली है, कीर्तन करने योग्य तथा तीर्थरूप यशवाली आपकी कथा(गुणगान)में कुशल हैं, और उसके रसको जानने वाले हैं वे आपके मोक्षरूप प्रसादको भी विशेष आदर नहीं करते हैं तो टेढी भ्रौंसे भयको प्राप्त होनेवाले इन्द्रपदादिका अनादर करे तो उसमें कौनसी विशेषता है।।४८।।

हे प्रिय! जो आपके चरणोंकी शरणमें पड़े हैं वे मोक्षकी भी परवाह नहीं करते हैं, जो सजातीय संसारसे निवृत्त हो गया है वह फिर उस आत्मामें उत्पन्न नहीं होता है जिस मोक्षको आत्यन्तिक कहते हैं वह भी अपने किए हुए साधनोंसे सिद्ध नहीं होता है. किन्तु भगवान् प्रसन्न होकर(बनकर) सिद्ध हुई सामग्रीकी तरह जब प्रसादरूपसे देते हैं तब ऐसे भक्त उसको लेते नहीं यह तो दूरकी बात है किन्तु(उसका) आदर भी नहीं करते हैं, यह क्या कह रहे हो ? भक्त, भगवन् प्रसादका आदर कैसे न करेंगे. इस पर कहते हैं 'विगणयन्त्यपि ते' आदर नहीं करते हैं यों तात्पर्य नहीं है आदर तो करते हैं किन्तु भक्तिको विशेष प्रकारसे आदर योग्य समझते हैं. ऐसा आदर योग्य समझते हैं. ऐसा आदर मोक्षका नहीं करते हैं, यहां आदर न करनेका तात्पर्य तिरस्कार करना नहीं है, किन्तु जब प्रभुके प्रसादोंकी गणनाकी जाती है, तब मोक्ष आवश्यक प्रसादरूप है यों आग्रहपूर्वक आदर(गणना) नहीं करते हैं, जहां मोक्षकी यह व्यवस्था है वहां अन्योंकी क्या गणना होगी, 'तु' पद विषयोंकी गणनाको नहीं करनेकेलिये है, क्योंकि विषयासक्त मोक्षको नहीं चाहते हैं अतः वे उसका आदर नहीं करते हैं.

भक्तोंको तो भगवत्सेवामें उपयोगी पदार्थोंकी आवश्यकता है उनकी उपेक्षा कैसे करेंगे? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अन्यत' जो सेवामें उपयोगी नहीं है वह चाहे मोक्ष भी होवे तो उपेक्ष्य है, जो परम्परासे भी सेवोपयोगी नहीं वे भी उपेक्ष्य हैं यह बतानेकेलिये दूसरा विशेषण कहते हैं 'अर्पितभयं' भयका अर्थ मृत्यु है, भगवदीय पदार्थोंकी यही पहचान व दृष्टान्त है कि जो न भयजनक(मृत्यु करने वाला) है और न नाशवन्त है जिसमें कारण देते हैं 'भ्रुव उन्नयैस्ते' भगवान्की भौंह ही कालरूप है उसको टेढी करनेसे सकल विरोधोंका उल्लंघन होकर कार्य सिद्ध होता है अर्थात् उनका नाश हो जाता है किन्तु भगवान् अपनी सेवामें अपेक्षित (आवश्यक) विषयोंको ऐसा(नाश) नहीं करते है.

मोक्षकी गणना(दरकार) नहीं करते हैं जिसकी उपपत्ति(हेतुपूर्वक युक्ति) बताते है, 'अङ्ग' हे प्रिय! यह कोमल सम्बोधन इस आशयसे दिया है कि जब भक्त भगवान्के गुण श्रवण करते हैं व गाते हैं तब भगवत्समान हो जाते हैं क्योंकि उस समय भगवान् उनमें विराजते हैं अथवा भगवान् श्रवण-स्मरण भक्तिका अङ्ग बन जाते हैं, इससे भी मोक्षका आदर(गणना) न करना कहा है, कारण कि जहां मोक्ष देनेवाला अंङ्गी भगवान् भी जिस भक्तिमें अङ्ग बन जाता है, वहां मोक्ष क्या है? भक्तोंकेलिये सेवोपयोगी सर्व सामग्री मोक्षसे ही अधिक हैं. उसमें पहले उनके गृहका निरूपण किया जाता है, 'त्वर्दाङ्घ्रशरणः' आपके दोनों चरण ही उनके रक्षक एवं गृहरूप हैं, मोक्ष आदि तो आपके चरणोंके लेशरूप(स्वल्पभाग) है वे चरण एक तरह आधार(गृहवत्) होते हैं दूसरी तरफ सेवक(रक्षा करनेवाले) होते हैं, अर्थात् भगवच्चरण भक्तकेलिये आश्रय तथा रक्षक दोनों ही हैं.

भगवान्की भक्ति स्वतन्त्र है एवं सात तरहकी है, एक प्रकारसे दूसरा प्रकार अधिक है, इसमें जो भगवद्भक्त पहली कक्षामें हैं वे ही मोक्षकी परवाह नहीं करते हैं, तो अन्तिम कक्षामें स्थित न करें तो कौनसा आश्चर्य है. चरम कक्षावालोंको कहते हैं, 'भवतः कथायाः रसज्ञाः' जो आपकी कथाके रसको जाननेवाले हैं, भगवान्का रस दोनोंमें(रूपलीलामें तथा नामलीलामें) धरा हुआ है, उनमेंसे जो रूपलीलामें आसक्त हैं, वे भगवान्के सदैव अनुकूल करते हैं, यों न रहे तो सेवा बन नहीं सके अतः यहां कथारसका वर्णन किया जाता है. कथाका रस अनुभवसे ही जाना जाता है, इसलिये 'रसज्ञा' पद दिया है अर्थात् इसको जाननेवाले. जैसे कामादि हृदयमें मौजूद होने पर ही कामिनी(स्त्री) आदिके नाम, रूप और रसका अनुभवकर सकता है, इसमें रसके अनुभव करनेके सिवाय दूसरा कोई प्रमाण नहीं है, यदि पुरुषमें कामादिका अभाव हो तो इसको रसकी स्फूर्ति नहीं होती है, क्योंकि रसकी स्फुर्ति अधिकारी(रसज्ञ)में ही होती है, इसलिये ही 'पुरुषः' न कहकर 'रसज्ञा' पद दिया है रसिकोंके हृदयमें ही बीज है अतः वह प्रफुल्लित होता है. वह अधिकार, शास्त्र और अनुभवसे तथा प्रेम एवं ज्ञानसे ही होता है. अन्य(लौकिक विषय सम्बन्धी) रसोंमें जिनका चित्त आविष्ट है उनको यहां कथामें रसकी प्राप्ति नहीं होती है. इसलिये ऐसे मनुष्योंको पृथक् करनेके लिये ही भगवान्के यह विशेषण 'कीर्तन्यतीर्थयशसः' दिये हैं कीर्तन करनेके योग्य और तीर्थरूप यशवाला भगवान्की कथा, यशका प्रतिपादन करनेवाला है, यश,

सबको और भगवान्को सुनने पर रस पैदा करनेवाला है, जो अन्य रस स्वाभाविक है वह पहलेकी रसासक्तिको मिटाता है, यह अनुभवसे सिद्ध है. विशेष स्वरूपके कारण भी पूर्वरसके निवर्तक हैं, इसलिये दो विशेषण दिये हैं 'कीर्त्तनीयं, तीर्थरूपम्' १.कीर्तन करने योग्य, २.तीर्थरूप. कीर्तन करने योग्य वह होता है जिससे कीर्तन करनेवालेके हृदयमें रस उत्पन्न हो, शास्त्रसे अथवा अनुभवसे. अनुभवसे रस पैदा करनेवाले अर्थ और काम दो पुरुषार्थ हैं और शास्त्रसे धर्म तथा मोक्ष रसजनक हैं, जो सबको रुचि उत्पन्न करनेवाला लोकमें कोई नहीं है, इसलिये चारों प्रकारके पुरुषार्थमें रस उत्पन्न करनेवाला भगवान्का यश ही है. इसलिये वह(भगवद् यश) ही कीर्तन करने योग्य है अर्थात् उसका ही कीर्तन करना चाहिये. तीर्थ दो तरहके हैं एक गुरु तीर्थ है दूसरा जलरूप गङ्गा यमुनादि तीर्थ हैं ये बाहर एवं भीतर दोनोंका उपकार करनेवाले हैं, जो विशेष साधन करनेमें असमर्थ हैं और सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करना चाहता है उसको इन दोनोंका सेवन(आश्रय) करना चाहिये, वे दोनों स्थितिके निर्वाहक हैं अतः मरण तक वहां रहने पर सुखपूर्वक पुरुषार्थ सिद्ध होता है. कहीं भी हो पुरुषार्थमें आसक्ति वालोंको भगवद् यश ही सुनना चाहिये, क्योंकि वह तीर्थरूप है, यहां स्वभावसे जो अधिकारी है उसका सूचक विशेषण कहते हैं कुशलाः निपुणता अर्थात् बुद्धिकी तत्क्षणता, इसकी अपेक्षा है, अर्थात् जिसकी बुद्धि सारासार, सत्यासत्य जाननेवाली है वह स्वाभाविक अधिकारी है।।४८।।

यों भक्तिमार्गानुसार भगवत्स्तुतिकर हम निरपराधी होवे तदर्थके साथ अपने दोषोंका निम्न श्लोकमें स्वीकार करते हैं:

कामं भवः स्ववृजिनैर् निरयेषु नः स्तात् चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचस्तु नस्तुलसिवद् यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः।।४९।।

हे प्रभु! यदि हमारा चित्त भ्रमरकी तरह आपके चरणकमलोंमें रमण करता रहे, एवं हमलोगोंकी वाणी तुलसीके समान आपके चरणकमलोंके सम्बन्धसे सुशोभित होती रहे तथा हमारे कर्ण आपके गुणगणोंसे पूरित होते रहें तो अपने पापोंके फल स्वरूप भले नरकादि लोक प्राप्त होवे उसकी हमें चिन्ता नहीं है।।४९।।

जय-विजयको हमने यों ही छलसे शाप दिया है, यों नहीं है किन्तु भगवान्के दर्शनकी उत्कट इच्छा थी वह पूर्ण न होगी तो कदाचित किसी

प्रकारकी हमारी हानि न हो जावे इस भांतिसे शाप दिया इसलिये 'कामभवः' कहा है 'स्ववृजिनैः स्वकृतपापैः' नियमपूर्वक जिससे दुःख मिले वह वृजिन(पाप) कहा जाता है. अतः जो दूसरेको दुःख देता है वह खुद भी दुःख पाता है इस कारणसे भले हम लोगोंका जन्म नरकोंमें हो, क्योंकि काम, क्रोध और लोभ तीन नरक द्वार कहे हैं, 'पापीयसस्त्रयः' इस वाक्यमे उन दोनोंको(जय-विजयको) काम आदि दिये हैं, 'निरयेषु' बहुवचन तीनकेलिये नहीं है, किन्तु अधिकता बतानेकेलिये है, क्योंकि विशेष उत्तम देशमें किये हुए दानका फल अधिक मिलता है. 'स्तात्' यह पद लोट्लकारका प्रार्थना अर्थमें दिया गया है. इस पाप करनेके कारण नरक प्राप्ति होवे व न होवे दोनोंमें हेतु कहते है 'चेतोऽलिवत' पापका फल नरक मिले परन्तु वहां हम लोगोंका चित्तरूप भ्रमर आपके चरणकमलोंका रसपान करता रहे तो नरक भी स्वीकार है, और हमको इसका(नरक प्राप्तिका) दुःख भी नहीं होगा यदि आपके चरणोंमें चित्त रमण न करे तो नरक नहीं चाहिये कारण कि हमने शाप फल प्राप्तिके कारण दिया है वह पाप नहीं है अन्यथा शाप देते तो पाप होनेसे हम दोषी होते यों मानस कहकर वाचनिक कहते हैं 'वाचस्तु' जो हमारी वाणी तो, जो हमलोगोंकी वाणी तुलसीके समान स्वरूप एवं गन्धसे रहित होने पर भी चरणारविन्दमें जैसे तुलसी शोभती है वैसे हमारी वाणी, पद रचनाकी चतुरता न होने पर भी भगवद्गुणगान युक्त होकर शोभती रहे तो नरकवासी भी हमें बाधक (दुःखद) नहीं हैं, 'तु' पद प्रथम विचारको अलग करता है इसलिए दोनोंको साथमें नहीं दिया है, किञ्च जैसे तुलसी अन्यकी प्रेरणासे भगवच्चरणोंमें प्रविष्ट होती वैसे भगवद्गुण हमारी वाणीमें प्रविष्ट हो तो हमको भले नरक मिले यदि हमारी वाणी स्वतः गुणगान करे तो तब नरक न होना चाहिए, अब कायिक कहते हैं 'पूर्येत' हमारे कर्णरन्ध्र सर्व प्रकारके आपके गुणोंसे ऐसे भरपूर रहे हैं जिनमें दूसरा कुछ प्रवेश न कर सके तब पूर्ववत् हो।।४९।।

इस तरह अपने अपराधका आपने ही अपना दण्ड कहा, तब शङ्का यह हुई कि भगवान्से सम्बन्धमें आये हुओंको क्या यह ही फल हुआ? जिसके उत्तरमें निम्न श्लोकमें भगवत्समागमसे मिले फलको कहते है:

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं तेनेश! निर्वृतिम् अवापुरलं दृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः।।५०।।

हे प्रभो! आपने यह मनोहररूप हमारे सामने प्रकट किया है जिससे हमारे

नेत्रोंको परम सन्तोष हुआ है. यह स्वरूप बहिर्मुख विषयासक्तोंको दृष्टि गोचर नहीं होता है. आप साक्षात् परब्रह्म हैं स्वेच्छासे कृपया हमारे नेत्रोंके सामने स्पष्टरूपसे प्रकट हुए हैं अतः उसको हम नमन ही करते हैं।।५०।।

हे प्रभो! आपने जो यह स्वरूप किया है, उससे हमारे नेत्रोंको बहुत सुख प्राप्त हुआ है एवं परम सन्तोष हुआ है. इस प्रकारका सुख देनेवालेका प्रत्युपकार भी नमस्कारसे ही किया जाता है यों 'तस्मा...नमः' वाक्यसे कहते हैं, उस भगवान्को यह नमस्कार जैसा कहते हैं, क्योंकि शास्त्रानुसार नहीं कर सकते हैं, इसलिए केवल नमनका अनुकरण करते हैं इसलिए इव(समान) अर्थमें 'ईत्' शब्द दिया है.

'पुरुहूत' पदसे यज्ञात्मकता बताई है, बहुत जिनका आह्वान करते हैं अथवा इन्द्रादिरूपसे जिसका आह्वान करनेमें आता है वह यज्ञस्वरूप भगवान् स्वंय पधारे हैं, वे हम मुनियोंकेलिए ही प्रादुर्भाव हो यहां आये हैं.

जय-विजयको शाप देनेसे चित्तमें ग्लानिकी उत्पत्ति होनेसे अन्तःकरणमें इस प्रादुर्भावसे आनन्द नहीं हुआ है, किन्तु यह फल भी जो प्राप्त हुआ है वह अल्प न समझना चाहिये, क्योंकि आप अनात्माओंका (अर्थात्) बहिर्मुख विषयी, जिन्होंने आत्माको भुला दिया है उनको प्रकट होते हुए भी दृष्टि गोचर नहीं होते है अथवा उनके कारण प्रकट नहीं होते हो, क्योंकि दर्शन न होनेसे उनको दुःख होगा, 'इदं' पदसे यह सामने स्थित स्वरूपको दिखाकर नमस्कार करते हैं, भगवान् उपकार करते हैं यह आश्चर्यकारक है यों जतानेकेलिए 'उस भगवान्को नमस्कार' कहा है, 'प्रतीतः' पदसे प्रमाण कहा है।।५०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके पन्द्रहवें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय १६

जय–विजयका वैकुण्ठसे पतन

मुनिमानससन्तोषः ततः स्तोत्रं तथाविधम्।
शापस्थापननिर्याणे षोडशे विनिरूप्यते।।का.१।।

मुनियोंको मानस सन्तोष, अनन्तर उसी प्रकारकी स्तुति, शापकी स्पष्टताका एवं उनका निकल जाना १६वें अध्यायमें निरूपण किया जाता है।।१।।

भक्तानां तु कृतिः सत्या वाक् सत्या ब्रह्मवादिनाम्।
मनो भगवतः सत्यम् इत्यध्यायविनिर्णयः।।का.२।।

भक्तोंका(जय–विजयका) कार्य(मुनियोंको भीतर जानेसे रुकावट) सत्य हुआ, ब्रह्मवादी मुनियोंकी वाणी सत्य(जय विजयको दिया हुआ शाप फलीभूत हुआ) हुई, भगवानका मन(विचार) सत्य होवे यों इस १६वें अध्यायमें निर्णय किया गया है।।२।।

मनसः प्रबलत्वाद् हि तेषां नान्यविरोधिता।
पूर्वयोर् अनभिप्रेतं तृतीयादेव सुस्थिरात्।।का.३।।

मन प्रबल होनेसे भक्त(द्वारपाल) और मुनियोंकी कृतिसे भगवानके मानस विचार(मन) विरोधी न हुए, दोनों देवोंकेलिए जो अनिच्छित था वह विशेष दृढ तीसरेसे हो गया अर्थात् उस समय लौकिक संघातरहित मुनियोंको भी मन आदिका संसर्ग हो गया जिससे क्रोध उत्पन्न हुआ।।३।।

अतो भगवतः सर्गलीलायां दुर्बलार(ऽव)तिः।।का.।।

इस कारणसे इस सृष्टि लीलामें वा स्थिति लीला होनेसे प्रेम दुर्बल है.

आभासः इस तरह १५वें अध्यायमें स्वल्प प्रसन्न हुए मुनियोंने भगवानकी स्तुति की है उन(मुनियों)को पूर्णप्रसन्नता हो तदर्थ भगवान् ब्राह्मणोंकी स्तुति करते हैं यों इस श्लोकमें ब्रह्मा कहते हैं:

ब्रह्मा उवाच

इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम्।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः।।१।।

ब्रह्मा कहने लगे कि योगधर्म पालन करनेवाले मुनि जब इस प्रकार

स्तुतिकर रहे थे तब वैकुण्ठ धामवाले सर्वसमर्थ भगवान् उसका अभिनन्दन करते हुए निम्न प्रकारसे कहने लगे।।१।।

वे डरे हुए तथा शास्त्रानुसरण करनेवाले मुनि ऊपर कहे हुए प्रकारसे स्तुति कर रहे थे उसको सुनकर भगवान् उनके वचनोंका अभिनन्दन कर कहने लगे. यह अभिनन्दन बाहर ही किया, कारणकि अभिनन्दन सामने ही कहा जाता है. भगवानने भक्तोंके सामने इस प्रकारका अभिनन्दन कैसे किया? जिससे भक्तोंको दुःख होता है! इस पर कहते हैं कि भगवान् विकुण्ठमें विराजते हैं. वह (विकुण्ठ) आपका घर है. अतः घरमें पधारे हुए सत्पुरुषोंको सन्तोष हो ऐसे वचन कहकर उनका सन्तोष करना ही चाहिए. यदि यों किया जाता है तो भक्त दुःखी होंगे इस प्रकारकी शंका होने पर कहते हैं कि 'विभुः' भगवान् सर्व समर्थ हैं जिससे अपने भृत्योंको सर्व प्रकारके दुःखसे छुडानेमें शक्तिमान हैं यों तात्पर्य है।।१।।

पहले भक्तोंका अपराध है यों निम्न श्लोकमें सिद्ध करते हैं:

श्रीभगवान् उवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च।

कदर्थीकृत्य मां यद् वो बह्वक्रान्ताम् अतिक्रमम्।।२।।

श्रीभगवान् कहते हैं कि जय-विजय मुझे वर देनेवाले मेरे दो पार्षद हैं किन्तु मेरा तिरस्कारकर उन्होंने आपका बहुत अपमान एवं आपसे अत्याचार किया है।।२।।

ये जय और विजय पूर्व जन्ममें मधु और कैटभ थे, इनको मैंने वर दिया था कि वे मेरी गोदमें मेरे हाथसे मरें. अतः इनको मैं यहां वैकुण्ठमें ले आया था, उस समय बहुतसे सेवक विद्यमान (मौजुद) थे. यदि भगवान् नाम न लेते तो संशय पडता इसलिए 'जय-विजय' यों नाम लिए.

ज्ञानमार्गमें इन्द्रियादि पर जय अन्यकेलिए की जाती है, भक्तिमार्गमें अन्तःकरण पर जय मेरेलिए की जाती है. इन्द्रियादिका विविध जय दूसरा जय (विजय) नामवाला पार्षद है, इस कारणसे ही ये दोनों मेरे पार्षद अर्थात् सभामें रहने योग्य हैं, जैसे अन्तःकरणमें उनकी जय भगवानकी स्थितिका कारण होती है, वैसे ये वैकुण्ठमें स्थितिके हेतु हैं, इस कारणसे इन दोनोंकी उत्पत्तिका विचार करनेसे समझमें आता है कि इनका अपराध करना उचित ही है. क्योंकि मन, जयके सिवाय सीधा भगवानको प्राप्त नहींकर सकता है, अतः भगवद्दर्शन जय

द्वारा ही हो सकता है. भगवान् आनन्दरूप हैं. वे स्वाभाविक सुख होनेसे मन उसकी प्राप्तिकी प्रवृत्तियोग्य होते हुए भी जयके प्रतिबन्धसे भगवानके पास नहीं जा सकता है, इस कारणसे ही मेरा ध्यान(विचार) न कर व्यवहारमें भी मेरे जो ब्रह्मण्यत्व आदि धर्म है उनको भी दूरकर आपका इन दोनोंने बहुत अपमान किया है।।२।।

इस कारणसे इन दोनोंको आपने जो दण्ड दिया है वह उचित ही है यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

यस्त्वेतयोर् धृतो दण्डो भवद्भिर् माम् अनुव्रतैः।
स एवाऽनुमतोऽस्माभिः मुनयो देवहेलनात्।।३।।

मेरे समान धर्मवाले आपने जो इन दोनोंको दण्ड दिया है, हे मुनियों! उसके साथ हम सम्मत हैं क्योंकि इन्होंने देवों(ब्राह्मणों)का अपमान किया है।।३।।

'तु' शब्द देनेका आशय है कि जो आपने दण्ड दिया है वह उचित होनेसे बदलना नहीं है.आपका दिया हुआ यह दण्ड ही हम (आप और मैं अथवा मेरे सेवक और मैं) अनुमोदन करते है, ये दोनों दण्डके योग्य थे, इसलिए 'एतमोः' द्विवचन कहा है, 'अनुव्रताः' शब्दका भावार्थ है कि आप मेरे हमारे समान धर्मवाले हो अतः मेरा कार्य आपने ही कर दिया मुझे इस विषयमें बहुत सन्तोष है, यों कहनेसे उनकी कृतिका अभिनन्दन(प्रसंशा) किया है, यह कार्य आपने अचानक नहीं किया है यों बतानेकेलिए अथवा आपके अभिप्रायको मैं जानता हूं यों कहनेकेलिए, हे मुनियों! सम्बोधन दिया है.

इनका क्या अपराध है, द्वारकी रक्षा करना तो इनका अपना धर्म है, जिसका पालन किया है इसमें कौनसा अपराध किया है? इस पर कहते हैं 'दवहेलनात्' देवताओंका अपमान अपराध है वह इन्होंने किया है, ये देवता ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण ही मेरे देवता हैं, यज्ञ परोक्ष देव हैं. प्रत्यक्ष देव यज्ञका अधिष्ठाता विष्णु है, ये तीनों देव इनमें हैं अतः दण्ड इन तीन रूपवालोंने दिया है अतः वह ही दण्ड पर्याप्त है दूसरेकी आवश्यकता नहीं है इसलिए दूसरा दण्ड नहीं कहना चाहिए यों सुचित किया है।।३।।

यों अपराध एवं दण्डका निरूपणकर सेवकका अपराध दूरकर, अब इस श्लोक द्वारा मुनियोंने जो द्वारपालोंको दण्ड देनेका अपराध किया वह और अपना

अपराध दूर करते हैं:

तद् वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे।
तद् हि ह्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुम्भिर् असत्कृतम्।।४।।

इसलिए मैं आज आपसे क्षमा याचनाकर आपको प्रसन्न करना चाहता हूं, क्योंकि ब्राह्मण मेरेलिए उत्तम देव है, अतः मेरे सेवकोंने उनका जो अपराध किया वह मैंने ही किया यों मानता हूं।।४।।

आज आपसे क्षमा लेकर आपको प्रसन्न करना चाहता हूं, क्योंकि मुझसे अपराध हुआ है, अपराध तो वह कहा जाता है जो छोटेसे बडेका हो प्रकृत विषयमें अपराध कैसे? आप बडे हैं हम छोटे हैं, इस पर कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि 'ब्रह्मदैवं परं' मेरेलिए ब्राह्मण जाति ही परम देव हैं इसलिए ब्राह्मण देव होनेसे विष्णुसे भी आप बडे हैं, विष्णु आधिदैविक देव माना जाता है, जैसेकि **''विष्णुर्वा अकामयत पुण्यं श्लोकं श्रृण्वीय न मा पापाकीर्ति–रागच्छेदिति. स एतं विष्णवे श्रोणायै पुरोडाशं त्रिकपालं निरवपत्**'' श्रुति है, जिसका भावार्थ है, कि विष्णुने इच्छा की कि मैं पुण्य श्लोकका श्रवण करुं, जिससे मुझे पापीकी अपकीर्ति प्राप्त न होवे, तब उसने विष्णुको तीन पात्रोंमें यवागूकी बलि अर्पण की, इससे यह बताया है कि विष्णु आधिदैविक होने पर देव होते हैं किन्तु ब्राह्मण स्वतः देव हैं इसलिए 'परम्' पद देकर उनकी उत्तम कोटिमें गणना की है, अन्यत्र भी श्रुति कहती है कि ''एतेवै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्रह्मणा'' 'ये जो ब्राह्मण हैं वे प्रत्यक्ष देव हैं' वह 'ही' शब्दसे सिद्ध करते हैं ''तत् हि आत्मकृतं मन्ये'' जो मेरे, सेवक द्वारपालोंने असत् कर्म किया वह मैंने ही किया है यों मानता हूं यह ही अर्थ उचित है, सेवकके किये हुए दोष(अपराध) स्वामीके किये हुए माने जाते हैं. यों न होता तो भृत्यके अपराध पर स्वामीको दण्ड क्यों मिलता? इससे यों कहा कि मैंने ही आपको भीतर आनेसे रोका है यह कृत्य उचित ही था क्योंकि द्वारपालका यह धर्म ही था इस कारणसे दो 'हि' शब्द परस्परके कारण प्रदर्शित करते है यद्यपि ऐसे विषयमें लोक स्वामीका अपराध नहीं मानते हैं तो भी मैं मानता हूं क्योंकि वे मेरे पुरुष (सेवक) हैं।।४।।

इस प्रसंगमें सर्वथा अनुग्रह करना ही चाहिए नहीं तो महान् अनर्थ होगा यों निम्न श्लोकमें कहते हैं।

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि।

सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः।।५।।

सेवकोंके अपराध करने पर लोक स्वामीका नाम लेकर उसकी निन्दा करते हैं वह निन्दा स्वामीकी कीर्तिका इसी तरह नाशकर दी जैसे चर्मरोग त्वचाका नाश करता है।।५।।

महत्पुरुषोंको भी लोकापवाद(लोकोमें हुई निन्दा)से भय उत्पन्न होता है, इस कारणसे ही सेवकके अपराध करने पर लोक स्वामीका नाम लेते हैं अर्थात् यह सब अपराध स्वामीका है स्वामीकी इच्छा व आज्ञाके बिना सेवक यों नहीं कर सकते हैं, इस प्रकार होनेवाली निन्दासे महापुरुष भी डरते हैं 'च' पद देनेका आशय है कि सेवकके अपराध करनेके कारण लोक स्वामीके गुण और कर्म सबकी निन्दा करने लग जाते है यदि कोई कहे कि भले करे, करने दो, इससे क्या होगा? इस पर कहते हैं कि लोकोंसे जो कुछ कहा जाना है वह 'असाधुवाद' है अर्थात् असाधुवाद(अपकीर्ति-कहनेकी अशिष्टनीति) है, वह अशिष्टनीति एक प्रकारसे निन्दा है उसका विषय यहां मैं हूं जो कीर्ति प्रसिद्ध हूं एवं विद्यमान(मौजुद) हूं उस कीर्तिको कैसे नाश किया जायेगा? इसका उत्तर दृष्टांतसे समझाते हैं कि विद्यमान स्वच्छ शरीरमें कोढ(श्वेतकोढ)की जैसे त्वचाका नाश करती है अर्थात् वह व्याधि(श्वेतकोढ) त्वचाका रूप बदल अपने समान श्वेतकर देती है वैसे ही निन्दारूप व्याधि उस स्वच्छ गुणरूप यशको नष्ट करती है।।५।।

तुच्छ दासानुदासका यदि सर्व नियन्ता ईश्वरके द्वारमें प्रवेश नहीं हुआ तो उनका कौनसा दोष? लोकमें भी महाराजाके गृहमें शूद्रोंका प्रवेश नहीं होता है तब उनकी लोक तो अपकीर्ति नहीं करते हैं, इस प्रकारकी शंकाका उत्तर इस श्लोकमें देते हैं:

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगद् आश्वपचाद् विकुण्ठ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिः छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्।।६।

जिस मेरे अमृत तथा निर्मल यशका श्रवणरूप स्नान, चाण्डाल पर्यन्त सकल जगतको उसी समय ही पवित्र करता है. वैसे वैकुण्ठ आप लोगोंसे ही मैंने कीर्ति प्राप्त की है, अतः जो कोई भी आपके विरुद्ध आचरण करेगा उसको मैं काट डालूंगा चाहे वह मेरी प्रजा ही क्यों न होवे।।६।।

मेरे उपकारक ब्राह्मणोंका अतिक्रम(अपराध) हो तो मेरी अपकीर्ति लोक करेगें ही मेरा यश उनके आधीन हैं क्योंकि वे मुझ पर सदैव उपकार वृष्टि

कर रहे हैं. वह स्पष्ट कर कहते हैं ''यस्यामृतामलयश श्रवणावगाह'' इत्यादि जो विकुण्ठरूप मेरे अमृत तथा निर्मल यशका श्रवणरूप स्नान, चण्डाल पर्यन्त समस्त जगतको उसी समय पवित्रकर देता है यों जगतको पवित्र करनेसे कीर्तिमान होनेसे मैं विकुण्ठ कहा जाता हूं अर्थात् किसी भी अंशसे मुझमें दोष न होनेसे निर्दोष हूं, ऐसा भी मैं पुरुषोत्तम हूं तो भी आप लोगों द्वारा ही सुतीर्थरूपा कीर्ति मैंने प्राप्त की है, यश पराक्रमसे उत्पन्न होता है, कीर्ति सदाचारसे उत्पन्न होती है, मेरा यश जगतमें पवित्रता भी सम्पादन करता है, मेरे नामसे दुष्टरूप पापोंका निग्रह होता है, पराक्रम ही दोषोंका निवारक है यदि वह दोष सहज भी होवे तो भी मेरे भयसे नाश हो जाना चाहिए, अतः जिस दोषने जीवको चाण्डाल देह दी है वह दोष भी नाश हो जाता है, अतः वैकुण्ठ स्थान यशःपुञ्जसे सुशोभित हो मेरे सामर्थ्यका सूचक है, तो भी कीर्ति तब होती है जब साधुजन कीर्ति गाते हैं, उस कीर्तिगानसे जो मेरे सेवक सदाचारी हैं वे मेरे परायण होते हैं और निरन्तर कीर्तन करनेमें कृतार्थ होते हैं, अतः ब्राह्मण तीर्थरूप कीर्ति प्राप्त करनेवाले होनेसे मेरे उपकारक हैं, इसलिए जो भी इनका अपराध करता है, यदि वह मेरा बाहुरूप इन्द्र भी हो तो उसको भी काट डालूं. इस कारणसे ही बृहस्पतिका अपराध करने पर इन्द्रको राज्यभ्रंश आदि महतीपीडा भोगनी पडी अतः आपको क्षमा करनी ही उचित है, यों अर्थ(आशय) है।।६।।

कीर्तिर्लक्ष्मीस्तथा भोगः त्रयं विप्रप्रसादतः।
भृगोः कन्या यतो लक्ष्मीर्मुखं चाऽपि द्विजा मम।।का.१।।

कीर्ति, लक्ष्मी और भोग ये तीन ही ब्राह्मणोंकी कृपासे होते हैं क्योंकि लक्ष्मी भृगु(ब्राह्मण)की कन्या है और ब्राह्मण मेरे मुख भी है।।१।।

कीर्तिका निरूपणकर इस श्लोकमें कहते हैं कि लक्ष्मी भी ब्राह्मणोंके आधिन है:

यत् सेवया चरण–पद्म–पवित्र–रेणुं सद्यः–क्षताखिल–मलं प्रतिलब्ध–शीलम्।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति।।७।।

जिन(ब्राह्मणों)की सेवा करनेसे ही मेरी चरणरज ऐसी पवित्र बनी है कि वह समग्र पापोंको तत्काल नाश कर देती है, और इस कारणसे ही मुझे ऐसा सुन्दर स्वभाव प्राप्त हुआ है जो उदासीन रहने पर भी लक्ष्मी मुझे क्षणमात्रकेलिए भी नहीं छोडती है, यद्यपि इन्हीं(लक्ष्मी)के लेशमात्र कृपा कटाक्षकेलिए दूसरे देव नाना

प्रकारके व्रतों तथा नियमोंका पालन करते हैं।।७।।

स्त्रियः स्वभावतो दुष्टाः चञ्चलाश्चापि नित्यशः।
आचारजनिता कीर्तिः ब्राह्मणाश्च नियामकाः।।का.१।।

स्त्रियां स्वभावसे दुष्ट और नित्य चंचल भी है कीर्ति सदाचरणसे प्राप्त होती है ब्राह्मण ही उसके(सदाचारके) नियामक(उपदेशक) है।।१।।

ईश्वरस्य तु याः पत्न्यः ता विरक्ते न हि स्थिराः।
भृगोराज्ञां ततः प्राप्य स्थिरा लक्ष्मीस्ततो मयि।।का.२।।

प्रभुकी जो पत्नीयां होती है वे भी वैराग्यवाले पुरुषमें स्थिर नहीं रह सकती है, अतः मुझमें लक्ष्मी भृगुकी आज्ञासे स्थिर रही है।।२।।

ब्राह्मणोंका उत्कर्ष दिखानेकेलिए ही भगवान् अपना उत्कर्ष कहते हैं ब्राह्मणोंकी सेवासे मेरे चरणकमलकी रज पवित्र हुई है, सेवासे उत्पन्न संस्कार चरणमें रहता है, इसलिए चरणोंके सम्बन्धवाली रेणु अंगकी तरह पवित्ररूप बन गयी है, यदि मूलश्लोकमें 'रेणुः' प्रथमान्त हो तो यह वाक्य यहां तक भिन्न समझना, यदि 'रेणु' द्वितिया विभक्तिमें हो तो पूर्वार्धमें कहे हुए विशेषण, ब्राह्मणोंकी सेवासे प्राप्त हुए गुण दिखानेवाले है, यों जानना. विरक्ति भी उस(ब्राह्मण) सेवासे ही हुई है वैराग्यसे विरुद्ध जो नियमित लक्ष्मीकी स्थितिरूप धर्म भी उससे(ब्राह्मण सेवासे) हुआ है. ब्राह्मणोंके माहात्म्यकेलिए ही लक्ष्मीका माहात्म्य वर्णन किया है, उसी ही क्षणमें सकलोंका पाप नाश करनेवाले सदाचरण(सदाचार)को प्राप्त करनेवाले भी ब्राह्मण सेवासे हम हुवे हैं, जिस लक्ष्मीकी क्षणमात्र कटाक्ष प्राप्तिकी इच्छासे ब्रह्मादि दूसरे देव कृच्छादि व्रतोंके नियम और भगवद्व्रत पाल रहे हैं, अर्थात् लक्ष्मीके कटाक्षकी कामनासे तपस्या कर रहे हैं यों आशय है, पाप नाशकत्व भी ब्राह्मण सेवासे हुआ है कारणकि उनके वाक्यसे ही नियम पालन हो सकता है सारस्वत कल्पमें सब कुछ ब्राह्मणोंके अधीन था, वास्तवमें तो भगवान् ही पापनाशक हैं उनके ही सम्बन्धसे लोगोंका पाप नाश होता है लक्ष्मीके दोषोंकी भी निवृत्ति इनके सम्बन्धसे होती है भोगासक्त प्रभुओंका सदाचार पालनरूप उत्तम स्वभाव महापुरुषोंके पधारनेसे तथा उनकी सेवासे होता है(हुआ है) आसक्ति निवृत्ति भी उनकी आज्ञानुसार चलनेसे होती है वास्तविक धर्म तो भगवानमें ही प्रतिष्ठित है जिससे दोषरहित होनेसे दोनों(भगवान् और लक्ष्मी)में आसक्ति एवं अनाचारका अभाव है।।७।।

निम्न श्लोकमें अपना भोग भी ब्राह्मणाधीन है, यों भगवान् कहते हैं:

नाऽहं तथाऽग्नि यजमान–हविर्विताने श्च्योतद्घृतप्लुतम् अदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद् ब्राह्मणस्य मुखतः चरतोऽनुघासं तुष्टस्य मय्यवहितैर्निज–कर्म–पाकैः।।८।।

जिन ब्राह्मणोंने अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पणकर सन्तोष प्राप्त किया है वे ब्राह्मण जब घृतयुक्त नानाविध पकवानोंका भोजन करते हैं तब उनके मुखसे प्राप्त भोजनसे जैसा मैं प्रसन्न होता हूं वैसा यज्ञमें अग्निरूप मुखमें यजमानकी दी हुई आहुतियोंसे प्रसन्न नहीं होता हूं।।८।।

स्वभावसे मैं अपने मुखसे भोजन नहीं करता हूं जैसाकि श्रुति ''अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति'' कहती है भगवानको मुखसे भोजन करते हुए दूसरा (भक्तके सिवाय) कोई भी नहीं देखता है भगवान् कहते हैं साधारणतः भोजनकेलिए मेरे दो गौण मुख हैं, अग्नि और ब्राह्मण, ये दो मुख ही मेरे भोजनका कार्य करते हैं इनमेंसे अग्निसे भी ब्राह्मण मेरा श्रेष्ठ मुख है इसलिए कहते हैं कि ''नाहं तथाग्नि मुखेनाग्नि'' मैं वैसी प्रसन्नतासे अग्निमुखसे भोजन नहीं करता हूं (जैसा ब्राह्मणमुखसे प्रसन्नतापूर्वक अरोगता हूं). तब तो यज्ञ करना निष्फल होगा? इस शंकाका निवारण करते हैं कि ऐसा नहीं है कि मैं खाता ही नहीं हूं खाता तो हूं किन्तु ब्राह्मण मुखके समान प्रसन्नतापूर्वक नहीं क्योंकि, अग्नि सर्व भक्षण करती है, काष्ठादि भी भक्षण करती है अतः ऐसा मेरा मुख हो तो अनिष्ट हो जावे अतः मैं उसके द्वारा हविका भोजन करता हूं निषेध नहीं करता हूं निषेधका दूसरा कारण है वह यह है कि ''यजमानहवितानेश्च योतद्धतप्लुताम्'' जब यज्ञादिमें यजमान द्वारा पहले घृताहुति दे फिर हवि दी जाती है हविके बाद फिर घृताहुति दी जाती है तब मैं उस यज्ञकी हवि ग्रहण करता हूं, जिस यज्ञमें यजमान नहीं है जिसको सत्र कहते हैं वह मैं भोजन नहीं करता हूं क्योंकि सत्रका निषेध है कारणकि क्रूर(बहुत समय चलनेसे क्रूर कहा गया है) होनेसे और करनेवाले बहुत होनेसे जैसाकि श्रुति कहती है 'किम् एते सत्रिणः' ये सत्र करनेवाले कैसे है? यजमान तो कोई है कि नहीं सब यजमान और अन्न भी बहुतोंका है (जिसमें शुद्ध और अशुद्धका ज्ञान नहीं) अतः सत्र यज्ञ नहीं है.

'हवि' शब्दसे वे यज्ञ कहे हैं जिसमें पशुबलि नहीं दी जाती है, यज्ञमें होता, अध्वर्ण आदि और मन्त्र आदिकी आवश्यकता होती है और मन्त्र जोर–जोरसे पढे जाते हैं और उसमें(यज्ञमें) चार भाग होते हैं इत्यादि झंझटके कारण

प्रसन्नतासे भक्षण नहींकर सकता हूं ब्राह्मण भोजनमें किसी प्रकारका झंझट(दोष) नहीं, ग्रास लिया, मुख द्वारा प्रसन्नतासे पाया यह देखकर मैं उसको हर्षसे अरोगता हूं, क्योंकि ब्राह्मण मेरे मुखके भी मुख हैं और मेरी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हैं, दुःख प्राप्त हो तो भी व्याकुल नहीं होते हैं क्योंकि सर्वकर्म भगवदर्पणकर देनसे सन्तुष्ट हैं इत्यादि गुणोंसे भगवान् प्रसन्न हो उनके मुख द्वारा हर्षपूर्वक अरोगते हैं।।८।।

इस तरह अपने पर किये हुए उपकारोंके कारण ब्राह्मणोंकी स्तुति कर, इस श्लोकमें कहते हैं कि स्वरूपसे वे बडे हैं:

येषां बिभर्म्यहम् अखण्ड–विकुण्ठ–योग–माया–विभूतिरमलांघ्रिरजः किरीटैः।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः सद्यः पुनाति सहचन्द्र–ललामलोकान्।।९।।

अखण्ड एवं असीम ऐश्वर्यवाली योगमाया मेरी विभूति है, मेरा चरणोदक(गंगाजी) चन्द्रमाको मस्तक पर धारण करनेवाले शंकर सहित लोकोंको पवित्र करता है, ऐसा भी मैं जिनकी पवित्र चरणरजको अपने मुकुटों पर धारण करता हूं, उन ब्राह्मणोंके कर्मको कौन नहीं सहन करेगा।।९।।

महत्पुरुषोंके अनुसरण करनेसे ही महत्व प्राप्त होता है, महत्व दो प्रकारका है, लौकिक–अलौकिक. लौकिक महत्ता क्रमशः बढती हुई भगवानमें विश्रान्ति पाती है, सर्वलोक भगवान् पुरुषोत्तम हैं तथा वेदमें भी प्रसिद्ध वे ही हैं, उनकी पहचान करानी ब्राह्मणोंके हाथमें है, कारणकि उनको ही अलौकिक ज्ञान है इसलिए ही मेरी पहचान करानेवाले हैं, ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इस वाक्यानुसार जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूं इसलिए ही ब्राह्मणोंकी महत्ताका भगवान् गुण गाते हैं उनकी प्रशंसा करनेसे भगवानकी न्यूनता नहीं होती है कारणकि वे ब्राह्मण भगवानके ही अवयव हैं अधिकार भी उनको आपने ही दिया हैं, उन ब्राह्मणोंमें आपका ही धर्म विद्यमान है. अतः ब्राह्मणोत्कर्ष वह आपका(भगवानका) ही उत्कर्ष है. जैसे वे(ब्राह्मण) अलौकिक प्रकारसे भगवानको उत्तम कहते हैं, वैसे भगवान् भी लोकमें उनका उत्कर्ष प्रकट करते हैं जैसेकि ''येषाममलाङ्घ्रिरजः किरीटरहं बिभर्मि'' भगवानके आगे स्तुति करते हुए ब्राह्मण चलते हैं उनकी चरणरज जो उडती है वह भगवान् अपने मुकुटोंमें धारण करते हैं, पवित्रता नामवाला एक भगवत्स्वरूप है सर्व पदार्थोंमें स्वाभाविक रहता है वह संस्कारोंसे बढती है, उसमें ब्राह्मणोंके चरणोंमें सहज पवित्रता है, इस कारणसे उनकी चरणरज निर्मल होती है, 'किरीटैः' पदसे यह सूचित किया है कि

यह रज सदैव धारण करते हैं अथवा पृथक्-पृथक् अवतारोंके भेदसे अथवा मूल स्वरूपसे धारण करते हैं, तत्क्षण कार्य करनेवाली योगमाया जिसकी विभूति है मायासे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है और विभूतिसे सुख प्राप्ति होती है इस कारणसे भगवानको किसीकी अपेक्षा नहीं है, सबको भगवानकी अपेक्षा है, उन दोनों शक्तियोंका कभी न नाश होता है और न कार्य करनेकी शक्ति लुप्त होती है. 'येषा' पदसे सूचित किया है कि, उनमें विप्रत्व है जिससे दूसरे गुणोंकी उनको अपेक्षा नहीं है. 'विप्र' पदसे योग भी इनमें है यह भी सुचित किया है, विशेष प्रकारसे पूर्ति करनी यह इनका सहज धर्म है. ज्ञान और भक्तिके सिवाय चिदानन्दोंकी पूर्ति नहीं होती है इसलिए ज्ञान भक्तिवाले ही योगयुक्त विप्र होते हैं यों निरूपण किया है, इन दोनोंके होते हुए दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं रहती है, यज्ञोपवीतादि संस्कार तो गौण है, इस ही उपकारके कारण ही भगवान् उनकी चरणरज मुकुटोंमें धारण करते हैं, 'तु' शब्दसे यह सूचित किया है कि योगरहित अन्य व्यर्थ(निकम्मे) हैं, ऐसे ब्राह्मणोंका भार(कर्म) कौन विशेष प्रकारसे सहन नहीं करे? अथवा कौन इनका भार न उठावे? भार शब्दका तात्पर्य अतिक्रम करना आदि है. अन्य शब्दसे वह अर्थ प्राप्त हो जानेके कारण 'विप्रापराध' पद नहीं दिया है, जिनका अतिक्रम(अपराध) जब मैं ही सहन करता हूं तो दूसरे कैसे सहन नहीं करेंगे, माया विभूतिके होते हुए भी पवित्रताके अभावसे भगवान् विप्रोंका अपराध भले सहन करें दूसरे कैसे सहनकर सकेगे? इस शंका निवारणार्थ कहते हैं कि 'यद् अर्हणाम्भः' जो मेरा चरणोदक(गंगा) महादेव सहित तीनों लोकोंको पवित्र करता है, किया हुआ धर्म तो करनेवालेको ही पवित्र करता है अथवा उनसे जो सम्बन्धवाले हैं, किन्तु दीर्घ समयतक पवित्र नहीं करता है, परम्परासे सम्बन्धवालोंसे जो दूर रहते हैं, उनको और पृथक्-पृथक् तामस गुणवालोंको जो पवित्र करता है वह चरणोदकके सम्बन्धके कारण ही है इसलिए 'अर्हणाम्भः' कहा है. जैसेकि कहा है ''सद्यः पुनाति गांगेयम्'' तत्काल गंगाजल पवित्र करता हैं.

भगवान् कालके नियामक हैं अतः उनके(भगवानके) सम्बन्धियोंको (भक्तोंको) कालकी परवाह नहीं है, शंकरने सर्वदाहक तामसशक्ति स्वीकार की है जिसके तापको मिटानेकेलिए अमृतमय चन्द्रमाको धारण किया है उससे क्रिया जनित दोष तो नहीं मिटता अतः 'गंगा' धारण की है नहीं तो यह क्रियासे उत्पन्न

दोष दूसरेसे(गंगाके सिवाय) नहीं मिटता, यों सूचित किया है।।९।।

इस प्रकार ब्राह्मणोंका अपराध हो तो भी सहन करना चाहिए जो लोग सहन न करे उनसे शत्रूता करते हैं उनको दुःख प्राप्त होता है यों कहते हैं:

ये मे तनूर्द्विजवरान् दुहतीर्मदीया भूतान्यलब्ध–शरणानि च भेद–बुद्ध्या ।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान् गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधि–दण्डनेतुः।।१०।।

जिनकी सत् दृष्टि पापोंके कारण नष्ट हो गई और जो सर्प जैसे क्रोधी हैं वे ब्राह्मण, दूध देनेवाली गौवें और अनाथ प्राणी ये मेरे ही शरीर है यों न समझे, मुझसे भिन्न समझते हैं उन्हें मेरे द्वारा दण्डार्थ नियुक्त यमराजके गृद्ध अपनी चोंचोंसे नोचते हैं।।१०।।

जो लोग उत्तम ब्राह्मणादिको मुझसे पृथक् समझते हैं उनको यमलोकमें गृद्ध अपनी चोंचोसे नोच–नोचकर खातें हैं. इस तरह वाक्यका सम्बद्ध(अन्वय) है, ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'' वह मृत्युके मृत्युको प्राप्त होता है, इस श्रुतिके अनुसार कभी भी भेद दृष्टि करनेसे संसारको प्राप्त करता है, जीव भेद तो पहलेसे है ही अब यदि भगवानसे भेद देखते हैं तो उनको यमयातना भोगनी पडती है यह अधिक कहा है, 'यदा ह्येवैषः' इस श्रुतिमें यह बात कही है.

भेद तो विद्यमान है ही लोकमें प्रसिद्ध दिख रहा है तब देखनेवालोंका कौनसा दोष? इस शंका पर कहते हैं कि 'मे तनू' जब योगी सहस्र शरीर धारण करते हुए भी वह एक ही है क्योंकि सबहीमें वह एक ही जीव है वैसे 'अनन्तमूर्ति' भगवान् अनन्तरूपोंमें भी वह एक ही है फिर भी यज्ञ स्वरूप भगवान् आधिभौतिक दो शरीर धारण करते हैं कारणकि यज्ञ, हवि और मन्त्ररूप है, इनमेंसे मन्त्ररूप ब्राह्मणोंमें है और 'हवि' गौओमें है, जो वे ब्राह्मण तथा गौएं भगवानसे पृथक् हो तो उनमेंसे उत्पन्न हुवेमें मन्त्रत्व एवं दृवित्व न होना चाहिए, भगवानसे पृथक् होनेसे वे लौकिक हो जावेंगे तब उनके द्वारा उच्चारण किये हुए शब्दोंमें मन्त्रत्व ही नहीं होगा. अतः ब्राह्मणेतर यदि मन्त्र पढे तो भी उनमें मन्त्रका आधिदैविकरूप मन्त्रत्व प्रकट नहीं होता है, इससे यह सूचित किया है कि ब्राह्मण मेरे ही शरीर हैं, उनको दिखाते हैं. ''द्विजवरान् दुहति'' यज्ञोपयोगी होनेसे यहां 'विप्र' पद नहीं दिया है. यहां केवल द्विजत्व ही उपयोगी है, ब्राह्मणोंका जन्मसे ही उत्कर्ष दिखानेकेलिए द्विज पद दिया है और कर्मसे उत्कर्षार्थ 'वर' पद दिया है, 'दुहतीः' पद कर्ता अर्थमें दिखानेकेलिए 'अतृ' प्रत्यय दिया है जिसका भावार्थ स्वाभाविक

दूध देनेवाली हैं, उनमेंसे ही यज्ञकी हवि उत्पन्न होती है, अग्निहोत्रकेलिए ही वत्सोपत्ति करती है, 'मदीयां' ये मेरी ही है यों कहकर गौओंमें अधिक गुण प्रकट किये हैं, भगवान् भी सबके सखा होनेसे उनके धर्म गौओंमें प्रतिष्ठित होनेसे इनको भगवदीयत्व है अथवा 'मदीया' पदसे भिन्न निर्देश किया है, भक्तिमार्गके अनुसार भगवानके भोगके उपयोग हवि(पेय) दुहाती है, अनाथोंकी रक्षारूप धर्म ज्ञानमार्गानुसारी धर्म निरूपण किया है वहां भी रक्षकपन भगवन्निष्ठ होनेसे भेद नहीं, वह उचित ही है, इसी तरह इन तीन मार्गो(कर्म, ज्ञान और भक्ति)के उपयोगी पदार्थोंको जो मुझसे पृथक् जानते हैं उनको विशेष भय होता है.

भगवानपनके अज्ञानमें भी वास्तविक तो वे भगवान् हैं ही तो उनके दर्शन करते हुए नरकमें पात कैसे होगा? इस पर कहते हैं कि भेदरूप पापसे जिनकी दृष्टि हो गई हैं, उनका नरकमें पात होता है, ब्रह्मवधके समान भेददृष्टि भी अधर्मका हेतु है, यह वध ज्ञानमय है तो भी क्रियारूप होनेसे विशिष्ट(अधिक) अधर्म है, क्योंकि मूलविषय है, दण्ड भी नेत्रोंको ही मिलता है. नरकमें गिद्ध नेत्रोंको नोंचते हैं, व्यवहारमें तो भेदकी अपेक्षा रहती है इसलिए उसको दोषजनक कैसे कहा जाता है इस पर कहते है कि 'अहिमन्यवः' वे सर्पके समान क्रोधी होते हैं व्यवहार मात्रका निषेध नहीं किया जाता है, किन्तु अन्तःकरणमें जो दोष आरूढ है उसका निषेध किया जाता है.

सर्प स्वल्प(थोडेसे) भी अपराधको भूलते नहीं मारनेकेलिए प्रयत्न करते रहते हैं, वैसे वे भी दोषयुक्त हृदयसे जब देखते हैं तब दण्ड भोगते हैं, गृध्र(गिद्ध)की चोंचमें पडी हुई चक्षु(नेत्र) कभी भी फिर छूटती नहीं है, इससे उनका मोक्ष नहीं. 'रूषा'(क्रोध) पदसे यह बताया है कि नेत्र होते हुए भी इन्होंने भगवानका अपराध किया है इससे नेत्रमें ही दोष है, अतः वे मेरे गृध्र चोंचोसे नेत्रोंको ही नोंचते हैं उससे नाश होता है. केवल दुःख नहीं देते हैं यह अधिक दण्ड यम करता है साधारण दण्ड तो राजव्याधि आदिसे मिल जाता है।।१०।।

इस तरह जो ब्राह्मणोंका अपमान करते हैं उनको दण्ड मिलता है यह कहकर इस श्लोकमें कहते हैं कि जो ब्राह्मणोंका आदरकर सम्मान करते हैं वे मुझे प्रसन्नता पूर्वक वशमें कर लेते हैं:

ये ब्राह्मणान् मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्ति तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्राः।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद् गृणन्तः सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः।।११।।

ब्राह्मण तिरस्कार भी करे तो भी उसमें मेरी भावना करते हुए प्रसन्नता पूर्वक अमृत भरी मुस्कानसे युक्त हो उसका आदर करते हैं, तथा रूठे हुए पिताको एवं आप लोगोंको मैं मनाता हूं, उसी तरह जो प्रेमपूरित वचनोंसे प्रार्थनाकर उनको शान्त करते हैं उन्होंने मुझे वशमें कर लिया व पा लिया।।११।।

यदि ब्राह्मण तिरस्कार भी करे तो भी जो, उनका आदरपूर्वक पूजन करता है उन्होंने मुझे ही वशमें(प्राप्त) कर लिया है जब सर्व पुरूषार्थरूप मैं उसके पास हूं तो उनके सकल पुरूषार्थ पूर्ण ही है, यदि उनकी पूजा बन्ध है उस प्रकारसे अपकार होगा इस भयसे, तथा लोकमें अपजस होगा इस भयसे करते हैं, अथवा दम्भ(द्यल)से दिखावेकेलिए करते हैं, तो उनको यह फल न होगा. किन्तु वे ब्राह्मण होनेसे भगवानके ही रूप हैं इस बुद्धिसे करते हैं व मुझमें जैसी बुद्धि है कि ये(भगवान्) सर्वथा सर्वदा उपास्य है वैसे ही बुद्धिसे ब्राह्मणोंको सर्वथा उपास्य समझ पूजते हैं, तब वह फल(अर्थात् मैं वशमें हो जाता हूं) मिलता है. ब्राह्मण गाली देवे तो भी उनकी पूजा करते रहें तब वही फल मिलता है अर्थात् मैं वशमें हो जाता हूं, यदि ब्राह्मणोंसे विरोधकर उनका अपमान करते हैं तो यह फल नहीं मिलता है बल्कि वे दुःख भोगते हैं, इससे यह सूचित किया है कि भगवानकी प्राप्ति बहुत सरल नहीं है, ब्राह्मण पूजन प्रसन्नचित्तपूर्वक प्रेमसे करना चाहिए, यदि चित्तमें क्रोध रख पूजन किया जावे तो बडा अनिष्ट हो जायेगा इसलिए वे अपने क्रोधको बाहर निकाल दे तो उनका मेरे पर बडा उपकार हुआ समझुंगा. इस प्रकारका ज्ञान हृदयकी प्रसन्नतामें कारण है ऐसी प्रसन्नता तब होती है जब भगवानके व ब्राह्मणके महत्वका विषय ज्ञान होता है.

अनृतरूप मन्द हास्य सिञ्चित कमलवत् मुखवाला होकर, माहात्म्यज्ञान विद्यमान होने पर भी स्नेहसे ही उनका(ब्राह्मणोंका) दोष सहन करना चाहिए, मन्द हास्य बताता है कि अन्तःकरणमें क्षोभ आदि दोष मौजूद नहीं हैं, उनमें रहा हुआ प्रेमरस उन पर दबाव डालनेसे प्रकट होता है, इसलिए उनका(ब्राह्मणोंका) क्रोध बालकोंके समान समझने पर परम सन्तोषका हेतु होता है इस कारण मन्द हास्यको सुधा कहा है उसका अमृतत्व अपना कार्य करता है इससे(अमृतत्वसे) सिञ्चित होनेसे मुख विकसित होता है जिससे(स्मित और अमृतरूप धर्मसे) मुखमें वर्ण और स्पर्शका आविर्भाव होता है. यों जतानेकेलिए 'पद्म' पद दिया है. इसी प्रकार अन्तःकरण एवं कायाके सन्तोषका वर्णनकर वाणीकेसन्तोषको कहते

हैं, वाणीकी कलाएं प्रेमरूप होती है और वे चन्द्रमाकी कलाओंके समान वृद्धि(बढने) और क्षय(घटने)वाली हैं. इसी तरह काया, वाणी और मनकी प्रीति पुत्रमें ही रहती है अर्थात् पुत्रको ही पिताकेलिए होती है. यों दृष्टांतसे इस प्रकार करनेवालोंका ब्रह्मभाव निरूपण किया है. पूजन काया द्वारा द्रव्योंसे, प्रशंसा वाणीसे व्यवहारकेलिए अथवा पूर्णरीतिसे बोध(ज्ञान) हो तदर्थ सम्बोधन करते हैं, इससे यों सूचित किया है कि ब्राह्मण तिरस्कार आदि करे तो भी उनमें विषमता नहीं आती है, ऐसे करनेवालोंमेंसे मैं(भगवान्) दृष्टान्त हूं. यों कहनेसे भगवानने अपना उत्कर्ष नहीं दिखाया किन्तु ज्ञान देनेकेलिए यों कहा है, जैसे भृगुने अतिक्रम(लात मारकर अपमान) किया तो भी मैंने उसकी पूजा आदिसे आदर ही किया, सबको यों ही करना चाहिए, जो यों करते हैं उन्होंने 'अहमुपाहृत' मुझे पा लिया, यह फलवाक्य पृथक् है, इसलिए पुनरूक्ति नहीं है, उनके उत्कर्षकेलिए अन्तमें कीर्तन है।।११।।

इस प्रकारके निरूपणका प्रकृत चालू विषयमें उपयोग है, यों इस श्लोकमें कहते हैं:

तन् मे स्वभर्तुरवसायम् अलक्षमाणौ युष्मद् व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे यत् कल्पताम् अचिरतो भृतयोर्विवासः।।१२।।

मेरे इन सेवकोंने मेरा अभिप्राय न जानकर जो आपका अपमान किया है उसका फल जो आपने इनको दिया है वह फल ये शीघ्र भोगकर मेरे पास लौट आवे, मेरे अनुरोधसे आप इन पर इतना अनुग्रह कीजिए।।१२।।

क्योंकिब्राह्मणों का स्वरूप इसी प्रकारका है जैसा कि अब मैने वर्णनकर बताया है, मैं वैसा ही मानता हूं, उसके अज्ञानसे उन दोनो ने आपका अतिक्रमण(अपमान) किया जिसका दण्ड जो आपने इनको दिया वह भोगकर, फिर मेरे पास शीघ्र आजावें, यह मेरा इन पर अनुग्रह भक्ति की रक्षार्थ है, इसमें किसी कारणकी आवश्यकता नही है. इसलिये कहा है कि यह मेरा ही अनुग्रह है. यदि कहो कि विशेष अनुग्रह भी करना चाहिये इसपर कहते है कि, 'यत्कल्पतामिति' जिस अनुग्रहसे भक्ति पूर्ण दोनों सेवकोंका यह परदेशवास शीघ्र समाप्त हो, परदेशवास कहनेका गुप्तभाव यह है कि इनको जन्म-मरणसे जो दुःख होता है वह इनको न होवे 'ममान्तिकमिताम्' मेरे पास प्राप्त हो अर्थात् फिर आकर दास ही बने विशेष कारिकाओंसे समझाते है।।१२।।

जीवानां तु त्रयो भावा उत्कर्षोत्कर्षहेतवः।

जीवाः स्वभावतो दासा देहभावोऽधमस्ततः।।का.१।।

जीवोंके[1] तीन भाव हैं जो क्रमशः उत्कर्षके कारण है, जीव स्वभावसे प्रभुके दास[2] हैं इससे देहभाव अधम है।।१।।

१.इन कारिकाओंसे भगवान् अपने विचारे हुए आशयको कहते हैं, भगवान्ने सर्व समर्थ होकर भी मुनियोंकी प्रार्थना क्यों की ? ऐसी शंका कारिकाओंसे मिटा देते है–प्रकाश

२.क्योंकि भगवानने क्रिडाकेलिए जीवोंको उत्पन्न किया है, इसलिए देहरहित जीव भाव उत्कर्षका हेतु है वह ही अनुग्रह है–प्रकाश

ब्रह्मभावः स्वतः श्रेष्ठः तत्स्वभाव इह स्थिताः।

देहभावस्तु तच्छापः स्वभावोऽनुग्रहः स्मृतः।।का.२।।

ब्रह्मभाव दासभावसे स्वतः श्रेष्ठ है यहां(वैकुण्ठमें) केवल स्वरूपसे अपने स्वभाव(दासभाव)से वे रहते हैं देहभाव शापसे प्राप्त हुआ है स्वभाव भगवदनुग्रहसे हुआ है।।२।।

सायुज्ये ब्रह्मभावः स्याद् नाऽन्यथेति विनिश्चयः।

सायुज्ययोग्यताकाले ब्रह्मभावो निरूप्यते।।का.३।।

सायुज्यमुक्ति होने पर ही ब्रह्मभाव होता है यों निरूपण किया जाता है।।३।।

भगवानेव हि ब्रह्म नाऽन्यो भवितुम् अर्हति।

एकं च ब्रह्म सर्वेषां तथात्वे तु विरुद्ध्यते।।का.४।।

भगवान् ही ब्रह्म है दूसरा ब्रह्म नहीं हो सकता है और ब्रह्म एक ही है. यदि सर्व ब्रह्म होवे तो 'एक ही ब्रह्म है' इसका शास्त्रसे विरोध होगा।।४।।

भगवत्करणाद् लोके भावना दुर्बला मता।

दासभावाद् अतो नाऽन्यत् काम्यं भवति कस्यचित्।।का.५।।

वैकुण्ठलोकमें भगवत्व प्रकट है अन्यत्र जीव भगवत्संग न होनेसे उदासीन रहते हैं ऐसी दशामें ब्रह्मभावना हो(की जावे) तो दोष नहीं है, क्योंकि जीव कार्य नहीं करते हैं अतः भगवानपनसे तो विरुद्ध है कारण कि भगवान् कार्य करते हैं, तात्पर्य यह है कि भावना भले करे किन्तु ब्रह्म बन नहीं जाता है यदि बन जावे तो भगवान् एक है इसका विरोध हो जाएगा यह दोष है इत्यादि कारणोंसे भावना दासभावसे दुर्बल है अतः जगतमें दासभावके सिवाय दूसरी कोई कामना कोई भी नहीं करता है।।५।।

अतो हि भगवान् भर्ता जीवानाम् इति निश्चयः।
अभिप्रायस्तु तस्याऽपि ब्रह्मभावम् अभीप्सुभिः।।का.६।।
ब्राह्मणातिक्रमो नैव कर्तव्य इति निश्चयः।
अतो दण्डस्तु सोढव्यो नो चेद् अग्रे फलं न तत्।।का.७।।

इसलिए भगवान् ही जीवोंका भरण करनेवाले स्वामी है यों निश्चय है उसका(ब्रह्मभावकी चाहनावालोंका) भी अभिप्राय यही है कि ब्राह्मणोंका अतिक्रमण नहीं करना यों निश्चय है अतः दण्ड सहन करना चाहिए, नहीं तो भविष्यमें वह फल(भगवानके पास शीघ्र लौटकर फिर वही पद पाना) नहीं मिलेगा।।६-७।।

भगवानने यों कहकर मुनियोंका दिया हुआ शाप पक्का किया.

इस तरहके वचनोंसे मुनियोंने जान लिया कि शाप देनेसे भगवान् प्रसन्न हुए हैं अतः उनके अन्तःकरणका दुःख एवं चिन्ता नष्ट हुए तब प्रसन्न चित्त हो अच्छे प्रकारसे स्तुति करने लगे, यों कहनेकेलिए ब्रह्माजी पहले बताते हैं कि भगवद्वाक्योंसे उनकी(मुनियोंकी) अधि(भीतरकी चिन्ता दुःख) मिटी-जिसका वर्णन 'अथतस्योशती' श्लोकसे तीन श्लोकोंमें करते हैं:

ब्रह्मा उवाच
अथ तस्योशतीं देवीम् ऋषिकुल्यां सरस्वतीम्।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषाम् आत्माऽप्यतृप्यत ।।१३।।

ब्रह्माने कहा क्रोधरूप सर्पसे डसे हुए मुनिओंका चित्त भगवानकी अमृतमयी ऋषिकुल योग्य और सुमधुर वाणीका स्वाद लेकर भी तृप्त नहीं हुआ ।।१३।।

भगवानके वाक्यमें शब्द और अर्थ दोनों चिन्ता मिटानेवाले हैं इनमें पहले शब्द द्वारा ही संशय दूर कर चिन्ता मिटा दी. अर्थ तो एक प्रकारका न होनेसे स्पष्ट निर्णायक नहीं होते है यद्यपि स्वरूपसे निर्धारित होने पर भी फलसे निर्णीत नहीं होता है. इसलिए अर्थ सम्यक्(ठीक) प्रकारसे चिन्ता दूर नहीं करता है. अतः यद्यपि पूर्णतया चिन्ता दूर नहीं हुई तो भी प्रत्यक्ष देखे हुए साधन बलवान् होनेसे समग्र अन्तःकरण चिन्तायुक्त होते हुए भी निर्मल(शुद्ध) हो गया, यों शब्द और अर्थकी सामग्री पृथक् होनेसे तीन श्लोकोमें कहते हैं, पहले शब्दसे उनको सुख हुआ वह कहते हैं 'अथ' पदसे यह सूचित किया हैं कि अब यह नवीन विषय

आरम्भ करते हैं, क्योंकि अर्थका पूर्ण विचार नहीं किया था, 'उशती' सुन्दर शब्दसे बताया है कि इसका रूप दुःख दूर करनेवाला है, युक्तिकेलिए दूसरा विशेषण 'ऋषिकुल्यां' दिया है अर्थात् ऋषि कुलके योग्य है, मन्त्र दृष्टाओंको 'ऋषि' कहते हैं, मन्त्र अलौकिक प्रभाववाले हैं, उनका भी हित करनेवाली उनसे भी अलौकिक प्रभावशाली होती है, क्योंकि अपने सामर्थ्यसे दुःख दूर करनेकी शक्तिवाली होनेसे, किञ्च 'देव' होनेसे देवी प्रकाश करनेवाली है, जिसमें कान्ति भी देनेवाली है, यदि ऐसी न होवे तो हृदयमें प्रकाश कौन करे? इस कारणसे भी दुःख मिटानेवाली है, वह 'सरस्वति' भी है. 'सर' नाम जलका है, यह वाणी आधिदैविकी होनेसे वह जल अमृतरूप है, उनका हृदय क्रोध सर्पसे दंशित(डसा हुआ) होनेसे मृतक समान था, वह अमृतसे जीवित हो सकता है, कान्तिसे प्रकाशित होता है, अलौकिक भावसे कार्य करनेमें समर्थ किया जाता है और परमानन्द प्राप्त कराया जाता है, इसलिए चार विशेषण दिये हैं इस प्रकारकी सरस्वती(वाणी)का स्वाद लेकर भी उनकी आत्मा तृप्त न हुई, 'अलं' यह पर्याप्त है, जो अर्थ समझनेकेलिए श्रवण किया होता तो अर्थ पूर्ण होनेसे इच्छा पूर्ण होती स्वरूपसे(वाणीका) श्रवण(दर्शन) करने पर आनन्दमें अलबुद्धिके(पर्याप्त बुद्धिके) अभावसे लौटती नही, सर्पसे दंशित(काटे हुवे)को मन्त्र पढकर जल पिलाया जाता है जिससे उसकी प्यास नहीं मिटती है क्योंकि उसमें विषकी आग ज्यादा होनेसे आत्माको भी दंश लगानेसे सर्वांगमें ज्वाला हुई है, इसलिए वे दंशित(डसे हुवे) कहे हैं।।१३।।

इसी तरह शब्दसे फल कहकर अर्थके अनुसन्धान करनेसे भी जो परिणाम निकला वह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम्।
विगाह्याऽगाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम्।।१४।।

भगवानकी सुन्दर वाणी, स्वल्प अक्षरोंवाली गुरु अर्थके कारण दुर्विज्ञेय (मुश्किलसे समझमें आनेवाली) और भाव गम्भीर थी, जिससे कान खोलकर भी अर्थात् ध्यानसे श्रवण करने पर भी वे मुनि यह न समझ सके कि भगवान्का आशय क्या है।।१४।।

वह भगवानकी वाणी सत्यमार्गको सिद्ध करनेवाली है अतः शब्दोंके भावार्थको समझ लेनेसे सुख तो हुवा ही. कान खोलकर श्रवण किया, वाणी बहुत

अल्प(सूक्ष्म)थी इससे विचार करनेमें आ सकती, इसलिए सुख देनेवाली कही थी, इसी प्रकार दो विशेषणोंसे अर्थ द्वारा भी वाणी सुख देनेवाली है. विस्तृत अर्थके कारण अगाध तथा गम्भीर होनेसे साधन और फलसे फल देनेवाली न हुई, अर्थ गम्भीर है, भगवान् पुरूषोत्तम और हीन सेवक जीवोंके परस्पर विपरीत धर्म प्रतिपादन होनेसे उसका भावार्थ समझमें नहीं आता है, यदि कहो कि जो कुछ सुना है उससे जो अर्थ प्राप्त हो उससे निर्णय कर सन्देह दूर करना चाहिये, इस पर कहते हैं कि भगवानके वचन अगाध होनेसे गम्भीर हैं जिससे उसके तलका स्पर्श नहीं हो सकता है. जिससे आशयकी कल्पना की जा सके, गम्भीर होनेके कारण मज्जन करने पर भी तल स्पर्श नहीं होता है, एतावता भगवानने कुछ गम्भीर होकर कहा यों समझमें आता है, तो भी यह(भगवान्) यों क्याकर रहे हैं इनके मनकी इच्छा क्या है? वह समझमें नहीं आती है. 'विगाहनं'का अर्थ है भीतर घुस जाना अर्थात् विचार करने पर वे नहीं जान सके।।१४।।

इस तरह वाक्यका कुछ भाव जानकर भगवानके भी दर्शन कर प्रसन्न होते हुए स्तुति करने लगे यों इस श्लोकमें कहते हैं.

ते योगमाययारब्ध–पारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः कुपितत्वचः।।१५।।

प्रसन्न हुए वे विप्र त्वचाके कुपित होने पर भी, योगमायाके प्रभाव द्वारा अपने परमेश्वर्यको प्रकट करनेवाले प्रभुको हाथ जोडकर कहने लगे।।१५।।

योगमाया निश्चयसे भगवानके वैभवके योग्य पदार्थोंकी रचना करती हैं, वे पदार्थ न प्राकृत हैं और न कि ब्रह्माके बनाये हुवे हैं इसलिए परम ऐश्वर्यकी अपेक्षासे भी विशेष उत्तम है, योगमायाने प्रारम्भ की हुई अधिक श्रेष्ठताके कारण भगवान् भी अधिक उत्तम देखनेमें आये. अतः इस प्रकारकी श्रेष्ठतम सामग्री देखनेसे उनको परमानन्द नानाविध भासने लगा, इस कारणसे प्रसन्न हुवे, (स्वयं) विप्र होने पर भी ऐसी वैभव श्रेष्ठता मनसे भी नहीं विचार सके, जिससे भगवानके माहात्म्यका ज्ञान हुआ, अतः हाथ जोडे भगवद्दर्शनसे एवं प्रभुके वैभवके दर्शनसे अन्तःकरणमें जो पूर्ण आनन्द भर गया, वह रोमकूप द्वारा बाहर निकलते हुवे त्वचाको कुपित किया, जिसका कारण यह था कि इसकी देवता वायु है, आनन्द परिपूर्ण होनेसे वायुको रहनेका स्थान न मिला जिससे बाहर निकलने लगी. अपने देवताको स्थान न मिले और उसको स्थान छोडना पडे तो त्वचाको अवश्य क्रोध

उत्पन्न होगा यों होना उचित ही था. 'क्षभिता' पाठ हो तो उसका भी अर्थ (आशय) समान ही होता है।।१५।।

विरोध दूर करनेकेलिए ही स्तुति करने लगे अतः पहले मुनि विरोध कहते हैं:

मुनयः ऊचुः

न वयं भगवन्! विद्मः तव देव! चिकीर्षितम्।

कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे।।१६।।

मुनियोंने कहा हे क्रीडाशील भगवान्! आप सबके अध्यक्ष होकर भी यों कहते हो कि ''यह आपने मुझ पर बडा अनुग्रह किया'', इन शब्दोंके कहनेसे आपका कौनसा अभिप्राय है यह हम नहीं जान सके हैं।।१६।।

विरूद्ध अर्थ जाननेसे विरोध नहीं होता है किन्तु मनसे यदि उसकी व्यवस्था न हो सके तो विरोध होता है, क्योंकि मन ही वाणीका भर्ता(पति) है, यदि वह प्रभु विरोध नहीं करते हैं तो दासियोंके विरोध करनेसे क्या? किन्तु वह भी नहीं है यों अपने अनुभवसे कहते हैं, हे भगवन्! वह भगवान् हो फिर 'देव' हो जाते हैं अतः कहते हैं कि इससे आपको क्या करनेकी इच्छा है जिसको हम नहीं समझ सकते हैं. ज्ञान हो तो आपकी वाणीके अभिप्रायकी कल्पना भी करें, कल्पना नहीं करनेमें क्या कारण है वह हेतुपूर्वक कहते हैं-''कृतो मे अनुग्रह'' आप सर्वके अध्यक्ष अर्थात् सर्वसाक्षी प्रभु हैं फिर सेवकोंको कहते हैं कि ''मुझ पर अनुग्रह किया'' यों कहना अर्थसे विरूद्ध है।।१६।।

इस श्लोकमें दूसरा विरोध दिखाते(कहते) हैं:

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो!।

विप्राणां देवदेवानां भगवान् आत्मदैवतम्।।१७।।

हे प्रभु ! आप ब्राह्मणोंके हित करनेवाले हैं, फिर भी कहते हैं कि ब्राह्मण मेरे आराध्य देव हैं वास्तवमें तो ब्राह्मणों देवोंके देवताओंकी भी आप ही आत्मा तथा उनके आराधनीय देव हैं।।१७।।

ब्रह्मण्य होनेसे तो आप उनका सर्वथा हित करनेवाले हैं और उनके सकल पुरुषार्थ भी आप ही सिद्ध करते हैं अतः उनके उपास्य है, फिर भी ''ब्राह्मणाः किल ते परं देवमिति प्रभाष''से कहते हैं कि वे ब्राह्मण मेरेलिये निश्चयसे परम देव हैं, अथवा 'किल'का भावार्थ है कि यह आपका कहना

प्रसिद्ध है, 'येषां बिभर्मि' इस ब्राह्मण प्रभुत्व प्रतिपादक वाक्यमें कोई किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, यदि कहो कि भावभेदसे ये दोनों बन सकते हैं तो इस पक्षका खण्डन करते हैं. हे प्रभो! इस सम्बोधन पदसे कहा है कि आप सर्व प्रकार समर्थ है, अतः किसी भी अंशसे आपको ब्राह्मणोंकी अपेक्षा नहीं हैं, किञ्च ब्राह्मणोंके देवोंका और देवोंके देव ब्रह्मादिकी भी(आप भगवान्) आत्मा और देव होनेसे अवश्य उपास्य है और चिदंश(जीव) तो सेवक हैं अतः उनके आप देवता हैं।।१७।।

यदि कहो कि जैसे मैंने ब्राह्मणोंकेलिए कहा है वेद भी यों कहते हैं अतः शास्त्रके अर्थके अनुसार यों ही होना चाहिए. ऐसी शंका हो, तदर्थ निम्न श्लोक कहते हैं.

त्वन्नः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्त्वया।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकल्पो भवान् मतः।।१८।।

आप ही यज्ञरूप होनेसे हमारे सनातन धर्म है, आप ही अवतार लेकर उसकी रक्षा करते हैं, धर्मका गोप्य परम रहस्य आप ही निर्विकल्प माने गये हैं।।१८।।

आप ही हमारे सनातन धर्म हैं, क्योंकि आप ही यज्ञरूप तथा ब्रह्मरूप हो, जैसाकि भगवतीश्रुति कहती है कि ''देवोंने यज्ञ द्वारा यज्ञपुरुष(आपका) पूजन किया'', ''योगसे आत्माका दर्शन करना यह उत्तम धर्म है'' इत्यादि श्रुतियोंसे आप सनातनसे हमारे धर्म हैं जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है तब-तब आप अवतार धारणकर उसकी रक्षा करते हैं, जैसाकि गीतामें कहा है ''**यदा यदा हि धर्मस्य ...तदा आत्मानं सृजाम्यहं**'' फिर आप तो धर्मके परम रहस्यरूप हैं, धर्मका अत्यन्त गोप्य स्वरूप आप ही हैं, यदि धर्म दूसरे पदार्थमें जाता है तो वहां धर्मीको छिपा लेता है. जैसेकि जलगत उष्णता वह्नि(अग्नि)को छिपा लेती है वैसे जीवोंमें आया हुआ जीवत्व धर्म ब्रह्मको छिपा लेता है, कारणकि वह धर्म उसका(ब्रह्मका) ही क्रियाशक्तिरूप है, उसको छिपानेके योग्य भक्तियोग भी है, तो भी भगवान् परमगुह्य हैं, उसको ब्रह्म ही छिपाने योग्य हैं, फिर भगवान् कैसे कहते हो? इस शंका पर समाधानकेलिए कहते हैं ''भगवानेव निर्विकल्पो मत'' कि आप ही निर्विकल्प(ब्रह्म) माने गये हैं, जैसाकि 'पूर्ववद्वा' इस ब्रह्मसूत्रमें कहा है. सर्व कल्पनाशून्य ब्रह्म है, वह ही बादमें धर्मरूपसे प्रकट होते हैं. उस स्वरूपके

साथ भगवान् कहलाते हैं, भगवानका एक स्वरूप 'निर्विकल्प ब्रह्म' है. दोनों प्रकारसे भी धर्मसे परमगुह्य रखना है।।१८।।

ज्ञानसे भी आप गुह्य रखने योग्य हैं यों इस श्लोकमें कहते हैं.

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात्।
योगिनः स भवान् किंस्विद् अनुगृह्णेत यत्परैः।।१९।।

वैराग्यवाले योगीजन भी जिनके अनुग्रहसे मृत्युको सरलतासे पारकर जाते हैं, ऐसे आपके उपर अन्य ऐसा कौन है जो अनुग्रह करे।।१९।।

संसारसे छूटे हुए अर्थात् वैराग्यवाले परमहंस जिनका अनुग्रह प्राप्तकर सरलतासे मृत्युको पारकर जाते हैं, दोनों तटोंको तोडकर ग्रामोंको डुबो देनेवाली नदीके समान मृत्यु सबको डुबानेवाली है. उसको(मृत्युको) भी पार करते हैं यों कहा है. कौन? कि योगीजन, क्योंकि ये अनुग्रह करनेके अधिकारी हैं, तरनेमें योग कारण नहीं है. अपितु(बल्कि) आपका अनुग्रह ही कारण है. ऐसे आप जो वेदोंके भी रहस्यरूप हो उनमें 'पर' अर्थात् उनसे श्रेष्ठ दूसरा कौन ऐसा हैं, जो कृपा करें, और वे भी असमर्थ हैं अतः कैसे अनुग्रह करेंगे. फिर आप उनका अनुग्रह कैसे स्वीकारकर सकेंगे?

यदि 'गृह्णीत' पाठ हो तो, दूसरोंकेलिए जो कर्म है उसका आप क्यों निश्चयसे स्वीकार करें, दूसरोंसे अपना माहात्म्य संपादनकर दूसरों पर अनुग्रह किसलिए करना चाहिए, यों अर्थ है, ऐसेके अनुग्रह वचन बाधित अर्थवाला अर्थात् असत्य भासता है, भगवान् तो सत्यवादी हैं अतः वह भी बन नहीं सकता है जिससे हमारा अज्ञान ही है, अर्थात् आप क्या करना चाहते हैं वह हम नहीं समझते हैं।।१९।।

ब्राह्मणोंकी कृपासे ही लक्ष्मी हमारे यहां स्थिर रही है यह भी सर्वथा असत् है यों भासता है, जिसका वर्णन निम्न श्लोकोंमें करते हैं:

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलम् अन्यैः अर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रि–तुलसी–नवदामधाम्नो लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना।।२०।।
यस्तां विविक्त–चरितैरनुवर्तमाना नाऽत्याद्रियत् परम–भागवत–प्रसङ्गः।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजःपुनीतः श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम्।।२१।।

अर्थकी कामनावाले जिसकी चरणरजको सदैव अपने मस्तक पर धारण करते हैं वह लक्ष्मीजी आपकी सेवा परायण है, फिर भी भक्तजन आपके चरणों

पर जो तुलसीकी मालाएं अर्पण करते हैं उन पर भौरोंका गुंजार देखकर चाहती है कि मैं भी पादपद्मोंको अपना निवास स्थान बनाके उनका रसपान करूं।।२०।।

परन्तु पवित्र चरित्रोंसे सदैव सेवा करनेवाली उस लक्ष्मीका आप विशेष आदर नहीं करते हो, आप तो भक्तोंसे ही प्रेम करना चाहते हैं जो आप स्वतः पवित्र एवं स्वयं सम्पूर्ण सद्गुणोंके आश्रय हैं ऐसे आपको जहां तहां फिरनेवाले ब्राह्मणोंके चरणोंके स्पर्श होनेसे पवित्र हुई धूलि तथा श्रीवत्सका चिह्न आपको कैसे पवित्रकर सकते हैं, क्या इनसे आपकी शोभा बढ सकती है?।।२१।।

जिस लक्ष्मीकी पादरेणु अर्थार्थी अपने शिर पर चढाते हैं वह लक्ष्मी जिस भगवानकी सेवाकेलिए समयानुसार भक्तकी तरह स्वयं आती है उसका तो आप विशेष आदर भी नहीं करते हैं. ऐसे वे आप द्विजोंके चरणोंसे पवित्र हुई मार्गकी जो रज, उससे पवित्र होकर कैसे श्रीवत्सका चिन्ह धारणकर सकते हो, अतः ब्राह्मणोंकी कृपासे ही चञ्चला लक्ष्मी मेरे पास स्थिर रही है, आपका यह पक्ष भी नहीं बनता है. वह तो आपमें उसकी भक्ति है इसलिए स्थिर रही है. उसकी आपमें भक्ति ब्राह्मणोंसे सिद्ध नहीं हुई है, भक्तिमार्गमें ब्राह्मण भी भक्तपनसे ही उपयोगमें लिये गये है. ब्रह्मभावके अनन्तर ही भक्तिका अधिकार होनेसे ब्रह्मभावकी प्राप्तिकेलिए अपेक्षा है. यदि यों कहे तो उस(लक्ष्मीजी)का ब्रह्मभाव सिद्ध हुआ ही है, जैसाकि कहा है ''मम योनिर्महद्ब्रह्म'' लक्ष्मीजीका शरीर ब्रह्मानन्दरूप है, अतः साक्षात् व परम्परासे उसकी भक्तिमें ब्राह्मणका उपयोग नहीं है, भक्तिके कारण ही आपके पास स्थिर रही है इससे भगवद्वाक्य विचार करने योग्य है, और विशेष, ब्राह्मण भिखारी है, अर्थ चाहनेवाले इन्द्रादिके पास मांगने जाते हैं. इन्द्रादिक तो लक्ष्मीचरणोंकी रेणुके उपासक हैं. अतः ब्राह्मणोंका निर्वाह जो इन्द्रिादिक करते हैं उनका भी निर्वाह करनेवाली लक्ष्मी उनके(ब्राह्मणोंके) अधीन कैसे होगी? किञ्च भोग्यभाव ही उसने छोड दिया है जिससे वह फलरूप नहीं रही है, वह तो दूसरे रस (भक्तिरस)में प्रविष्ट हो गयी है, भक्तिरससे कामरसमें प्रवेश नहीं कर सकता है, भगवानने भी ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इस वाक्यको ''जो जैसे मुझे भजते हैं उनको मैं भी उसी तरह भजता हूं'' चरितार्थ करनेकेलिए लक्ष्मीजीको भक्तपनसे ग्रहण किया है, जैसे तुलसीको, अतः उसके गुणोंकी भी अपेक्षा नहीं है वह भी निर्गुण तुलसीका बहुत आदर करती है अपनेको उससे हीन समझती है. भौंरे अनेक प्रकारके पुष्पोंके रसके ग्राहक एवं उससे आसक्त होते हैं तो भी

भक्तिके माहात्म्यके कारण सुगन्धितरसरहित तुलसीके रसमे आसक्त हुवे हैं तो मुझे भी यों ही करना चाहिए इसलिए भ्रमरोंके स्थानको ही प्राप्त करना चाहती है, यों होने पर भी उस स्थानको प्राप्त करके भी वह फिर अपने ही पदको प्राप्तकर लेगी अतः भक्त होने पर भी उसका अधिक आदर नहीं करते हो.

स्वभावसे निर्दोष भगवानके पास स्थान प्राप्त करनेमें कोई अन्य हेतु नहीं है तो भी उस स्थानको त्यागकर पूर्व अवस्थाको ग्रहण नहीं करते हैं अतः वे परम भगवदीय हैं, इसलिए ही लक्ष्मीसे विशेष प्रेम(संग) आप उनसे करते हैं, अर्थात् भगवान् भौंरोंसे विशेष प्रेम करते हैं क्योंकि लक्ष्मीसे ये अधिक भगवदीय हैं जो मेरे चरणोंमें ही आसक्त और व्यसनवाले है उनको छोडते नहीं ऐसे लक्ष्मीमें असाधारण गुण कैसे हों? उसमें आप भी तो भगवान् शब्दका जो अर्थ उसके रूप ही हो, आपमें नित्य ही षड्गुण(ऐश्वर्यादि) विराजते हैं, यदि ये गुण ब्राह्मणोंके अनुग्रहसे आपमें आये हों तो वे कृत्रिम हो जाय. यदि व्यामोहक्रीडा(मोहित) करनेकेलिए कहते हैं तो अलौकिक प्रकारसे ही हमको मोहित नहीं करना चाहिए, साधारण रीतिसे तो हमको मोह नहीं होगा क्योंकि हमको विशेष ज्ञान हो गया है, कहनेका यही तात्पर्य है, 'विभूति' विशेषण भूतिः यस्या इति 'विभूति' भगवानके भजनमें जिस सामग्रीकी उपयोगिता है वह सर्व सामग्री इस पदसे कह दी हैं, उपयाति पदमें 'उप' शब्दके प्रयोगका यह आशय है कि, उनके(भगवानके) समीप ही यह सामग्री पहुंचती है, न कि भोग करती है, अन्यैः दूसरे पदसे भगवद्विमुख कहा है, वे भगवद्विमुख क्यों हुवे हैं इस पर कहते हैं कि अर्थ चाहनेवाले हैं, जिनका चित्त धनमें ही आसक्त है वे भगवत्सम्मुख नहीं होते हैं उनसे विमुख ही रहते हैं जैसे अज्ञ(छोटे) बालकको दूध न मिलनेसे व्याकुल होता है माताके सिवाय किसीको नहीं चाहता है वैसे ही धनार्थी लक्ष्मीको ही चाहता हैं उनकी उपास्य देवता लक्ष्मी ही है, ''स्वशिरसा धृतपादरेणुम्'' प्रथम सम्बन्ध केलिए ही पहले अपने मस्तकके उपर जिसकी चरणरज धारण की है, इस पदसे यह बताया है कि जो लक्ष्मीके उत्सुक हैं वे लक्ष्मीको चाहते हैं क्योंकि उसकी चरणरजसे ही उनके शरीर बने हुए हैं. जिसकेलिए ही भगवानको भी चाहते है, शेष अन्य तो भगवानकी भक्तिकेलिए भजते हैं एवं चाहते हैं.

यदि तुलसी अलौकिक होती तो उसके स्थानकी प्राप्तिकी इच्छा भक्ति उत्पन्न करनेवाली न हो, इसीलए अर्थात् वह अलौकिक नहीं है किन्तु भाग्यवान्

पुरुषोंने चरणोंमें अर्पणकर अपनी भक्ति प्रकट की है अतः भक्तिको उत्पन्न करनेवाली है यदि केवल कृत्रिम हो तो उसको भगवत्सम्बन्ध न होता. किन्तु 'धन्य' पदसे अर्पण करनेवाले 'भक्त' हैं यों सुचित किया है.

जो लोग लक्ष्मीके आधिभौतिक स्वरूप धनको प्राप्त करनेके योग्य हैं ऐसे भगवानके प्राणी(सेवक) धन्य हैं, दूसरे धनी होते हुए भी धन प्राप्तिके योग्य नहीं है जैसे कुत्ते गंगाजलके योग्य नहीं हैं, इसी कारणसे ऐसे धनियोंका धन भगवानके उपयोगमें नहीं आता है. धन तो अपने उपयोगमें लाते हैं उससे अधिक तुलसी है अतः वे, वह तुलसी भगवानके चरणोंमें समर्पण करते हैं चरणोंमें समर्पण भक्तिके हेतुवाला है. भगवानके चरणोंमें तुलसीकी नवीन माला बनाके अर्पण करते हैं माला बनाके अर्पण न करे तो बहुत तुलसीसे भगवानके चरण आच्छन्न हो जावे. वह(माला) तो भगवच्चरणारविन्दमें ही विराजमान रहती है अथवा भक्तों पर कृपा होने पर उनके कण्ठोंमें पहनाई जाती है, दानों प्रकारसे ऐसा स्थान दूसरा कोई नहीं है, वह भौंरोंका स्थान होता है यों होनेमें हेतु कहते हैं 'मधुव्रतपतेः' मधु(शहद) ही जिनका व्रत है वे मधुव्रत कहे जाते हैं, अपने नियमके पालनसे धर्म होता है, इस पक्षमें मधुव्रती होने पर भी धर्म है, मधुपतियोंका पति, यों उनके सम्बन्धी होनेसे व्रत पालन करनेवालोंके समान परम्परासे कृतार्थ हुवे हैं यों सूचित किया है, 'इम' पदसे ब्रह्मानन्दका हीनभाव मिटानेकेलिए उपमा दी है, अथवा इच्छित अर्थ श्रद्धावाला होनेसे भक्ति कामनावाली है इस तरह भी भजनमें भगवानको वह फल प्राप्त होता हो तो भी ब्राह्मणोंके वाक्यको इसमें हेतु कल्पा(माना) जावे, वह भी नहीं है. इसलिए कहते हैं 'यस्तामिति' इस श्लोकसे जो प्रसिद्ध रीतिसे कहते हैं कि 'लक्ष्मी' ब्राह्मणोंके प्रसादसे प्राप्त हुई है वह भी केवल कहना ही है उसको मानते तो नहीं, अर्थात् लक्ष्मी ब्राह्मण प्रसादसे प्राप्त हुई मानकर उसका आदर करे वह(आदर) तो करते नहीं, उसमें कारण यह है कि परम भगवदियोंमें विशेष प्रकारसे संग है वे भगवदीय परम(उत्तम) हैं और असाधारण हैं अतः लक्ष्मी सहित भगवद् अंशके साथ सेवा करना व्याभिचारवाली सेवा है. अतः उन भक्तोंके अनुरोधसे भी लक्ष्मीसे रमण नहीं करते हैं, ऐसे आप ब्राह्मणोंकी चरणरजसे पवित्र होते हैं यह कहना बन नहीं सकता है क्योंकि आप ईश्वर होनेसे ब्राह्मणोंके पीछे–पीछे चलें यह अनुचित है वे ब्राह्मण पैरोंसे चलनेवाले अर्थ चाहनेवाले देवोंके अनुयायी हैं उनकी चरणसे छुई

हुई रजका पवित्र होना दूर है फिर विशेष वह मार्गकी रज होनेसे स्वतः अपवित्र होनेसे, आपको पवित्र करे यह तो उससे भी दूर है, श्रीवत्सका चिन्ह आप क्यों धारण करें जबकि आप षड्ऐश्वर्यादि भगोंके भाजन(पात्र) हैं अर्थात् आप तो सहज श्री आदि धर्मोसे सहज युक्त हैं।।२०-२१।।

इस तरह विरोध कहकर, उसके तात्पर्यकी कल्पना करते हुए बताया है कि ये वचन धर्मकी रक्षाके वास्ते कहे हैं क्योंकि धर्मकी रक्षा भगवानने सर्वथा की है जिसकी रक्षाका कारण इस श्लोकमें कहते हैं:

धर्मस्य ते भगवतः त्रियुग! त्रिभिः स्वैः पद्भिः चराचरम् इदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च सत्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य।।२२।।

हे त्रियुग ! सत्वगुणको नष्ट करनेवाले रजोगुण और तमोगुणको हमारे कल्याणकारी सतोगुणरूप तनुसे दबाकर धर्मरूप आप भगवान् अपने तीन चरणोंसे इस स्थावर-जंगमरूप जगतकी ब्राह्मण तथा देवोंकेलिए निश्चय रक्षा करते हैं।।२२।।

हे त्रियुग! तीन युगोंमें प्रकट होनेवाले सतयुग, त्रेता और द्वापरयुगमें ही भगवदाविर्भाव होता है कलियुगमें नहीं, अतएव(इस कारणसे ही) कलियुगमें धर्म भी नहीं है क्योंकि उसका कोई रक्षक भी नहीं है, तीनो युगोमें ही भगवानके प्राकट्यमें और उनमें ही रक्षाके हेतु बताते हैं. ''त्रिभिः स्वैः पद्भिः'' अपने तीन पादोंसे रक्षा करते हैं क्योंकि भगवान् त्रिपात् हैं कारणकि ''यज्ञस्य सवन त्रयात्मकत्वात्'' यज्ञ तीन सवनरूप हैं अर्थात् सोमयज्ञमें 'सवन'(सोमरस) निकालनेके तीन समय हैं, भगवान्(के) अपने असाधारण इन तीन चरणोंसे, अतः भगवान् द्विपात्(दो पैरवाले) और चतुष्पात्(चार पैरवाले) भी लोकमें प्रसिद्ध हैं इस प्रकारकी विलक्षणता भगवान्में दोषवाली नहीं है. 'पद्भिः' पद कहनेसे एक-एकमें दो-दोकी संख्या समझनी चाहिए, इससे भगवानमें जो ऐश्वर्यादि छः गुण हैं उनमेंसे एक-एक युगमें दो-दो गुणोंसे धर्मरक्षा करते हैं जैसेकि सतयुगमें ज्ञान और वैराग्य गुणोंसे धर्मकी रक्षा करते हैं, त्रेतायुगमें यश और श्री गुणोंसे तथा द्वापरमें ऐश्वर्य और वीर्यसे धर्मकी रक्षा करते हैं इसलिये कलियुगमें कोई धर्म(गुण) शेष नहीं रहता है जो धर्म रक्षक बने किञ्च सत्वगुणसे धर्मकी पालना होती है. इसलिये सत्युगमें केवल सत्वकी प्रवृत्ति थी, त्रेतामें रजोगुण सम्मिलित सत्वकी प्रवृत्ति थी, जिससे धर्मरक्षा होती थी, कलियुगमें तो न सतोगुण है और न उससे

सम्बन्ध रखनेवाला कोई गुण है अतः इसमें धर्मरक्षा हो नहीं सकती है. जगत् भी भगवान्ने धर्मकेलिये ही रखा है, 'चराचरमिदम्' यद्यपि धर्म और जगत् भगवान् ही है तो भी धर्मकेलिए ही जगत्की पालना की जाती है, उसको कहते हैं कि, ब्राह्मण तथा देवोंकेलिए ही निश्चय जगत् धारण(पालन) किया है. इस जगतका धारण स्वरूपसे किया जाता है फिर सत्त्वसे व गुणोंसे क्या? इस प्रकारकी शंका पर कहते हैं कि ''तस्य जगतोऽभिधाति(नाशकं) रजश्च तमश्च'' जगतको नाश करनेवाले रजोगुण और तमोगुण हैं, रजोगुण विक्षेप(लडाई, दंगे, लूटमार) कराके नाश कराता है और तम, आवरणसे(बुद्धिका नाशकर) जगत्का नाश करता है, दोनों तरहसे जगत् धर्मार्थ नहीं रह सकता है इसलिए आपने सत्त्वसे रज और तमको दबाकर जगत् धारण किया है सत्त्वगुणमें दानों(रज और तम)को दबानेकी शक्ति है, ''नो वरदया तत्वा'' ब्रह्मादि देव(और वेद) ऊर्ध्वगति करानेवाले हैं और वर देनेवाले हैं, वह भी सत्त्व तनुरूपा हुआ है, 'तनु' शब्दसे यह आशय है कि विस्तार करनेवाला अतः अनन्त देह उत्पन्न करनेकी शक्तिवान् होनेसे सत्त्व रजो और तमोको खानेकी शक्तिवाला है. इसलिए धर्मरूप आप, देव एवं ब्राह्मणोंमें विराजमान हो अतः उनका उत्कर्ष है, आपके द्वारा ही रक्षा होती है कारणकि उनकेलिए आपके अन्तःकरणमें प्रेम है, इसलिए आपने यों कहा है।।२२।।

यदि विपरीत हो अर्थात् भगवान् रक्षक न बने तो उससे जो धर्म हानि होगी वह इस श्लोकमें बताते हैं:

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यद् इहात्मगोपं गोप्ता वृष! स्वर्हणेन ससूनृतेन।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव वेदपन्था लोकोऽग्रहीष्यद् ऋषभस्य हि तत्प्रमाणम्।२३

हे वृष! जो द्विजोंका उत्तम कुल, आत्माका रक्षणकर रहा है उसकी आप सुमधुर वाणी और पूजनादिसे रक्षा नहीं करो तो आपका स्थिर किया हुआ यह वेदमार्ग उच्छिन्न हो जाय, क्योंकि लोक तो स्वामीके कृत्यको ही प्रमाणरूप मानते हैं।।२३।।

जो आप द्विजोंके उत्तमकुलका रक्षण न करो तो, उस समय ही आपका कल्याणकारी वेदमार्ग नाश हो जायेगा. कारणकि स्वामीके कृत्यको ही लोक प्रमाणरूप स्वीकार करते हैं, द्विजोका उत्तमकुल वह है जो धर्म और ज्ञानवाला हो और उस(धर्म और ज्ञान)से आत्माका व आप अपनी आत्माका रक्षण करता है.

यदि आत्मा स्थित होगा तो अपने मार्ग पर चलेगा. अतः प्रथम, आत्मा रक्षण करनेके योग्य है उसके बाद अपने मार्गकी रक्षा, जिस मार्गसे जो अपनी आत्मा(भगवान्)के पास आते हैं वह स्वमार्ग है उसमें भी भक्तोंको आनेमें जो भी प्रतिबन्ध(रुकावट) हो उन प्रतिबन्धोंको दूर करना ही रक्षण है. यदि वे भगवद् रक्षक, धर्म और ज्ञानवाले बने, भक्तिमार्गका प्रचार करे तब वे रक्षाके योग्य हैं, यह अर्थ है. उनकी रक्षा तीन प्रकारकी है १.स्वरूपसे रक्षा अवतार धारणकर की जाती है, २.भीतरकी रक्षा अर्थात् अन्तःकरणमें सन्तोष, सुमधुर वाणीसे किया जाता है, ३.बाहरकी रक्षा, अच्छे प्रकारसे काया द्वारा पूजन करके की जाती है, जब उनका यों आप(भगवान्) पूजा द्वारा सम्मान करते हैं तब भगवन्मार्गका उपदेश कर सकते है जिसका प्रभाव लोको पर पडता है यदि यों न करो तो सफल उपदेश नहीं कर सके, अन्तःसन्तोष होनेसे ही भगवत्कार्य सिद्ध हो सकता है, यदि मार्ग प्रवर्तकोंकी रक्षा न होवे तो, मार्गनाश हो ही जाय, तब ही पाषण्डपन्थोंकी प्रवृत्ति सुगम होती है, यों भी न कहना चाहिये कि बहुत मार्ग विद्यमान हैं फिर वेदमार्गकी क्या आवश्यकता? इस पर कहते हैं कि वह 'शिवः' है. दूसरे पन्थ अचानक लाभकारी होते हैं और फिर दुःख देनेवाले है वह भी किसीको ही, प्रायः नहीं, वेदमार्ग 'शिवः' कल्याणरूप है यदि ब्राह्मणोंका सम्मान नहीं किया जाए तो, वेदमार्गकी रक्षा क्यों न हो सकेगी? इस शंका पर कहते हैं कि 'लोकोऽग्रहीष्यदि' लोक तो स्वामी अर्थात् भगवान् जो मानता है उसको ही मानते हैं.

ब्राह्मण ही वेदमार्ग समझते हैं दूसरे नहीं समझा सकते हैं, इसलिए उन ब्राह्मणोंका यदि सम्मान न किया जायेगा तो उनकी उपदेश देनेमें प्रवृत्ति नहीं होगी, अथवा पाषण्डके समान प्रवृत्ति हो जाय, भगवान् धर्मरूप हैं और इच्छित पदार्थोंकी वृष्टि करनेवाले हैं अर्थात् मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं इसलिए 'वृषः' सम्बोधन दिया है।।२३।।

यदि यों होगा, तो मैं विषमता करनेवाला हो जाउंगा, जिससे मेरा ब्रह्मत्व नहीं रहेगा, इस शंकाके उत्तरमें यह श्लोक कहते हैं:

तत् तेऽनभीष्टमिव सत्वनिधेर्विधित्सोः क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः।
नैतावता अधिपतेर्बत विश्वभर्तुः तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः।।२४।।

श्लोकार्थ: ब्राह्मणोंका सम्मान धर्म रक्षाकेलिए किया जाता है, वह सम्मान आपको पूर्णतः अभीष्ट नहीं है, कारण कि यों करनेसे इन(ब्राह्मणोंका)

सम्मान करनेसे विषमता प्रकट होती है, अथवा पूर्वश्लोकमें वेदमार्गका जो नाश कहा है वह भी आपको पूर्ण अभीष्ट नहीं है, अनभीष्टका अर्थ सर्व प्रकार अभीष्टका अभाव है अनभीष्ट इनका भाव है कि अल्प अभीष्टका अभाव अर्थात् पूर्णतया अभीष्ट नहीं है।।२४।।

प्रथम पक्ष आप सत्त्वनिधि हैं अतः आपको रक्षा करना अभीष्ट(पसंद) है दूसरा पक्ष आप कालरूप है अतः आपको नाश करना अभीष्ट है रक्षण करना अभीष्ट नहीं है, एवं आप सर्वकर्ता हैं अतः आपको वेदका नाश अभीष्ट नहीं है उसकी रक्षा ही चाहते हो, 'विधित्सोः' वह सत्त्वनिधि ही यों करना चाहता हैं, अर्थात् मनुष्योंकेलिए रक्षण ही चाहते हैं उत्पन्न हुवे अपनी कृति(भगवत्स्मृति)से ही श्रेष्ठ बनते हैं, तथा सत्त्वनिधिको(भगवान्को) उनका नाश होना पसंद नहीं है यदि मनुष्योंको क्षेमवान् किया जाय तो वेदका वैदिकमार्गका नाश होता है, उत्पत्ति(जन्म-मरण)का चक्र फिरता रहे तो भी वेदका(वैदिकमार्गका) नाश होता है यदि उत्पत्तिकेलिए सुख हो तो यों(वेद नाश) होता है.

उत्पन्न हुवे जीवोंकी रक्षणार्थ किया हुआ वैदिक संस्कार पवित्र करनेवाला होनेसे पाषण्डके कारण दुर्बल होता हैं, यदि पुरुषार्थोंका प्रतिपादक हो तो देह निर्वाहक पाषण्डसे वह बलिष्ठ है, ''निजशक्तिभिरुद्धतारेः'' यह दोनोंका कारण है, अपने असाधारण सामर्थ्यसे जिसने शत्रुओंका उद्धार किया है. भगवानकी शक्तिसे ही दोनों तरफ प्रतिबन्धोंका अभाव हुआ है. तो भी अपनेको दोष लगानेसे परोपकार सिद्ध होता है धर्मरक्षा करने पर यह एक ही दोष लगता है यदि यों कहा इसका उत्तर यह है 'नैतावता' भगवान्का ब्राह्मणोंको केवल नमन दोष नहीं हैं, क्योंकि स्वभावतः नमे हुए(भारवाले, बोझवाले) ही नमते है ऐसे बडे होते हैं जो बोझवाले नहीं होते(छोटे) है उनका नमन उनकेलिए ही हीनता बोधक है और जो महान् हैं वे यदि नमते है तो समझा जाता है कि इनमें भार है(बोझ है) जो अधिक भारवाले होते हैं वे नम्र होते हैं, अतः नम्रता व अनम्रत्व समान ही हैं, न दोषरूप है और न गुणरूप है. अतः आपकी महत्ता सिद्ध ही है, फिर भी आप जो नमन करते हैं वह हीनताका सादृश्य दीखता है परन्तु वह वास्तवमें नाट्यरूप होनेसे रसको उत्पन्न करता है. 'अधि' पदसे भी उत्तमता प्रदर्शित की है. स्वस्ति (वेदका) और सम्मानके स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण अहो! बत! पदसे हर्षकी सुचना दी है 'विश्वभर्तुः' पदसे भी माहात्म्य प्रकट किया हैं, निश्चय है कि जो

विश्वका भरण(पालन-रक्षण) करता है वह ही लोकमें भारसे झुका हुआ होता है (नम्र होता है अभिमानरहित होता है जिससे उसको नमन करनेमें हीनता प्रतीत नहीं होती है) यदि नम्र न होवे तो लोक स्वामी(भर्ता)के भारकी प्रशंसा नहीं करे, अतः नमनके दो प्रयोजन है. १.लोकमें अपने भर्तापनका ज्ञान कराना २.अपने लिए एक प्रकारका विनोद अवनतका यह नमन अवनतिरूप है, अर्थात् हीन नमन करनेसे अपनी हीनता समझता है, किन्तु आपकेलिए विनोद है, यों सम्बन्ध है, इससे दोषको मिटाया है।।२४।।

इस तरह आनन्दसे पूर्ण अन्तःकरणवाले मुनिओंने भगवानके स्थिर किए हुए दण्डका अभिप्राय न समझ अपना अपराध दूर करानेकेलिए इस श्लोकमें प्रार्थना की है:

यं वाऽनयोर्दममधीश भवान् विधत्ते वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् । अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डोयेऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण।२५।

हे सर्वेऽश्वर! आप इन दोनों द्वारपालोंको जो चाहे वह दण्ड दो अथवा इनकी वृत्ति बढा दें, हम निष्कपट भावसे उस आज्ञाको मान लेंगे. अथवा हमने इन निरपराधियोंको यदि शाप दण्ड दिया है तो इसकेलिए हमको जो दण्ड देना उचित समझो वह दीजिए।।२५।।

हे सर्वेश्वर! अर्थात् हमारे और इन दोनोंके बडे स्वामी. बडे स्वामी कहनेका भावार्थ है वेदोंमें कहे हुए तर्कोसे भी आप बडे हैं अथवा वेदादि शास्त्रोंके भी आप नियामक हैं, इसलिए सर्वेश्वर हैं, इस कारणसे ही जैसा हमने कहा वैसा ही आप करनेवाले हुए हैं, इन दोनोंको आप जो वृत्ति(जीविका) दो या दण्ड दो वह हम मान लेंगे. वृत्ति अर्थात् आजीविकाका सारांश है कि द्वार पर खडे होकर सबको भीतर आनेसे रोकना तब जो रोके जायेंगे वे प्रवेशकी आज्ञा पानेकेलिए अपना धन व धर्म देंगे यह वृत्ति, दान(आजीविका) है, अथवा स्वयं द्वारपाल द्वार पर खडे हो यह कार्य करे इसी तरह स्वतन्त्रता रीतिसे आजीविकाका दान कीजिये, अथवा जो हमने पहले दण्ड(शापरूप) दिया है अथवा दूसरा कोई, जिस दण्डको ही आप स्वीकार करोगे उसको हम मानेंगे. आपकी इच्छानुसार हम भी स्वीकार करेंगे, इसको अनुमाननम्(स्वीकार) कहा जाता है यह भी आपके आदरार्थ नहीं, किन्तु शुद्धभावसे स्वीकार करते हैं, यदि हमारा भी अपराध हो तो उसका हमको भी दण्ड दीजिये वह भी हम स्वीकार करनेकेलिए तैयार हैं, यों

'अस्मासु' पदसे कहते हैं, 'वा' पद दोनों प्रसंगोमें अनादर सूचक है संकोच नहीं करना, इस अभिप्रायसे कहते हैं. ''यं उचित इति'' जो दण्ड उचित हो वह बिना संकोच कीजिए, अब आप वाणी मात्रसे कहकर फिर दूसरेसे उसका(वाणीका) फल(दण्ड) दिलाओ यों न करना, किन्तु वह दण्ड अब ही कीजिए, अथवा वह ही दण्ड जो द्वारपालोंको तीन जन्मका दिया है हम पर लगाईये, क्योंकि हमने निरपराध दोनोंको क्रोधके कारण अपराधी बनाया है, अतः वह तीन जन्म लेनेका दण्ड साथ ही दोनोंको हो. 'अस्मासु वा' पदसे कहते हैं कि उनको दण्ड हो, या नहीं हो, यों कहकर उदासीनता दिखाते हैं किन्तु हमको तो अपराधका दण्ड दीजिये, इस तरह सर्वभावसे भगवानका माहात्म्य निरूपण किया है।।२५।।

भगवानने जान लिया कि इन मुनिओंने जो मेरे द्वारपालोंको शाप दिया उससे डरे हुए हैं अतः भगवान् उनको(मुनिओंको) आश्वासन देनेकेलिए इस श्लोकमें कहते हैं कि यह शाप मेरी ही इच्छासे इन(द्वारपालों)को आपने दिया है.

श्रीभगवान् उवाच

एतौ सुरेतर–गतिं प्रतिपद्य सद्यः संरम्भ–सम्भृत–समाध्यनुबद्ध–योगौ।
भूयः सकाशम् उपयास्यत आशु यो वः शापो मयैव निहितस्तदवैत विप्राः।।२६।।

श्रीभगवान् कहने लगे कि हे विप्रो! आपने इनको जो शाप दिया है वह मेरी ही इच्छासे हुआ है, अब ये दोनों देवोंसे पृथक् अन्य गतिको(असुरादिको) प्राप्त होंगे, उस योनिमें मुझसे बैरके कारण बढा हुआ क्रोधरूप योग जिससे मुझमें एकाग्रचित होनेसे फिर शीघ्र ही मेरे समीप लौट आयेंगे।।२६।।

'देवों'से दूसरे प्रकारकी गति अर्थात् दैत्यपन राक्षसपन और मनुष्यपन, इतर कहनेसे समानतत्त्व बताया है, अतः असुर और मनुष्योंमें दैवतुल्यता है जैसाकि कहा हैं कि 'त्रयाह' प्राजापत्या इस श्रुतिमें बीज और पराक्रमके कारण राक्षस भी देवोंके समान हैं यक्ष आदि तो स्वतन्त्र नहीं है. कुबेर तो देव ही है अतः तीन प्रकारकी सुरेतरगतिको प्राप्तकर फिर शीघ्र ही मेरे पास आयेंगे.

आपने जो शाप इनको दिया है वह मैंने ही दिया है, यों समझो 'निहित'के स्थान पर 'निमित्त' पाठ होवे तो उसका आशय हैं कि इस शापको मैंनेही स्वल्प(छोटा) कराया है, विप्रा! विशेषणसे सूचित किया है कि ब्राह्मण होनेसे दीर्घदर्शी नहीं हो, इनको तीन योनि भोगनी है तो फिर शीघ्र कैसे लौट आयेंगे? क्योंकि उस जन्मके कार्योको भोगनेमें समय लगेगा, इस शंकाका

समाधान करते हुए कहते हैं, ''संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ'' क्रोधावेशके कारण पूर्णरूपसे भगवानमें समाधि लग जानेसे जो योग सिद्ध होगा उससे सर्व पापक्षय हो जानेसे मेरे पास शीघ्र आयेंगे, ऐसे शापका अन्त होगा शापको स्वल्प करनेका तात्पर्य है कि शाप मैंने ही दिया है यों यह श्लोक मुनियोंके निर्भयार्थ है।।२६।।

इस तरह कहकर पधारकर आए हुए मुनियोंके दुःख दूर किये अब सर्व अपने-अपने स्थान पर जाने लगे यों कहते हैं जिसमें पहले योगियोंका गमन दो श्लोकोंसे किये हुए और जो करना है दोनोंका प्रमेयभेदसे वर्णन करते हैं अग्रिम कृत्य २८वें श्लोकमें कहते हैं:

ब्रह्मा उवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम्।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयं प्रभुम्।।२७।।
भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्याऽनुमान्य च।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम्।।२८।।

ब्रह्माजीने कहा-पश्चात् उन सनत्कुमार योगियोंने नेत्रोंको आनन्ददायी पात्ररूप विष्णु और उनके स्वयं प्रकाश स्वरूप वैकुण्ठके दर्शन किये तथा उनकी परिक्रमा की, अनन्तर प्रणामकर आज्ञा लेके भगवानके ऐश्वर्यका बखान करते हुए प्रसन्नतासे लौटने लगे।।२७-२८।।

वे फिर अपने स्वभावको प्राप्त हुए क्योंकि मुनि थे जिनकी जैसी श्रद्धा(निष्ठा) उनका वह ही गुण होता है. उससे विपरीत होवे तो दोष कहलाता हैं. वे मुनि होनेसे अन्तःकरणमें (भीतर) ही प्रभुके दर्शन करते हैं. बाहर नहीं, बाहरका दर्शन उपकारी नहीं है, इसलिये लौटने लगे, इस समय यहां आनेसे जो भगवानका बाहर साक्षात् दर्शन हुआ उनसे एक गुण(लाभ) हुआ, वह 'नयनानन्द भाजनम्' वाक्यसे बताया है. इन्द्रियां परमैश्वर्यके सम्बन्धसे जो सुख प्राप्त होता है उसको पांच भागोंमें बांटकर रूप आदि भेदसे उस आनन्दका अनुभव लेती हैं, इन्द्रियां साधन हैं जिससे जीवको भी आनन्द स्वरूप लावण्यसे भरपूर हैं इसलिये नयनानन्दके भाजन(पात्र) हैं, वह पात्र दोनों वैकुण्ठ और उसका अधिष्ठान विकुण्ठ(प्रभु) दोनोंका समान नयनानन्द भाजनसे बनेगा? इसका समाधान करनेकेलिए कहते हैं 'स्वयं-प्रभुम्' लोक(विकुण्ठ) आप ही हैं. तो भी भगवान्

जब प्रभु तरीके स्फुरते हैं तब विकुण्ठलोक तरीके स्फूरित होता है वह अक्षररूप धाम भगवान् हैं अतः दोनों समान है।।२७।।

प्रदक्षिणा नमस्कार आज्ञाप्रार्थनमेव च।
आगत्यतोषभावश्च गमने स्तोत्रमेव च।।का.१।।
समागतानां पञ्चाङ्गं तोषलक्षणम् उच्यते।
यथागतिगतिः कार्ये प्रसङ्गं वारयेद् इति।।का.२।।

१. प्रदक्षिणा २. नमस्कार ३. जानेकी आज्ञाकेलिए प्रार्थना ४. आकर प्रसन्नताकी वृत्ति होना ५. जाते समय प्रशंसा करनी. आये हुए मुनियोंके आनन्दका लक्षण पांच अंगवाला कहा है. कार्य करनेमें प्रतिबन्धके भयसे जैसे आये वैसे लौट गये।।१-२।।

'प्रतिजग्मुः' क्रियाका आशय है कि जिस प्रकार आए उसी प्रकारसे लौट गए, उन्हे जो यहां भगवानके साक्षात् दर्शन बाहर हुए उनसे बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि बाहरके दर्शन भीतरके दर्शनसे अधिक है. 'वैष्णवीं श्रीयम्' विष्णुकी शान्ति एवं प्रसन्नतारूप सम्पत्ति इनके आनेसे पूर्व जो थी उससे अब वह ही विशेष है।।२८।।

भगवानका निर्गमन कहनेकेलिए सेवकोंका समाधान कहते हैं:

भगवान् अनुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं नु मे।।२९।।

भगवनने अपने अनुचरोंको कहा, जाओ भय मत करो तुम्हारा कल्याण होगा यद्यपि मैं ब्रह्म तेजको मिटानेकेलिए समर्थ हूं तो भी यों करना नहीं चाहता हूं कारणकि जो हुआ वह मेरा निश्चित मत है।।२९।।

आज्ञापालन की क्योंकि सेवक हैं. उन्होंने वाक्यमें विश्वास किया कारणकि आज्ञाकर्त्ता भमगवान् हैं. शापके कारण नहीं जाओ किन्तु मेरी आज्ञा जानेकी है इसलिए जाओ, उन्होंने जानेसे अपना धर्म पाला इस कारणसे 'माभैष्ट' आशीर्वचन कहे हैं मत डरिये, शापके कारण जाते तो भय होता अब आज्ञासे जाने पर भय नहीं किन्तु कल्याण होगा जब, ऐसा कर्म किया है तो फल कैसे न होगा? इस शंकाको मिटानेकेलिए ही कहा है 'अस्तुशम' आपका कल्याण हो? क्या कल्याण होगा अब सालोक्यमुक्ति जाकर लोटोगे तो सायुज्यमुक्ति है पाओगे अर्थात् इस समय वैकुण्ठमें आप कुछ(द्वारपाल) हो बादमें लोकरूप हो जाओगे

'लोकायकल्पताम्' इस वाक्यमें कहे अनुसार, 'चरण' पदका भी यह अर्थ है, जिनका भगवानमें प्रवेश हो गया है उनका चरणभाव तो सिद्ध ही है तब निकटता तो महती है, क्या ब्राह्मणोंमें आदर होनेसे भगवानने यों किया है? उत्तरमें कहते हैं कि जो ब्रह्मास्त्र आधिदैविक तेजवाला था उसको भी भगवानने दूर कर दिया यह तो आधिभौतिक है इसको दूर करनेमें क्या देरी लगेगी फिर समर्थ होते भी दूर नहीं किया, जिसको बतातें हैं कि मैं(भगवान्) यों करना नहीं चाहता हूं क्योंकि सृष्टिके उपयोगी होनेसे इस कारण निश्चय मेरा मत यों हैं. जिसका अभिप्राय भगवान् ही जानते हैं, वचनोंसे कल्पना नहीं होती है. यदि कल्पना की भी जावे तो भी वह कल्पना कार्यानुकूल करनी चाहिये।।२९।।

तब ब्रह्मशापकी क्या गति होगी? इस पर कहते हैं:

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाऽल्पीयसा पुनः।।३०।।

अब दैत्य योनिमें मेरे प्रति क्रोधवृत्ति द्वारा जो एकाग्रता होगी उससे ब्राह्मणोंके तिरस्कार करनेसे जो आपको पाप लगा है वह मिट जायेगा, फिर शीघ्र ही मेरे पास लौट आओगे।।३०।।

ब्राह्मणोंके दिये हुए शापका प्रायश्चित करना चाहिये, क्योंकि प्रायश्चित करनेके बाद ही पुरुष निश्चय शुद्ध होता है, शुद्धको ही वैदिककर्म करना चाहिये भगवद्भक्तोंकेलिए प्रायश्चित भगवानका स्मरण ही है और वह स्मरण लौकिक है, शुद्धको ही वैदिककर्ममें अधिकार है, लौकिकत्व और प्रायश्चितत्व दोनों भगवत्स्मरणमें है. स्मरणमें प्रथम ही जो प्रवृत्त हो नित्य स्मरण तबतक करता रहे जबतक भगवदीय बने. पश्चात् तो उनमें पाप उत्पन्न ही नहीं होता है, यदि भगवदिच्छा हो तो उत्पन्न होता है, उनकी(भगवानकी) इच्छा बलवान् है उनकी इच्छा यदि ऐसी होती है तो फिर उस जीवसे भगवानका स्मरण होना सम्भव नहीं, अर्थात् वह स्मरण करना भूल जाता है, लौकिक स्मरणमें बाधा भाव होनेसे वह स्मरण केवल प्रायश्चितरूप होता है, भगवत्सायुज्यादि फलको सिद्ध करनेवाला नहीं होता हैं. किन्तु दोषों(पापों)का नाश करना स्मरणका सहज(स्वाभाविक) धर्म है वह मिटता नहीं है, काम आदि(क्रोध) केवल लौकिक हैं लौकिक कामोंका पोषण करनेवाले हैं यहां शापमें कारण क्रोध हुआ है इसलिए क्रोधसे ही स्मरण होगा. यदि क्रोध न होगा तो स्मरण भी न होगा, इसी तरह गोपियोंका भी

काम स्मरणमें हेतु हुआ. ब्रह्माने कामके कारण वाणीको शाप दिया इस कारणसे ही वाणीसे(मंत्र पढकर) प्रजापतियोंको आहुति नहीं दी जाती है? ''वाक् च मनश्चाती येनाम्'' इस उपाख्यानमें इस विषयका वर्णन है. वह ही वाणी गोपिकारूपमें प्रकटी हैं, कंसके भयके कारण ही बार-बार भगवानका स्मरण होता था क्योंकि कंस कालनेमिका है कालनेमिका आदिको शुक्राचार्यने अपने पुरोहिताई जानेके भयसे शाप दिया था. अतः कंसने भयसे स्मरण किया.

योग्यतानुसार पृथक्-पृथक् ऋषियोंके सम्बन्धवाले देवोंको बृहस्पति दुर्वासा आदिने शाप दिया वे देव यादवरूपमें जब प्रकटे तब उन्होंने सम्बन्धके स्नेहसे ही भगवानका स्मरण किया ये चारों(१.द्वारपाल २.गोपियां ३.कंस और ४.यादव) शापके कारण ही इस प्रकार प्रकटे अतः स्मरण भी उसी तरह कर शापको मिटाके फिर अपने भगवदीयरूपसे भगवत्पदसे प्राप्त किया वैसे इस प्रसंगमें भी 'अस्तुशम्' इस वाक्यानुसार भगवत्पदकी प्राप्ति होगी, भगवानके साथ क्रोधरूप योगसे एकता हो जानेसे ब्राह्मणोंका अपमानरूप दोष मिटाकर मेरे समीप अतिशय पास अर्थात् आगे द्वार पर स्थिति थी अब चरणरूपमें स्थिति होगी शीघ्र ही लौट आओगे लोकमें क्रोधसे सम्बन्धको पुरुषार्थ नहीं माना जाता है अतः योग पद दिया है जिससे यह क्रोध भी पुरुषार्थ बन जावे।।३०।।

इसी प्रकार दोनों द्वारपालोंको आश्वासन देकर भगवान् अपने स्थान पर पधार गये यों इस श्लोकमें कहते हैं.

द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम्।
सवातिशयया लक्ष्म्या युक्तं स्वं धिष्ण्यमाविशत्।।३१।।

द्वारपालोंको इस तरह आज्ञा दे, विमान श्रेणियोंके सुसज्जित सबसे उत्तम शोभावाले अपने धाममें भगवान् प्रविष्ट हुए।।३१।।

'आदिश्य' आज्ञा देकर पदसे सूचित होता है कि वे(द्वारपाल) दूसरी तरह करे यह सम्भव नहीं यदि करेंगे तो भगवानको खेद होगा. यह शंका भी नहीं करनी, क्योंकि भगवानमें जो ऐश्वर्य, ज्ञान और वैराग्य गुण है वे खेदनाशक हैं भगवानको खेद होता नहीं हैं कर्थात् भगवानकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं करता है.

यदि ये दुष्ट हैं तो उनको निकाल देना चाहिये था, यदि इनको न निकाला जायेगा तो दूसरे भी वैसे होंगे अथवा दूसरे भी ऐसे हो तो सबको निकाल

दूसरे सेवक रखने चाहिये यह कार्य पूर्ण न कर भगवान् कैसे घरको पधार गये ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'विमानश्रेणि भूषणम्' विमानोंकी पंक्तियां जिस(वैकुण्ठ)की अलंकाररूप हैं वैकुण्ठमें स्थित विमान सार्थक(अर्थवाले) हैं, अतः वहां सर्व अभिमानरहित अर्थात् दोषरहित है, वहां वे साधारण भी भूषणरूप है. अतः श्रेणी पद दिया है, जिसका आशय है कि यह स्थान सर्व प्रकारके दोषोंसे रहति है. इस कारणसे दूसरे नहीं रखे, ये दोषवाले थे इसलिए इनको द्वारपाल करके ही रखा दूसरोंको रोकनेकेलिए नहीं रखा है, मुनियोंके वचनोंसे पता लगता है कि इन्होंने दूसरोंको रोकनेका कार्य किया है भगवान् फिर वहां गये जिसका कारण ''सर्वातिशययालक्ष्मेति' पदसे बताया है यह स्थान(वैकुण्ठ) लक्ष्मीकेलिए बनाया है इसलिए लक्ष्मीने इसको सर्व प्रकारसे सुशोभित किया है. अतः सर्वसे विशेष शोभासे युक्त है और वह अपना ही स्वरूपभूत है इस कारणसे दूसरे स्थान पर नहीं पधारे।।३१।।

इस तरह भगवानका अपने गृहमें प्रवेश कहकर अब इस श्लोकमें द्वारपालोंका दूसरे स्थान पर जाना कहते हैं:

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद् हरिलोकतः।
हतश्रियौ ब्रह्मशापाद् अभूतां विगतस्मयौ।।३२।।

वे देव श्रेष्ठ जय विजय, ब्रह्मशापसे वहां ही श्री हीन हो गये और उनका गर्व गलित हो गया तब दुस्तर हरिलोकसे गिरने लगे।।३२।।

'तू' शब्दसे यह सूचित किया है कि वैकुण्ठमें ही छिपकर नहीं रहे, क्योंकि उन्होंने जाना कि भगवदाज्ञा पालन करनेसे ही निस्तार होगा कारणकि वे विचार करनेवाले नीतिज्ञ थे, वैसा ज्ञान होनेमें कारण यह है कि वे देवश्रेष्ठ है, उस लोकको पार करना दुःखसे भी अशक्य है, उसमें भी फिर 'हरिलोकतः' हरिलोकसे वे हरि सर्वदुःखहर्ता हैं इसमें भी फिर प्रकाशमान है इस लोकके सिवाय अन्यत्र अज्ञान ही है यह भाव है वैकुण्ठमें स्थितिके कारण जो शोभा थी वह ब्राह्मणशापसे नष्ट हो गई, अतः वहां स्थिति होना कठिन है क्योंकि वहांके निवासियोंके साथ साधर्म्य न रहा और उन दोनोंका गर्व भी मिट गया है, परन्तु निर्दोष थे इससे वहांसे निकाले नहीं गये. पश्चात् निकल गये, लोक(वैकुण्ठ) उपकारी है यों प्रसिद्ध करनेकेलिए लोक(वैकुण्ठ)के कारण ही अभिमान मिट गया यों 'हेतुहेतुमद्भावका निरूपण किया।।३२।।

१.इस भावका आशय है कि वैकुण्ठवास कारण और अभिमानका दूर होना यह कार्य. इस कारण और कार्यका सम्बन्ध बताया गया है.

इस प्रकार वैकुण्ठका किया हुआ उपकार प्राप्तकर वे दोनों भगवद् आज्ञानुसार गए यों इस श्लोकमें कहते हैं.

तदा विकुण्ठधिषणात् तयोर्निपतमानयोः।
हाहाकारो महान् आसीद् विमानाग्र्येषु पुत्रकाः।।३३।।

हे पुत्रों! फिर जब वे वैकुण्ठ लोकसे गिरने लगे तब उत्तम विमानोंमें बैठे हुए वैकुण्ठ वासियोंने बहुत हाहाकार किया।।३३।।

वैकुण्ठलोकसे उनके गिरते समय हाहाकार मच गया, क्योंकि इनका यहांसे गिरना अनुचित है. 'विमानाग्र्येषु' पदसे यह सूचित किया है कि देवता वहांसे इनको देख सकते थे, देखते ही हाहाकार करने लगे जिससे इन पर दया प्रकट की है, इस कारणसे इस विषयमें प्रतिकार नहीं करना चाहिए क्योंकि दुःखियोंको विशेष दुःख होगा, 'पुत्रकाः' यह सम्बोधन स्नेहके कारण दिया है, अपना दयालुपन प्रकट करनेकेलिए।।३३।।

उन दोनोंके निरूपणका प्रकृत(चालू) विषयमें उपयोग है यों इस श्लोकमें कहते हैं:

तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम्।।३४।।

दितिके गर्भमें स्थित कश्यपजीके उग्र तेजमें भगवानके उन पार्षद प्रवरोंने आकर प्रवेश किया।।३४।।

अब वे दोनों ही, दितिके गर्भमें स्थित कश्यपजीके तेजमें प्रविष्ट हुए, यहां गर्भमें प्रवेश ही हुआ है कि दूसरे लौकिक प्रकारसे अन्न आदिमें संक्रमण नहीं हुआ हैं, देवभाव निकल जानेसे असुरत्व आ गया. यह बीज उन दोनोंकेलिए योग्य था इसलिए उस बीजका विशेषण 'उल्बणम्' दिया है अर्थात् वह उग्र बीज था, स्वभावसे ही उग्र था क्योंकि अन्यायसे निकला था, फिर प्रवेश भी दितिके गर्भमें किया. उन दोनोंकेलिए यह दशा आपत्तिकी दशा थी. यों बतानेकेलिए उनकी पूर्वावस्था कहते हैं कि 'हरेः पार्षदप्रवरौ' हरिके उत्तम पार्षद थे।।३४।।

तब अन्धकार होनेका क्या कारण? इस पर कहते हैं:

तयोरसुरयोर् अद्य तेजसा यमयोर्दिवः।

आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवान् तद् विधित्सति।।३५।।

उन दोनों असुरोंके तेजसे स्वर्गका(देवोंका) तेज ढक गया है अर्थात् फीका पड गया है. क्योंकि भगवानकी ऐसी ही इच्छा है अर्थात् इस समय भगवान् यों करना चाहते हैं।।३५।।

क्योंकि इस समय वे दोनों असुर हैं अतः उनके तेजसे आप देवोंका तेज आच्छिन्न हो(ढका) गया है, भगवानके तेजसे दैत्य तेज आच्छिन्न होता है. दैत्य तेजसे देवोंका तेज आच्छिन्न होता है, किञ्च मुनियोंके अपकार स्मरणसे स्वर्गका तेज फीका पड जाता हैं.

यदि 'यमयोः हि वः' यों पाठ हो तो भी यही अर्थ होता है आपके ही दो [१]यम हैं उनसे ही आपके तेजका नाश हुआ है. यदि कहो कि उसका उपाय करना चाहिये इस पर कहते हैं कि 'भगवांस्तद्विधित्सति' अब आपकेलिए यह उपद्रव भगवान् ही करना चाहते हैं, तो फिर कौन प्रतिकार(उपाय) कर सकेगा?।।३५।।

१.''उस यमने देवोंकी इन्द्रिय और वीर्यको पृथक् किया वह ही यमका यमत्व है 'यम' पदकी इस व्युत्पत्तिसे आपकी इन्द्रिय और वीर्यको ये नाश करनेवाले हुए हैं''. प्रकाश)

तब क्या गति होगी? इस पर निम्न श्लोक कहते हैं:

विश्वस्य यः स्थिति–लयोद्भव–हेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यय–योगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशः तत्रास्मदीयविमृशेन कियान् इहार्थः।।३६।।

जो प्रभु विश्वकी स्थिति, नाश और उत्पत्तिके कारण है एवं जो आद्य है जिनकी योगमाया योगेश्वरोंसे भी कठिनतासे पारकी जाती है, वे तीनलोकोंके स्वामी हैं अतः हमारा कल्याण ही करेंगे, इस विषयमें हमारा विचार करना निष्फल है जिसका कोई अर्थ नहीं।।३६।।

तुम चिन्ता क्यों करते हो? वे प्रभु ही कल्याण करेंगे, वह ही पालन करते हैं अब भी वे ही पालन करेंगे, यदि पालन न करें तो प्रलय करेंगे क्योंकि प्रलयकर्त्ता भी आप ही है तो भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए प्रलय भी अवश्य होनेवाली है प्रलय होने पर क्लेश होगा इसलिए चिन्ता हैं तो इस पर कहते हैं कि फिर उत्पत्ति भी अवश्य करेंगे. अतः चिन्ता नहीं करनी चाहिए, भगवान् केवल आपका ही कार्य(हित) करेंगे ऐसा नहीं हैं. किन्तु समग्र विश्वका कल्याण करनेवाले हैं. कारणकि विश्वकी उत्पत्ति आदि करनेवाले वे ही है, साधारण

दाह(जलन) होने पर जैसे शीघ्रगामी जन्तु भाग जानेसे जलता नहीं है वैसे ही आपको हमारे लिये कोई भी उपाय करना चाहिये, इस पर कहते हैं ''योगेश्वरैरपि दुरत्यय योगमायः'' भगवानकी योगमाया सर्व क्लेशोंका कारण हैं वह ही पार करना कठिन है, यद्यपि साधनोंमें योग बडा(उत्तम) साधन है, उस(योग)के जो ईश हैं अर्थात् जिन्होंने योगको अपने अधीनकर रखा हैं वे भी योग यदि आप मायाका अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं अतः मुझसे प्रतिकार न होगा, से नहीं होगा तो आपसे जो उत्कृष्ट हो उसको कहना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'आद्यः' भगवानसे कोई उत्कृष्ट नहीं है वे ही आदि पुरुष हैं. अतः दूसरा कोई कहने योग्य नहीं हैं, जब यों हैं इनको ही प्रार्थना करनी चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'क्षेमंविधास्यति' यह बिना कहनेके भी कल्याण करनेवाले हैं क्योंकि 'त्रयधीश' तीन लोकोंके ईश हैं, यदि वे असुर स्वर्गका नाश करेंगे तो शेष दो लोक बचेंगे, तो फिर स्वर्गका पालन कैसे करेंगे, दो लोकोंके ही ईश हो जायोंगे, अतः यों नहीं होगा क्योंकि भगवान् हैं ऐश्वर्यादि गुण सम्पन्न होनेसे स्वर्गका नाश होने नहीं देंगे इसलिए धीरज धरो, यों होने पर भी आप कोई उपाय बताइये आपकी आज्ञानुसार तपस्यादि उपाय हम करें, इस पर उत्तर देते है कि ''तत्राऽस्मदीयविमृशेन...'' जैसे वर्षा न होने पर हम घडोंसे खेतको सीचें तो भी धान उत्पन्न न होगा यदि वर्षा हुई तो भी घडोंसे सींचना व्यर्थ ही हुआ, इसी तरह हमारे उपायमें निरर्थक है, अब सृष्टिके विषयमें हमारे उपायोंका क्या अर्थ है? कुछ भी नहीं, वह प्रभु सबकेलिए ही शुभ करेंगे, इसलिए फलके असाधक प्रत्येक प्रयास करनेसे क्या लाभ।।३६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके १६ वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय १७

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षका जन्म तथा हिरण्याक्ष दिग्विजय

कामादिना मार्गनाशा उपोद्घातेन वर्णिताः।
सृष्टिमात्रप्रयोगाय तत्फलं वर्ण्यते शुभम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ : काम आदिसे मार्गोंके नाशका होना उपोद्घातमें वर्णन किया. सृष्टि मात्रके प्रयोगकेलिए अर्थात् इसका सम्बन्ध उत्तमसे* हो इसकेलिए उसका शुभ फल वर्णन किया जाता है।।१।।

*.१-१७वें अध्यायका विवरण करते हुए प्रथम कहे हुए इन तीनोंकी संगति 'कामादिना' कारिकासे कहते हैं. भगवान्की रचना होनेसे सृष्टिका प्रकर्ष है और उसके सम्बन्ध होनेकेलिए तथा सृष्टि विषयक उपोद्घात इन तीनोंका(१७,१८,१९ अध्यायों प्रति) कारणत्व है इस तरह कारण और कार्यकी सम्बन्धरूप संगति है यों तात्पर्य है १७ से १९ अध्यायोंको क्रमसे कहते हैं. (प्रकाश)

उत्पत्तिः तामसी प्रोक्ता स्थितिर्वै राजसी मता।
सात्विकः प्रलयश्चेति विपरीतं फलं तयोः।।कारि.२।।

कारिकार्थ :जय-विजयकी उत्पत्ति तामसी है स्थिति निश्चयपूर्वक राजसी मानी गई है और प्रलय(नाश) सात्त्विक है, इनको जो फल मिला है वह शापसे विपरीत* मिला है।।२।।

*.लोकसे विपरीत फल मिला है अर्थात् जो शापसे फल मिलना चाहिये वह न मिलकर परिणाममें उत्कर्ष(उन्नति) करनेवाला फल मिला.

उत्पत्तिः द्विविधा प्रोक्ता स्वरूपानिष्टभेदतः।
यावद् वृद्धिरिहोत्पत्तिः कायवाग्दोषवर्णनम्।।कारि.३।।
सजातीयविजातीय-क्लेशदानाय जन्मनः।

कारिकार्थ : स्वरूप और अनिष्ट भेदसे उत्पत्ति दो प्रकारकी कही है. जहां तक देहकी* वृद्धि होती रही वहां तक उत्पत्ति कही है. इनका जन्म अपनी जातिको और अन्य जातिको दुःख देनेकेलिए हुआ है, यों बतानेकेलिए देह और वाणीके दोषोंका वर्णन है।।३।।

* यहांसे ४.१/२ कारिकाओंसे १७ से १९ तक तीन अध्यायोंका अर्थ कहा है. पहली सवा तीन कारिकाओंसे १७वें अध्यायका अर्थ कहा है.

शापस्त्वेक इति प्रोक्तो हिरण्याक्षो न चापरः ।।कारि.४।।

आधारस्तु स एवोक्तो द्वितीये दोषवर्णनम् ।

कारिकार्थ : शाप तो एक ही है फिर यहां केवल हिरण्याक्षकी कथा क्यों कही ?* दूसरे(हिरण्यकशिपु)की क्यों नहीं कही ? आधार तो वह ही कहा गया है दूसरेके दोषका वर्णन किया है।।४।।

* इस शंकाको मिटानेकेलिए दूसरेकी उत्पत्ति संक्षेपसे कही है और वृद्धि भी कही है. विशेषमें हिरण्याक्ष आधार है. दितिके दोषके कारण पहले उसकी उत्पत्ति होनेसे बहुत दोषोंका यह(हिरण्याक्ष) आधार है,अतः पहले इसकी कथा कही है, दूसरा ऐसा नहीं है उसमें(हिरण्यकशिपुमें) उग्रवीर्यसे उनके दोष औद्धत्य आदि कहे हैं.

उत्पत्तिरेव शापेन नीचयोनौ निरूपिता ।।कारि.५।।

स्थितिनाशौ तयोस्तस्माद् हरावेवाऽत्र वर्ण्यते ।

कारिकार्थ : शापसे नीच योनिमें *उत्पत्ति ही कही है उनकी स्थिति और नाश भगवान्के द्वारा हुए हैं।।५।।

*.यह उत्पत्ति प्रकरण है अतएव शापसे नीच योनिमें उत्पत्ति कही है, स्थिति और नाश भगवान् द्वारा हुए हैं, अतः हिरण्यकशिपुकेलिए अन्य नृसिंह अवतार होनेसे उसकी कथा यहां नहीं की है, प्रकृत(चालु) विषय होनेसे एक ही की कथा कही है.(प्रकाश)

कृष्णेन सहिता लीलाः स्थितिस्तस्य महात्मनः ।।कारि.६।।

निधनं चाऽपि तस्यैव कल्याणवचनाद् मतम् ।

कारिकार्थ : उस महात्माकी श्रीकृष्णके साथ लीला(युद्ध क्रीडा) करनेसे हरिमें ही स्थिति होनेका वर्णन किया है और उसकी मृत्यु भी भगवान्के वचन द्वारा होगी कल्याण ही होगा इन वचनोंके द्वारा हरिमें ही होना माना है।।६।।

स्वरूपोत्पत्तिरन्यत्र हेतुरित्युच्यते बहु ।।कारि.७।।

अनिष्टसूचकं तत्र ज्ञानं दुःखप्रणाशनम् ।

कारिकार्थ : अन्योंमें देहकी उत्पत्ति कारण है यों कहा जाता है बहुत अनिष्ट सूचकके हेतुका ज्ञान दुःख नाश करनेवाला है।।७।।

अतः सप्तदशेऽध्याये दुःखाभावस्तथोद्गमः ।

अनिष्टसूचनं दोषो वर्ण्यन्ते पञ्च सम्भवे ।।कारि.८।।

कारिकार्थ : इससे १७वें अध्यायमें १. दुःखका अभाव २. उत्पत्ति ३. अनिष्टका सूचन ४. काया और ५. वाणीके दोष, ये पांच विषय कहे हैं।।८।।

आभास : पहले कारणके ज्ञात हो जानेसे भयकी निवृत्ति कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच

निशम्याऽऽत्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झताः ।

ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ।।१।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजी कहते हैं ब्रह्माके कहे हुए कारणको सुनकर निर्भय हुए सर्व देव स्वर्गमें गए।।१।।

व्याख्यार्थ : 'आत्मभू'(ब्रह्मा)के कहे हुए कारणको सुनकर अपने नाशकी चिन्तासे छूटे, 'आत्मभुवा' पदसे कारणकी सूचना की, क्योंकि ब्रह्मा देवोंकी उत्पत्तिका स्थान है,इसलिए देवोंका कारण है इसलिए इनका कहना देवोंकेलिए हितकर है.'कथितं'(कहा) न कहकर 'गीतं'(गाया हुआ) कहा जो हर्षका सूचक होनेसे सर्वमें प्रसिद्ध हुआ, इससे बताया है कि फल प्राप्तिमें कोई सन्देह नहीं दुःख तो सीमावाला है इससे सहन करना चाहिए. यों समझकर (देव) निर्भय हो गये कारणकि सुख एवं दुःखकी सीमा बंधी हुई है.शंका निवृत्त हो जानेके बाद सकल देव स्वर्गको लौट गये क्योंकि स्वर्ग इनके रहनेका स्थान है वहां जाना आवश्यक होनेसे वहां लौट गये ।।१।।

आभास : इस श्लोकमें उनकी(द्वारपालोंकी) उत्पत्ति कहते हैं:

दितिस्तु भर्तुरादेशाद् अपत्यपरिशङ्किनी ।

पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ।।२।।

श्लोकार्थ : दितिको तो पतिके आदेशानुसार(पुत्र उपद्रवी होंगे) यह शंका बनी रहती थी अतः जब पुत्रोंको गर्भमें रहते हुए सौ वर्ष बीते तब दो यम पुत्रोंको उत्पन्न किया।।२।।

व्याख्यार्थ : श्लोकमें 'तु' शब्द देनेका आशय है कि कश्यप ऋषिजीके विचारानुसार शीघ्र ही पुत्रोंको उत्पन्न करना था किन्तु दितिने यों नहीं किया, क्योंकि पति कश्यपके आज्ञारूप वाक्यसे सन्तानोंके विषयमें चारों तरफसे शंकाशील थीं कि यों उत्पन्न होकर उपद्रव ही करेंगे इस शंकासे इनके कुसमयमें गर्भमें स्थित होनेसे जो दोष हुआ है उसकी निवृत्तिकेलिए मारक कालकी प्रतिक्षा की, वह काल सौ वर्षका होता है अतः सौ वर्ष बीते तब वे ही पुत्ररूपसे उत्पन्न किये.यद्यपि वे जुडवा थे इसलिए 'यमलौ' पद देना चाहिए था वह न देकर 'यमौ' कहा जिसका कारण यह है कि ये दुःख देनेवाले होंगे, पुत्रोंके अपराधसे पति मेरा

त्याग न कर दे इस भयसे पुत्रोंको सौ वर्ष तक गर्भमें धारण किया. क्योंकि दिति 'साध्वी' पतिव्रता थीं, ये सौ वर्ष मनुष्योंके हैं ।।२।।

आभास : इस प्रकार उत्पत्ति कहकर उसका तामसत्व जताने के लिए अनिष्टकी सूचना करनेवाले बहुत प्रकारके उत्पातोंका वर्णन करते हैं. कालकी प्रतिक्षाकी इसलिए अब संवत्सरात्मक काल इस प्रसंगमें अनिष्टकी सूचना देनेवाला हुआ है वे अनिष्ट १२ श्लोकोंसे और उसके फलका एक श्लोकसे वर्णन करते हैं, उसमें पहले सामान्य अनिष्ट कहते हैं:

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ।।३।।

श्लोकार्थ : उनके जन्मके समय स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षमें अनेकों उत्पात होने लगे जो उत्पात लोकोंको अत्यन्त भयभीत करनेवाले थे।।३।।

व्याख्यार्थ : 'तत्र' पदसे आश्रममें अथवा उस समय दोनोंका सूचक है. उन दोनोंके पैदा होते हुए तीन प्रकारके उपद्रव हुए, उनको देशभेदसे तीन प्रकारका कहा है, स्वर्गमें पृथ्वी पर और अन्तरिक्षमें इनमें सात्त्विक राजस और तामस क्रम हैं, अर्थात् स्वर्गमें सात्त्विक, पृथ्वी पर राजस और अन्तरिक्षमें तामस उत्पात हुए(ये उत्पात नारद संहितामें कहे हुवे उत्पातोंसे जुदे प्रकारके हैं उनसे भी भीषण हैं इससे विरोध दोषवाला नहीं) 'च' पदसे देहमें भूत कृत उपद्रवोंका सूचन किया है, उनका फल कहते हैं, 'लोकस्योरूभयावहाः' लोक शब्दसे सामान्य सबका सूचन किया है अथवा सत्पुरुषोंको अत्यन्त भयंकर हुवे हैं कारण कि इनके उत्पातोंसे लोकनाश वा धर्मनाश होनेवाला है ।।३।।

आभास : उत्पात उद्देश्यसे कहकर निम्न श्लोकमें वे स्वरूपसे तीन प्रकार के हैं यों वर्णन करते हैं:

सहाचला भुवश्चेलुः दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाऽशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ।।४।।

श्लोकार्थ : पर्वतों सहित पृथ्वीके कुछ-कुछ भाग हिलने लगे जगह-जगह उल्का पात होने लगा. सकल दिशाएं जलने लगी. बिजलियां कडाकेके साथ चमकने लगी. भय सूचक पुच्छल तारे आकाशमें दिखाई देने लगे।।४।।

व्याख्यार्थ : किसीका मत है कि ये उत्पात भी दिव्य थे पर्वत सहित पृथ्वी टुकडे हो कांपने लगी. यदि टुकडे हो न कांपती तो 'भुवश्चेलुः' एकवचन

देते 'सहाचला' पदका भी यह आशय है कि पर्वत भी जुदे चलने लगे तात्पर्य यह है कि समग्र पृथ्वी एवं समग्र पर्वत साथमें नहीं चले थे. दिशाओंका जलना अन्तरिक्षमें हुआ, क्योंकि दिशाएं अन्तरिक्षमें स्थित हैं सब दिशाएं आठ हैं जलने लगी, न केवल धूम्र(धुंआ) हुआ. आकाशके उत्पात कहते हैं उल्के होने लगे वे अग्निके समान नक्षत्ररूप थे उनके साथ वज्र(बिजलियां) भी कडाकेके साथ चमक एवं ध्वनि करने लगी पुच्छल तारे एक सौ देखनेमें आये. यद्यपि सब साधारण रीतिसे भयजनक थे किन्तु विशेष पीडा करनेवाले हैं, जो पुच्छल तारोंको गिरते देखते हैं उनके शरीरमें पीडा होती है इतनी इनमें विशेषता है आर्ति(पीडा)के कारण हैं वे यमके दूतादि होनेसे जगतमें विशेष हानि करनेवाले होते हैं ।।४।।

आभास : अब इस श्लोकमें भौतिक उत्पातका वर्णन करते हैं:

वायुर्ववौ सुदुःस्पर्शः फट्कारानीरयन् मुहुः ।
उन्मूलयन् नगपतीन् वात्यानीको रजोध्वजः ।।५।।

श्लोकार्थ : बार-बार धांय-धांय करती बडे-बडे वृक्षोंको मूल सहित उखाडती हुई अत्यन्त निकट वायु(आंधी) चलने लगी, जिससे उस समय आंधीकी सेना उडती हुई धूल ध्वजाके समान दीखती थी।।५।।

व्याख्यार्थ : वायु दो प्रकारकी होती है १.तुफानरूप २.(आन्धी) सदा चलनेवाली अर्थात् धूलरहित तेज गतिवाली होती है, दोनों तरह वे अनिष्टसूचक हैं.जिसमें सदा तेज चलनेवाली वायुका रूप बताते हैं 'सुदुः स्पर्शः' वह स्पर्श होनेसे दुःखदायी होती है निरन्तर तेज चलनेसे ही स्वभावसे अनिष्टसूचक है.उसमें विशेषता यह है कि उसके स्पर्श मात्रसे दुःख होता है चलनेके समय भी दुष्ट शब्द(धांय-धांय) करती हुई चलती है 'मुहुः' एक ही धाराप्रवाहमें अनेक प्रकारके शब्द(ध्वनि) प्रकट करती है. आन्धीरूप वायुके अनिष्ट लक्षण कहते हैं. ''उन्मूलयन् नगपतीन्'' श्रेष्ठ बडे-बडे वृक्षोंको मूल सहित उखाडती हुई आकाश पर्यन्त रजको उठाकर फेंकती है यों अर्थ है।।५।।

आभास : इस श्लोकमें मेघोंका अनिष्ट सूचक लक्षण कहते हैं:

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ।।६।।

श्लोकार्थ : बिजली ऐसे चमक रही थी कि मानों हंस रही है, मेघोंकी

घटाने ऐसा सघनरूप धारण किया जिससे प्रकाशकगण(सूर्य,चन्द्र आदि ग्रह) लुप्त हो गए इस कारण आकाशमें अन्धकार फैल गया इससे उस समय कुछ भी दीख नहीं पडता था।।६।।

व्याख्यार्थ : जोरसे हंसती हुई बिजलियां उनके साथ जो बादलोंकी घटा थी उससे प्रकाशक मख आकाशमें निस्तेज हो गया. ऐसे आकाशमें जो तम(अन्धकार) प्रविष्ट हुआ, उससे कोई स्थान, सूर्यादिके व अन्योंके देखनेमें न आने लगे,'स्म' इस पदसे सम्मतिकेलिए, लौकिक प्रमाण कहा है, बिजलियोंकी हांस समानता अनिष्टसूचक है और अत्यन्त अन्धकार भी अनिष्टसूचक है. 'तमसा'के स्थान पर यदि 'तमसः' पद हो तो इसका अर्थ होगा मेघादिक भी देखनेमें नहीं आते थे ।।६।।

आभास : इस श्लोकमें समुद्रके अनिष्ट सूचक लक्षण कहे हैं:

चुक्रोश विमना वार्धिः उदूर्मिः क्षुभितोदरः।
सोदपानाश्च सरितः चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ।।७।।

श्लोकार्थ : उंची तरंगो(लहरों)वाला, भीतरके जीवोंकी खलबलीसे दुःखी हो जोरसे गर्जने लगा, नदी आदिमें भी खलबलीसे कमल आदि सूख गए।।७।।

व्याख्यार्थ : जैसे मनुष्य दुःखी होनेपर जोरसे पुकारता है समुद्र भी दुःखी हुवा हो वैसे जोरसे आक्रोश(शोर) करने लगा जिसके चिह्न थे ऊंची-ऊंची तरंगोका उठना और अन्दरके भागमें भीतर रहनेवाले जीवोंकी मची हुई बडी हलचल कूप एवं सरित(नदी) आदि भी खलबलीमें पडे हुए थे,उनके कमल भी सूख गये थे ।।७।।

मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः।
निर्घातो रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ।।८।।

श्लोकार्थ : सूर्य और चन्द्रको साथ ही राहू बार-बार अर्थात् सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण होने लगे ग्रसने लगा बिना बादलोंके बिजलियां गिरने लगीं, गुफाओंसे रथकी घर-घराहटके समान शब्द होने लगे।।८।।

व्याख्यार्थ : राहुग्रस्त सूर्य एवं चन्द्रमाकी साथमें ही परिधियां बार-बार होने लगीं. 'निर्घात' बिना बादलोंके बिजलियां गिरने लगीं रथोंके घरघराहटके समान शब्द विवरोंसे गुफाओंसे पातालादिसे व सर्पादिके बिलोंसे जोर-जोरसे

होने लगे ।।८।।

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
शृगालोलूक–टङ्कारैः प्रणेदुर् अशिवाः शिवाः ।।९।।

श्लोकार्थ : गांवोंमें सियारियां मुखसे दहकती आगको उगलती हुई, गीदड और उल्लुओंके भयंकर शब्दोंके साथ अमंगल ध्वनि करने लगीं।।९।।

व्याख्यार्थ : गांवोंके भीतर सियारियां मुखसे दहकती हुई आगको उगलती हुई, गीदड और उल्लुओंके भयंकर शब्दोंके साथ अमंगल ध्वनि करने लगीं ।।९।।(?)

आभास : निम्न श्लोकमें कुत्तोंके अमंगल शब्द बताते हैं:

सङ्गीतवद् रोदनवद् उन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ।।१०।।

श्लोकार्थ : जहां–तहां कुत्ते अपनी गर्दन उंचीकर कभी संगीत(गाने)की तरह और कभी रोनेकी तरह अनेक प्रकारकी बोलियां बोलने लगे।।१०।।

व्याख्यार्थ : जिस तरह नगरोंमें गायन होता है अथवा जैसे परिश्रमके लोग रोते हैं वैसे कुत्ते गर्दन ऊंची कर तरह–तरहके शब्द यहां–वहां बोलने लगे ।।१०।।

आभास : गधोंके अनिष्ट लक्षणोंका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।
खार्काररभसामत्ताः पर्यधावन् वरूथशः ।।११।।
रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडाद् उदपतन् खगाः ।।११.१/२।।

श्लोकार्थ : हे संयमी !(हे विदुरजी !) बहुत झुण्डोंमें इकठ्ठे होकर अपने कठोर खुरोंसे भूमिको खोदते एवं रेंकनेका शब्द करते हुए गधे मतवाले बन गए. जिससे इधर उधर दौडने लगे गधोंके रेंकनेके शब्दोंसे डरे हुए पक्षी रोते हुए अपने घोसलोंसे उडने लगे।।११.१/२।।

व्याख्यार्थ : कठोर खुरोंसे भूमिको खोदते हुए गधे, अपनी जातिके शब्द रेंकनेसे अत्यन्त मत्त हो गये, जिससे झुण्डोंके रूपमें इधर–उधर दौडने लगे, उनके शब्दसे दूसरा अनिष्ट बताते हैं कि गधोंसे डरे हुए पक्षी रोते हुए घोंसलोंसे उडने लगे, गधोंके शब्दसे वे भी डर गये यों अर्थ है ।।११.१/२।।

आभास : पशुओंके अनिष्टोंका लक्षण निम्न श्लोकमें कहते हैं:

घोषेऽरण्ये च पशवः शकृद् मूत्रम् अकुर्वत ।।१२।।

गावोऽत्रसन् असृग्दोहाः तोयदाः पूयवर्षिणः ।

व्यरुदन् देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनाऽनिलम् ।।१३।।

श्लोकार्थ : डरके मारे खिरक और वनमें पशु विष्ठा और मूत्र छोड देते थे(त्याग देते थे).गौ डर गई खून स्त्रवित करने लगी बादल पीप बरसाने लगे, देव मूर्तियां रोने लगीं, वायु बिना वृक्ष गिरने लगे।।१२-१३।।

व्याख्यार्थ : खिरकोंमें वनमें गौ बैल आदि पशु डरके कारण जहां-तहां बारम्बार मलके साथ मूत्र भी त्यागने लगे गौ ऐसी डर गयी कि उनके दूधके स्थानसे खून निकलने लगा.जल बरसानेवाले बादल पीपकी वर्षा करने लगे. पहले बादल आच्छादकपन(अंधकारवाले) ही कहे हैं, देव मूर्तियां विशेषरूपसे रोने लगीं, मुखसे शब्द और नेत्रोंसे जलकी ध्वनि हो रही थी.बिना वायुके चलते हुवे पेड गिरने लगे ।।१२-१३।।

आभास : निम्न श्लोकमें ग्रहोंके युद्धका वर्णन करते हैं:

ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चाऽपि दीपिताः ।

अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ।।१४।।

श्लोकार्थ : शनि आदि क्रूर ग्रह शुक्रादि सौम्य ग्रहोंके उपर पड उनको पीडित करने लगे तथा नक्षत्र भी प्रदीप्त हो वक्रगतिसे चलकर परस्पर युद्ध करने लगे।।१४।।

व्याख्यार्थ :शुक्र आदि अतिपवित्र ग्रहोंको लक्ष्यकर शनैश्चर आदि क्रूर ग्रह उनके ऊपर गिरने लगे अर्थात् उनको पीडित करने लगे. समस्त नक्षत्र जलने लगे यों भासते थे कि किसीने जलाये हैं ।।१४।।

आभास : यों निमित्त(कारण) बताकर उनका फल कहते हैं:

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातान् अतत्तत्वविदः प्रजाः।

ब्रह्मपुत्रान् ऋते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : इसी तरहके और भी महान् उत्पात देखकर सिवाय सनकादिके अन्य सकल प्रजा डर गयी क्योंकि इन उत्पातोंके मर्म न समझनेके कारण यों जानने लगे कि अब विश्वका प्रलय होनेवाला है।।१५।।

व्याख्यार्थ : जो कहे नहीं गये हैं ऐसे दूसरे सूर्यका एवं चन्द्रका पतन आदि उपद्रव भी देखकर इसके तत्त्व(आशय)को न जाननेवाली प्रजा इस

विश्वका प्रलय ही होनेवाला है,यों समझने लगी किन्तु मूलभूत इन चार सनकादिकोंके सिवाय शेष प्रजाने यों माना और इससे सब ही डर गये ।।१५।।

आभास : इस तरह फल सहित अनिष्ट लक्षणोंका निरूपण कर निम्न श्लोकमें उनके जन्म वृद्धि संस्कार आदिका वर्णन करते हैं:

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाऽद्रिपती इव ।।१६।।

श्लोकार्थ : वे दोनों आदिदैत्य जन्मते ही अपने इस दृढ कायासे मेरूके समान हो गए और उनका पूर्व जन्मका पराक्रम भी प्रकट देखनेमें आया।।१६।।

व्याख्यार्थ: इनको आदिदैत्य कहनेका भावार्थ प्रकट करते हैं कि ये पूर्वजन्ममें मधु और कैटभ दैत्य थे इसलिए कहा कि ये पहले भी दैत्य थे, अथवा दितिसे ये पहले जन्मे हैं अतः आदिदैत्य है ऐसे थे.दोनों आदिदैत्य बिना विलंबके तथा बिना कारणके अपने देहमें पौरुषको प्रकट करने लगे, अथवा जिनके शरीर स्पष्ट दिखते थे ऐसे दो पुरुष हो गये क्योंकि इन दोनोंने पूर्वजन्ममें भगवान् जैसी देह धारण की थी अतः अब भी वैसी ही देहवाले स्पष्ट दिखलाई नहीं देते थे, अथवा जिन दोनोंने देहमें पुरुषको प्रकट किया है, जब भीतर वैसे भगवान् विराजमान हो तब ही दूसरा आदमी(पुरुष) बाहर चतुर्भुजरूपवाला होता है, वैसे ये भी वैजयन्ती आदि मालाओंसे युक्त देखनेमें आये. पत्थर जैसी दृढ शरीरसे दो मेरू पर्वतके समान बढने लगे ।।१६।।

आभास : उन दोनोंकी वृद्धिका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभिः निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः ।।१७।।

श्लोकार्थ : वे इतने दीर्घ थे जो उनके सुवर्ण मुकुटोंकी काटियां(अग्र भाग) स्वर्गको स्पर्श करती थी तथा विशाल शरीरोंसे दिशाएं ढक(भर) जाती थी, उनकी भुजाओंमें स्वर्णके बाजूबन्ध चमक रहे थे, पद-पद पर चरणोंसे धरातलको कम्पायमान करते थे, सुन्दर चमकती हुई करधनीसे सुशोभित कटिसे सूर्यको भी मात कर खडे होते थे।।१७।।

व्याख्यार्थ : सुवर्णके दो मुकुटोंके अग्रभाग स्वर्गको छूते थे,यहां श्लोकमें 'दिविस्पर्श' समासान्त पदमें 'दिवि' सप्तमी विभक्तिका लोप नहीं हुआ है और यह सप्तमी द्वितीया अर्थमें दी गयी है जिससे स्वर्गको अर्थ किया गया है.

दोनोंकी भुजाएं प्रकाशमान बाजूबन्दवाली थीं,(पाणिनीके ''सुपां सुलुक'' सूत्र अनुसार 'अंगदों'का 'अंगदा' रूप किया गया है) पद-पद पर पृथ्वीको कम्पायमान करते थे जिससे यों समझमें आता था कि दोनों पृथ्वीको रसातलमें ले जानेकेलिये तैयार हुए हैं, कार्यके कारणका अनुमान होता है अतः इनके कार्यसे इनके शरीर कितने और कैसे होंगे यह अनुमान लगा लीजिये, जिस कटि पर सुन्दर करघनी(कन्दौरा) है जिससे ये सूर्यको भी मात कर खडे होते थे, अर्थात् खडे होनेपर जिनकी कटि सूर्यमण्डलके ऊपर जाती थी यह उनके लम्बे होनेका प्रमाण है ।।१७।।

आभास : इस तरह उन दोनोंकी वृद्धि कहकर निम्न श्लोकमें उनके नामकरण आदि संस्कार प्रजापति कश्यपने किये जिनका वर्णन करते हैं:

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद् यः प्राक् स्वदेहाद् यमयोरजायत ।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा यं तं हिरण्याक्षमसूत साऽग्रतः।।१८।।

श्लोकार्थ : वे दोनों साथ जन्मनेसे जुडवा थे, उन दोनोंके प्रजापति, कश्यपने नामकरण संस्कार किया, उनमेंसे जो अपने(कश्यपके) वीर्यसे पहले उत्पन्न हुआ था जिसका नाम हिरण्यकशिपु रखा, और जिसको दितिने अपने उदरसे पहले बाहर निकाला उसका नाम 'हिरण्याक्ष' धरा।।१८।।

व्याख्यार्थ : प्रजापति कश्यपजीने दोनोंका नामकरण किया. दोनोंमेंसे जो पहले अपनी(कश्यपकी) देहसे निकले रेत(वीर्य) से उत्पन्न हुआ यद्यपि उनका अपनेमें प्रवेश नहीं हुआ था तो भी पीछे भी बीज सम्बन्धसे अपनी देहसे वैसे ही उत्पन्न हुए यों कहा है, इसमें निश्चयसे पुत्रपनमें बीज ही कारण है. दोनोंमेंसे जो मातासे पीछे उत्पन्न होता है वह पितासे पहले उत्पन्न हुआ जानना चाहिए, क्रमसे प्रविष्ट हुओंका निर्गमन विपरीत ही होता है, उसको प्रजा हिरण्यशिपु जानती है, अतः हिरण्याक्ष पहले-पहले उत्पन्न हुआ भी कनिष्ठ(छोटा) है ।।१८।।

आभास : उन दोनोंमेंसे हिरण्यकशिपुके दोषका स्वरूप सातवें स्कन्धमें कहना चाहिए किन्तु दूसरेका अनादर न हो इसलिए यहां केवल इसकी (हिरण्यकशिपुकी) स्थिति बताई जाती है:

चक्रे हिरण्यकशिपुः दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालान् लोकान् त्रीन् अकुतोमृत्युरुद्धतः ।।१९।।

श्लोकार्थ : हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीके वरदानसे मृत्युके भयसे छूट जानेके

कारण महान् उद्धत(ढीट) बन गया, अतः उसने अपनी दो भुजाओंसे एवं ब्रह्माजीके वरके बलसे लोकपाल सहित तीन लोकोंको वशमें कर लिया।।१९।।

व्याख्यार्थ : यद्यपि यह(हिरण्यकशिपु) दो भुजावाला था तो भी ब्रह्माजीके वरदानके बलसे उन दो भुजाओंसे ही लोकपालों सहित तीनों लोकोंको वशमें कर लिया, जिसको धर्म और मोक्ष तो थे ही नहीं क्योंकि 'अकुतो मृत्युरुद्धतः' किसीसे मृत्यु नहीं अतः उद्धत बन गया.जब मृत्यु ही नहीं तो मृत्यु विशेष मुक्ति तो सुतरा(स्वतः) नहीं है, उद्धत होनेसे धर्म भी नहीं था कारणकि धर्मकी उत्पत्ति वहां होती है जहां नम्रता होती है यहां नम्रता तो थी ही नहीं केवल उद्धतता(ढिटाई) थी ।।१९।।

आभास : इस तरह सामान्य प्रकारसे हिरण्यकशिपुका पराक्रम कहकर हिरण्याक्षका पराक्रम कहकर हिरण्याक्षका दोषपन जतानेकेलिए निम्न श्लोकसे लेकर छः श्लोकोमें हिरण्याक्षने जो स्वर्गादिमें उपद्रव किये उनका वर्णन करते हैं:

प्रयत्नश्च भयोत्पत्ति–रूपं कार्यं च तस्य तत् ।
तेन गर्वस्ततो मादः तस्मात् सर्वभयं पुनः ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : १. प्रयत्न, २. देवोंको भयकारक रूप, एवं उसका परिणाम भी कार्यसे वैसा होना, ३. उससे उत्पन्न अहंकार, ४. जिससे माद होना, ५. उससे फिर सर्वको भय उत्पन्न होना।।१।।

आभास : पहले देवोंसे विरोध करनेकेलिए प्रयत्न करते हैं:

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ।।२०।।

श्लोकार्थ : हिरण्याक्ष उसका(हिरण्यकशिपुका) छोटा प्यारा भाई था और यह छोटा भाई बडे भाईको जो कार्य प्रिय था वह ही सदा करना चाहता था, अतः वह हाथमें गदा लेकर युद्धका अवसर ढूंढते हुए एक दिन स्वर्गमें पहुंच गया।।२०।।

व्याख्यार्थ : हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपुका छोटाभाई था, हिरण्यकशिपुकी तरह तीन जगह इसके भी वशमें थीं.हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपुका प्यारा था उसकी प्रीतिका पात्र होनेसे हिरण्यकशिपु जो विजय(जीत) आदि की वह फल मानो इसको मिला, फिर यह भी उससे प्रेम करनेवाला था, जब दोनोंका स्वभाव और व्यसन समान होता है तब ही प्रीति होती है यदि यों न हो तो प्रीति उत्पन्न नहीं

होती है, बडेभाईको प्रसन्न करनेकेलिए देवोंसे लडनेकेलिए प्रयत्न करने लगा, प्रतिदिन हाथमें गदा लेकर लडाईको ढूंढता हुआ फिर रहा था नारदजीकी तरह भगवान्के दर्शनकेलिए एवं लोकोंकी क्या दशा है इसको देखनेकेलिए नहीं घूमता था क्योंकि युद्ध करनेकी इच्छावाला था, अतः देवोंसे युद्ध करनेकेलिए एकदिन स्वर्गमें गया ।।२०।।

आभास : इसका जो रूप देवोंने देखा जिससे उनको भय उत्पन्न हुआ उसका वर्णन करते हैं:

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत् काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टम् अंसन्यस्तमहागदम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : अत्यन्त असह्य वेगवाले, पैंरोंमें सोनेके नूपुरोंकी झनकार वाले, गलेमें वैजयन्ती माला धारण करनेवाले कन्धे पर गदाको धारण करनेवाले हिरण्याक्षके रूपको देखकर।।२१।।

व्याख्यार्थ : पहलेसे ही असत्य एवं शीघ्रगामी(तेज चलनेका) जिसका वेग था, दूरसे देखा तो क्षणमें ही आकर मार डालेगा कारणकि उससे बचनेका उपाय इतने स्वल्प(थोडे) समयमें बन नहीं सकता.'रणत्काञ्चननूपुरं' पदसे यह सूचित किया है कि इसकी जय एकके पीछे दूसरी होती रही है और रहेगी. वैजयन्तीमाला धारण करनेसे इसका भगवदीयत्व सूचित किया है जो वह ही वैजयन्तीमालामें सुशोभित हो सकता है कन्धे पर रखी हुई महती बडी गदासे यह बताया है कि इसने विशेष श्रम तथा साधन किये हैं ।।२१।।

आभास : इस तरह चार विशेषणोंसे उसका भयानक रूप कहा जिससे देव डर कर भागने लगे जिसका वर्णन अब करते हैं:

मनोवीर्यमदोत्सिक्तम् असृण्यम् अकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवाः तार्क्ष्यत्रस्ता इवाऽहयः ।।२२।।

श्लोकार्थ : वह अपने मनोबल, शारीरिक बलके मदसे उच्छृङ्खल हो गया था, किसीके अंकुशमें न रहनेसे निर्भय एवं उद्धत हो गया था, उसे देखकर देवगण डरके कारण जहां तहां ऐसे छिप जाने लगे जैसे गरुडके डरसे सांप छिपते हैं।।२२।।

व्याख्यार्थ : मनका(मनोबलका) भावार्थ उत्साह है, 'वीर्य' पदसे पराक्रम तथा 'मद'से गर्व दिखाया है इनसे वह(हिरण्याक्ष) उच्छृंखल हो गया था,

जिससे उसने मर्यादा छोड दी थी.यद्यपि भ्राता वशमें रखता था तो भी इसमें जो तेज उद्धतता(ढिटाई) थी,उसने इसको निरंकुश बना दिया था जिससे निर्भय हो गया था.इसी तरह इनके तीन दोषोंको देखकर देव डरके मारे युद्ध भी न कर सके छिप गये(छिपने लगे) स्त्री धन आदिका त्यागकर कैसे छिपे होंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे सांपोंको गरूड मार ही देता है धनादि दानसे भी नहीं छोडता है वैसे यह हिरण्याक्ष भी है अतः अपने प्राणोंकी रक्षाकेलिए छिप गये ।।२२।।

आभास : देवोंके छिप जानेसे भी गर्व बढा जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
सेन्द्रान् देवगणान् क्लीबान् अपश्यन् व्यनदद् भृशम् ।।२३।।

श्लोकार्थ : उस दैत्यराजने अपने तेजसे, इन्द्र सहित नपुंसक देवोंको छिप जानेसे जब नहीं देखा तब जोरसे(जबर्दस्त) गर्जना की।।२३।।

व्याख्यार्थ : पुरुष, पुरुषके समान होता है, समानतामें शत्रुता व मित्रता होती है किन्तु पुरुष भी नपुंसक नहीं होना चाहिये, देवत्व और शूरत्व तो दूरकी बात है.महान् अभिमानी(हिरण्याक्ष)ने यों(देवोंको नपुंसक) मानो काल आदिसे सर्व तिरोहित हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते है इसमें कौनसा आश्चर्य है? जिसका उत्तर देते हैं कि देवता कालादिसे तिरोहित नहीं हुवे हैं किन्तु मेरे अपने तेजके डरसे छिपे है जैसे सूर्यकी रोशनीसे अन्धकार छिप जाता है.

इन्द्रसहित सकल देवोंको जो अपने कार्य सिद्ध करनेमें भी असमर्थ हैं और स्वरूपसे भी कार्य करनेमें असमर्थ हैं इस कारणसे भी उनको न देखता हुआ जोरसे ध्वनि करने लगा.ये नपुंसक हैं ऐसे ज्ञान होनेका कारण छिपना है, अपने ही तेजसे ये छिपे देखकर अपने ही तेजसे दैत्यराज हुआ यह वाक्य भिन्न है, अतएव क्लीबादिधर्मयुक्त(नपुंसक होनेसे) भी उनको न देखता हुआ जोरसे गर्जने लगा जिसका कारण था कि जो निकट होंगे तो वे इस ध्वनि मात्रसे मरेंगे ।।२३।।

आभास : यों हनन कर बहुत गर्भस्थ देवोंका पराभव करने(हराने)से महान् गर्वके कारण जिसकी देह मानों आगसे जल रही थी अतः उस जलनको मिटानेकेलिए समुद्रमें जल क्रीडा करने लगा जिसका वर्णन करते हैं:

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिःस्वनम् ।
विजगाहे महासत्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ।।२४।।

श्लोकार्थ : वह महाबली दैत्य वहांसे लौटकर जल क्रीडा करनेकेलिए मतवाले हस्तीके समान भयंकर गर्जनावाले गहरे समुद्रके मध्यमें चला गया।।२४।।

व्याख्यार्थ : इस श्लोकसे उसके महामदका ज्ञान होता है. वहांसे(स्वर्गसे) लौटा कारणकि जल क्रीडा करनी थी, इसलिए समुद्रके पास आया, क्रीडा कामसे होती है, जब क्रोध हो व लडाईकी मनमें चाहना हो तब उद्वेग होनेसे क्रीडा नहीं हो सकती है, इसलिए उन भावोंसे निवृत्त हो गया. देवोंकी अपेक्षा समुद्र महान् है यों जानकर वहां आया जिसकी पुष्टिकेलिए समुद्रके गुणोंका वर्णन करते हैं 'गम्भीरं भीमनिः स्वनम्', अगाध जलवाला होनेसे भयजनक था इससे समानता और शुष्क न होगा इन दो बातोंकी सूचना दी है, और भयानक गर्जना करनेवाला होनेसे युद्धार्थी भी है यों भी जाना, स्वयं मतवाला होनेसे ऐसा ज्ञान हुआ तो भी युद्धका रस लेनेकेलिए नहीं आया था किन्तु क्रीडा ही करूंगा इस इच्छासे आया था यह अधिकता थी.'विगाहनं'का तात्पर्य है समुद्रमें घुसे,यों करनेमें वह समर्थ था जिसका प्रमाण देनेकेलिए 'महासत्त्व' विशेषण दिया है अर्थात् जो महान् बली है' इस(पद्म)कल्पमें ये दो उत्पन्न हुए हैं.मृत्यु पर विजय करनेसे इनका मरण कल्पान्तमें नहीं हुआ अतः उसी कल्पमें हिरण्यकशिपुने तीन लोक वश किये, अनन्तर वे दोनों मोहग्रस्त होनेसे आदि वाराहकल्पमें रसातलमें एवं प्रलयमें सो गये, आदि वाराहकल्प पूर्ण नहीं हुआ इतनेमें पृथ्वी उत्पन्न हो गयी और ब्रह्माने, देवोंने कितनी अन्य प्रजाकी रचना कर डाली तब यह छोटा हिरण्याक्ष बडे हिरण्यकशिपुके सोते हुए ही ब्रह्माकृत सृष्टिके प्रातःकालमें स्वर्गको गया, भूमि आधी ही बनी थी इसलिए भूमि फिर आधेमें ही डूब गयी वहांसे भी लौटकर हिरण्याक्ष प्रलयजलमें पडा. ब्रह्माने देवोंको उत्पन्न किया था, वरुण दैत्योंका अधिपति होनेसे रसातलमें अथवा ब्रह्माण्डके अन्तिम पश्चिम भागमें स्थित हुवा, मनु आदि भी उत्पन्न हुवे थे तथा नारद आदिकी भी उत्पत्ति पद्मकल्पमें हुई थी.ये सब ऊपरके लोकोंमें जो दो महालोक तथा स्वर्गलोक डूबे नहीं थे उनमें जाके रहे, दिति रसातलमें एवं कश्यप ऊपरके लोकमें रहे, डूबी हुई पृथ्वीके समयमें जल बाधक न होनेसे दैत्य उसका भोग करते थे, अतः नारदजीके वाक्यानुसार हिरण्याक्षको वराहका सम्बन्ध हुआ यों सर्व उचित ही है. पुराण तो विशेषकर एक चतुर्युगीकी ही कथा साथ कहते हैं, और सामान्य

गुण फिर बताते हैं. दूसरी चतुर्युगीकी कथा अथवा कल्पान्तरकी कथा व मतान्तरकी कथा भी कही है, अतः विरोध नहीं है, समयान्तरकी कथा होनेसे पृथकता होती है, इसमें 'श्रुतार्थापत्ति' प्रमाण है. मदके कारण ही उसने समुद्रमें प्रवेश किया, उसमें जल निरन्तर उत्पन्न होता रहता था, उसका मन विशेष काला था इसलिए 'मत्त इव' कहा, नहीं तो केवल 'द्विप'(मत्त) कहते. मत्तहस्तीकी तरह कहनेसे इसका मद विवेकयुक्त था, महान् घोष करता हुआ कूदा यह इसमें दृष्टान्त है 'द्विप' शब्दसे यह सूचित किया है कि इसके सूंढके सिवाय जलमें प्रवेश करनेसे डूबेगा नहीं ।।२४।।

१.यहां(मतान्तरमें) इस प्रकार जानना चाहिये. १३वें अध्यायमें वराह आदि वाराह कल्पमें कथाकी संगति कही है. यहां(मतान्तरमें) भूमि दो बार डूबी है शेष पूर्वकी तरह है. (प्रकाश).

आभास : इससे भी अधिक दुःख समुद्रमें रहे हुए जीवोंको हुआ वह इस श्लोकमें कहते हैं:

तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका यादोगणाः सन्निधयः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ।।२५।।

श्लोकार्थ : हिरण्याक्षके समुद्रमें प्रवेश करते ही डरके मारे वरुणके सैनिक जलचर हकबका गए, छेड छाड मात्र न होने पर भी उसके तेजसे डरकर बहुत दूर भाग गए।।२५।।

व्याख्यार्थ : हिरण्याक्षके समुद्रमें प्रवेश करने पर वरुणके सैनिक जलचर जो युद्धमें कुशल भी थे और जलमें बहुत बलवान् होते हैं, समुद्र अपना घर था इसलिए इनकी निधि(खजाना धनादि) भी वहां इनके पास ही थी तथा किसी प्रकारकी आधि(कमी)से रहित थे. सारांश यह है कि सर्व प्रकारसे पुष्ट बलवान् थे ऐसे होते हुए भी डर गये अतः प्रहार न होते हुवे भी देवोंके समान इसके तेजसे ही बलहीन हो गये जिससे अत्यन्त दूर-दूर भागकर छिप गये ।।२५।।

आभास : इस तरह उसकी सर्वोपद्रवकारी शारीरिक चेष्टा(क्रिया) कहकर निम्न श्लोकसे लेके छः श्लोकमें वाणीकी क्रिया कहते हैं जिसमें से पहले पूर्व चरित्रसे सम्बन्ध ही कहते हैं:

स वर्षपूगान् उदधौ महाबलः चरन् महोर्मीन् श्वसनेरितान् मुहुः ।
मौर्व्याऽभिजघ्ने गदया विभावरीम् आसेदिवान् तात! पुरीं प्रचेतसः ।।२६।।

श्लोकार्थ : महाबली हिरण्याक्ष कल्पान्त पर्यन्त समुद्रमें ही घूमता रहा, अपने श्वासरूप वायुसे ही उत्पन्नकी हुई महोर्मियों(बडी लहरो)को हाथ जान कर घास तृणसे बान्धी हुई अपनी गदासे उनके चारों तरफसे पीटने लगा, यों करते हुए वरुणकी राजधानी विभावरी पुरीमें जा पहुंचा।।२६।।

व्याख्यार्थ : हिरण्याक्षने जान लिया था कि समुद्र अपनेको बडा मानता है इसलिए उसके हस्तरूप तरंगोको गदासे ताडना करने लगा यों कहते हैं. उस हिरण्याक्षने कल्पान्त पर्यन्त बहुत वर्ष समुद्रमें चक्कर काटते हुए प्रहार किये तो भी उसका बल क्षय न हुआ इसलिए 'महाबल' विशेषण दिया है तथा समुद्रमें फिरते हुवे अपने श्वासरूप वायुसे जो तरंगे(लहरें) उत्पन्न की थी उनको ही उनके हाथ जानकर, घास विशेषसे बन्धी हुई अपनी गदासे उन पर प्रहार करने लगा, जब उसके(हिरण्याक्षके) ऊर्ध्वश्वास(ऊपरके सांस)से तरंगे उत्पन्न हो जाती थीं तो उसके प्रहार करने तथा घूमनेकेलिए कहा ही क्या जाय, यों समुद्रका निग्रह(संयम) हो जाने पर, उसके बाद भी अधिक तरंगोको देख उसके अधिपति वरुणको ताडना करनेकेलिए उसकी पुरीके निकट पहुंच गया अथवा समुद्रमें स्थित उसकी पुरी(गृह)में गया, वरुण उत्तम चित्तवाला है इसलिए नहीं डरा और भागा भी नहीं ।।२६।।

आभास : उसके घर जाकर उसका उपहास किया जिसको कहते हैं:

तत्रोपलभ्याऽसुरलोकपालकं यादोगणानाम् ऋषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचवद् जगाद मे देह्यधिराज सङ्गरम् ।।२७।।

श्लोकार्थ : असुरोके लोकोंका पालन करनेवाला जलचरोंके अधिपति वरणको प्राप्त कर उसकी(वरुणकी) हंसी उडाते हुए उसने(हिरण्याक्षने) नीच (छोटे)की तरह प्रणाम किया और ठगनेकेलिए मुस्कुरातें हुए कहने लगा कि हे महाराज ! मुझे युद्धरूप भिक्षा देनेकी कृपा कीजिए।।२७।।

व्याख्यार्थ : मिल जानेपर उसको मार डालता, परन्तु मारा नहीं क्योंकि वे दैत्योंका रक्षक 'असुर लोकपालकमिति' असुरोंके जितने लोक रसातलमें हैं उनका यह पालक है, असुर लोकमें जो उपद्रव करनेवाले हैं उनको ये जलचर मारनेवाले हैं और ये जलचर, लोक पोषक भी है, जैसे इस लोकमें हाथी और घोडे हैं उनकी तरह वे भी वरुणके वशमें ही हैं, इसलिए यह मारने योग्य नहीं हैं, कारणकि जल जन्तुओंका अधिपति है तथा स्वभावसे भी उत्तम होनेसे

निरभिमानी है, अतः मारना आदि न कर इसमें भी स्वयं गर्वयुक्त हो मुस्कान करते हुए वक्र उक्तिसे ठगनेकेलिए नमस्कार कर सेवकसे भी तुच्छके समान बन स्पष्ट कहने लगा, स्वल्प अक्षरों(थोडे शब्दों)से विनयपूर्वक कुछ कहने लगा हे महाराज! युद्ध दो, यह मुझे नहीं पहचानता है यों कहकर उपहास किया, कार्यसे(युद्धसे) इसको अपनी पहचान कराऊंगा नश्चक तरीकेसे वचन कहे, वरुणको गर्व हो कि मैं बडा हूं इसलिए प्रणाम. किया अपनेको नीच निम्नकोटिका दिखाना उसकी अवगणनाकेलिए था अर्थात् तिरस्कारकेलिए था, यदि यों न करूंगा तो वह युद्धमें प्रवृत्त न होगा. हे महाराज यह सम्बोधन देकर उसको यह जताया है कि तू निर्भय है अतः तुझसे युद्ध करना चाहिये यों प्रार्थनापूर्वक कहकर मानों युद्धका वर मांगा है, 'संगरम्' शब्दका अर्थ युद्ध है ।।२७।।

आभास : इस तरह युद्ध मांग वरुणके शान्त रहने पर उनका गुणगान कर उसमें उत्साह पैदा करता है:

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।
विजित्य लोके किल दैत्यदानवं यद् राजसूयेन पुराऽयजत् प्रभुः ।।२८।।

श्लोकार्थ : आप लोकपाल, महाराजा और बडे यशस्वी हैं और जो आपको बडे वीर पुरुष मानते हैं उनके वीर्य मदको नष्ट करनेवाले हैं तथा पहले दैत्य तथा दानवोंको जीतकर राजसूययज्ञसे भगवान्को पूजा था, अत: आप(प्रभु सर्व-समर्थ) हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ : जैसे भगवान्में षड् ऐश्वर्यादि गुण हैं वैसे आपमें भी षड् ऐश्वर्यादि गुण विद्यमान(मौजुद) हैं. गुणोंकी गणनाकर बताते हैं. लोकपाल होनेसे ईश्वर हो जिससे आपमें ऐश्वर्य गुण प्रकट ही है, सकल पतियोंकी अपेक्षा आप अधिपति हैं अर्थात् महाराजा हो. ऐसा पति वह हो सकता है जिसमें 'वीर्य' ही ''स वै पतिः स्यात्'' इस वाक्यानुसार आप अधिपति तब बने हो जब आपमें पुष्कल(बहुत) वीर्य है, वीर्यवान् होनेके कारण आपकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई है इसलिए आपको 'बृहुच्छ्रवाः' कहा है, जो बहुत मदके कारण अपनेको वीर मानते हैं उनके मदको आपने नष्टकर छोडा है इसलिए आपमें श्री गुण भी है. 'श्री' तब होती है जब शत्रुओंको जीता जाता है, आपने मदयुक्त वीर अभिमानियोंका मद मिटा दिया है जिससे वे 'श्री' रहित हो गये और आपकी 'श्री' बढ गयी, लोकमें निश्चितरूपसे दैत्य और दानवोंको जीतकर, अपना ज्ञान गुण

दिखाया है जैसे कि कहा है, ''मिथ्या ज्ञानेन च तमो ज्ञानेन परं पदं'', झूठे ज्ञानसे नरक और सत्य ज्ञानसे परम पद प्राप्त होता है, इस वाक्यानुसार दैत्य ज्ञानके विरोधी हैं, उनमें दैत्य राजस अज्ञानी हैं और दानव तामस अज्ञानी हैं यों दोनों एक समान ही हैं अतः इन दोनोंका निराकरण ज्ञानसे ही किया जा सकता है और विशेषमें आता है, इसलिए आपने पहले राजसूय यज्ञ भी किया है देव और लोकपाल वीर्यवान् होनेके अधिकारी हैं जिससे उनकी गणना क्षत्रियोंमें की जाती है, अतः इनके परमोत्कर्ष(बडप्पन)का कारण राजसूय यज्ञ ही है, उससे दैत्यों पर जीत पायी जाती है. 'प्रभु' पदसे वैराग्य गुण प्रकट किया है जिसको अपेक्षा होती है वह असमर्थ होता है जो निरपेक्ष है वह 'प्रभु' हो सकता है ।।२८।।

आभास : इस प्रकार जब हिरण्याक्षने वरुणकी स्तुति की, जिसमें इसको षड्ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान्को सिद्ध किया जिससे वरुणको जो वंचकतापूर्ण वचनोंसे क्रोध उत्पन्न हुआ था वरुणने उस क्रोधका त्याग किया वह निम्न श्लोकमें मैत्रेयजी कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

स एवम् उत्सिक्तमदेन विद्विषा दृढं प्रलब्धो भगवान् अपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया व्यवोचद् अङ्गोपशमं गता वयम् ।।२९।।

श्लोकार्थ : मैत्रेय जी ने कहा, अपने मदोन्मत्त उस शत्रुके मदसे कहे हुए बहुत उपहासके वचन सुनकर वरुणको क्रोध तो बहुत आया किन्तु अपनी धैर्य मयी बुद्धिसे उसको दूर कर दिया, फिर कहने लगे कि हे अंग ! अब हमने लडना छोड शान्ति धारण की है।।२९।।

व्याख्यार्थ : वरुण दैत्योंके स्वामी होकर भी उनका अकल्याण कैसे चाहने लगे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'उत्सिक्तमदेन' जिसका मद बढ गया है, दैत्योंका मद यदि बढता है तो भी सबको डुबोना नहीं चाहते हैं, इसका मद बढते ही यह सबको डुबोना चाहता है. इसलिए ऐसेका तो नाश करना ही चाहिये, इसको समझाते क्यों नहीं? इस पर कहते हैं कि, यह विशेष शत्रुता करता है, अतः समझाने योग्य नहीं रहा है. इसने द्वेषके कारण जो तिरस्कार किया वह 'दृढ' है अर्थात् मर्मस्थलोंको पीडा करनेवाला है.

वरुण अशक्त होनेसे यों कहता होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि अशक्त नहीं है क्योंकि षडैश्वर्य गुणयुक्त भगवान् हैं यदि शक्तिमान् है तो इसको

मारता क्यों नहीं? जिसकेलिए कहते हैं कि 'अपांपतिः' अर्थात् जलों(जल) पति है– जलमें स्थित वह्नि जलाती नहीं इसलिए उत्पन्न हुवे क्रोधको आत्मज्ञानसे शान्तकर दिया है, वह 'स्वया धिया' पदसे स्पष्टतासे कहा. तू लडाई मांगता है? व मुझसे लडाई करना चाहता है? यदि मुझसे लडाई करना चाहते हो तो, हे अंग इस प्रकारका कोमल सम्बोधन पूर्ण ज्ञानका बोध कराता है, अपने अंगको कोई नहीं मारता है, हमने तो अब शान्ति ग्रहण की है अर्थात् लडाई करनेकेलिए शस्त्र उठानेसे सन्यास ले लिया है यों अर्थ है ।।२९।।

आभास : यदि तुमको लडाई करनेकी इच्छा है तो तुम्हारी उस इच्छाको पूर्ण करनेवाला एक ही है अन्य कोई नहीं क्योंकि सर्वेच्छापूरक है–यों इस श्लोकमें कहते हैं:

पश्यामि नाऽन्यं पुरुषात् पुरातनाद् यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहितं मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ।।३०।।

श्लोकार्थ : पुराण पुरुषके सिवाय कोई ऐसा दीखता भी नहीं, जो तुम समान युद्धकी रीति(तरीकों)में कुशल वीरसे युद्धकर उसको प्रसन्न कर सके, अतः तुम उसके पास जाओ तुमको युद्ध द्वारा प्रसन्न करेंगे, वह उत्तम असुरोंकी इच्छा पूर्ण करते रहते हैं जिस कारणसे आपके समान शूरवीर उनकी प्रशंसा करते हैं।।३०।।

व्याख्यार्थ : तुच्छ पुरुष तुम्हारा आदर नहीं करता है ज्ञानी निन्दा नहीं करता है इसलिए वह तुझे सन्तोष देंगे अर्थात् सन्तुष्ट करेंगे यों वरुणने हिरण्याक्षको कहा. दूसरे जो अनात्मा(निर्बल) है वे तुमको आदर नहीं देंगे इस विषयमें मेरा ज्ञान प्रमाण है अपना वह ज्ञान प्रकट करते हैं. पुरातन पुरुषसे कोई अन्य ऐसा नहीं दीखता है यह पृथक् वाक्य कहनेका आशय ज्ञान बतानेकेलिए है. नहीं तो इस तरह(तरीके)से नहीं कहे, पुरुष ही पराक्रमयुक्त होता है, पुरुष (भगवान्)के सिवाय अन्य सर्व प्राकृत शरीरसे सम्बन्धवाले होनेसे स्त्रियां हैं अतः वे पौरुषहीन हैं, वे ही पुरुष निश्चयसे दीखते हैं. पुरुषको 'पुरातनात्' विशेषण देकर यह सिद्ध किया है कि उनमें सबसे अधिक बल है कारणकि कालसे बलकी कमी होती है परन्तु ये पुरातन होते हुए भी वैसे पौरुषयुक्त हैं काल भी इनके बलमें कमी नहीं कर सकता है, अतः जो युद्धमें तुझे सन्तोष देगा वह यही है. सन्तोष तब होता है जब अपने ज्ञानसे उसमें विशेष ज्ञान हो, इसलिए उसका ज्ञान कहते हैं

'रणमार्गकोविदं', लडाईके जो परम्परा सिद्ध प्रकार(तरीके) हैं उनमें निपुण, 'असुरर्षभेहितं' पदके पृथक्-पृथक् अर्थकर उनके आशय प्रकट करते हैं. १.'असुरर्षभेहितम्' इस पदमें 'असुरर्षभ' सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि तुम असुरोंमें श्रेष्ठ हो इस कारणसे भगवान् आत्मा होते हुए भी तुम्हे मारेंगे क्योंकि 'आ-ईहितम्' इन चारों तरफकी जिनमें पूर्ण ज्ञान-क्रिया है, वे भी सर्व प्रकारकी युद्धकला कुशल हैं, २.उत्तम असुरोंके वधमें जिनकी इच्छा है वैसा तू है अतः तुमसे युद्धकर तुम्हारा वध करेंगे कारणकि तुम्हारे वधसे सकल असुर ही नष्ट हुए जाना जायेगा. अथवा 'असुरर्षभे' 'हिरण्यकशिपौ अहितं', तुम्हारे मारनेसे तुम्हारे भ्राता हिरण्यकशिपुका भी अहित होगा, उसका यों करनेमें प्रमाण क्या? ''मनस्वीनो यं गृणत'' प्रमाण यह है कि दृढ मनवाले मनस्वी शूरवीर उनसे (भगवान्से) युद्धमें पराजित होकर भी उनकी प्रशंसा करते हैं, यह वचन प्रोत्साहन देनेकेलिए कहा है, बडेसे ही युद्ध करना चाहिये. 'भवादृशा' विशेषणसे यह सूचित किया है कि तुम सरीखे ही बडेसे युद्ध करना चाहते हैं- इस कथनसे उसकी स्तुति भी की है ।।३०।।

आभास : युद्धके लिए इस तरह आपके योग्य प्रतिद्वन्दी भगवान् ही हैं यों निरूपण कर उनकी प्राप्तिका प्रकार(तरीका) इस श्लोकमें कहते हैं:

तं वीरम् आराद् अभिपद्य निर्भयः शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद् विधानाम् असतां प्रशान्तये रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ।।३१।।

श्लोकार्थ : जो वीर तेरे समान असत् पुरुषोंको नाश करनेकेलिए तथा सत्पुरुषों पर अनुग्रह करनेकी इच्छासे अवतार धारण करते हैं, वे वीर थोडो ही समयमें तुमको मिल जाएंगे उनके द्वारा तुम कुत्तोंसे घिरी हुई वीर शय्या पर सो जावोगे, जिससे तुम्हारी यह शेखी पूरी(खतम) हो जाएगी।।३१।।

व्याख्यार्थ : वह भगवान् भी वीर हैं, जिससे युद्धको चाहते हैं, इसलिए ही तुम्हें शाप मिला है कालका विलम्ब भी नहीं है, निकट अर्थात् थोडे ही समयमें उनको तुम प्राप्त करोगे और ज्यों पतंग आगमें स्वयं गिरता है वैसे तुम भी वीराग्निमें स्वयं गिरोगे, तो भी तुम निर्भय बने रहोगे अर्थात् तुम्हें मृत्युका भय न होगा, क्योंकि जिसका भगवान्से सम्बन्ध होता है उसको मृत्यु नहीं ग्रस सकती है, इसलिए मृत्यु भय तुम्हें नहीं होगा. 'विस्मय' पाठ हो तो अर्थ होगा, तुम गर्वरहित बन जावोगे[1] दोनों वीरोंकी लडाईमें विजय किसकी होगी? जिसके

उत्तरमें कहते हैं कि ''त्वमेव वीरशये शयिष्यसे' तुम ही रणांगणमें वीरशय्या पर शयन करोगे भगवान् तो जीतकर भी निर्भय रहते हैं, रणके मैदानमें भी शयन सुखसे होगा, वहां शयन सुखपूर्वक न होगा यों जतानेकेलिए कहा है कि 'श्वभिर्वृतः', कुत्तोंसे घिरे हुए होंगे मरे हुएको कुत्ते घेर लेते हैं. जबकि युद्ध मात्र मांगा है तब इच्छा पूरक प्रभु इस प्रकार कैसे मारेंगे? ऐसी शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि, यद्यपि तुम्हारी इच्छा केवल युद्ध करनेकी ही है, किन्तु देवताओंकी इच्छा थी कि तुम मारे जावो, इस कारणसे तुम्हें मारेंगे, क्योंकि दुष्टोंको शान्त करनेकेलिए भगवान् अनेक प्रकारके वराह आदि रूपोंको धारण करते हैं, यों न करें तो अवतार धारणका कोई प्रयोजन ही नहीं रहे. भगवान् सबकी आत्मा होकर मारनेकेलिए कहते है. 'सदनुग्रहेच्छया', वह सत्पुरुषों पर अनुग्रह करनेकी इच्छासे ही रूप ग्रहण करते हैं, धर्मकी रक्षाके वास्ते ही ऐसी प्रवृत्ति है, दुष्टोंका नाश तो इससे सम्बन्धित होनेसे अवश्य करना ही पडता है, अतः यह आनुषंगिक कार्य है, इससे यह सूचित किया है कि तुमको फिर युद्धकी कामना न रहेगी, नहीं तो फिर कालान्तरमें यदि ऐसी स्थिति बने तो उसका समाधान(शान्ति) कौन करे? यह भाव है ।।३१।।

१.गर्व तब तक रहेगा जब तक भगवान् नही मिले हैं उनके मिलने से तुम्हारा गर्व मिट जायेगा.

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके १७ वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय १८

हिरण्याक्षके साथ वराह भगवान्‌का युद्ध

अष्टादशे स्थितिस्तस्य भगवत्सन्निधौ स्फुटा।।
निरूप्यते तथा शापात् पारुष्यं विजयस्ततः ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : १८वें अध्यायमें उसकी स्थिति भगवान्‌के समीप स्पष्ट कहनेमें आती है, तथा शापार्थ अथवा शापके कारण निन्दा वचन और अनन्तर विजयका निरूपण है।।१।।

स्थित्यध्यायोऽयम् आख्यातो ब्रह्मणा तत् स्थिरीकृतम्।
उत्पत्तावेव शापो हि मारणं ब्रह्मवाक्यतः।।कारि.२।।

कारिकार्थ : इस अध्यायको स्थिति अध्याय माना गया है, जिसको ब्रह्माने पुष्ट किया है, कारणकि उत्पत्तिमें ही शाप मिला है, मारना तो ब्रह्माके वचनसे होगा।।२।।

युद्धमात्रे हरीच्छा हि कायवाङ्मनसा तु सा।
उभयोरुद्यमोक्त्यैव युद्धं मानसम् ईरितम्।।कारि.३।।

कारिकार्थ : हरिकी इच्छा केवल युद्ध करनेकी थी अतः वह काया, वाणी और मनसे हुआ जिसका कारण यह था कि दोनोंका उद्यम युद्ध करनेका था।।३।।

कायिकं चाऽग्रिमाध्याये मध्यमं मध्यमे मतम् ।
अतो विरोधवाक्यानाम् उभयेषां न दूषणम् ।।कारि.४।।

कारिकार्थ : जो युद्ध कायासे करनेका है उसका वर्णन आगामी अध्यायमें किया जायेगा, मध्यमें वाणीको युद्ध माना गया है, दोनोंके विरोध वचन दूषणरूप नहीं हैं अतः यह वाणीरूप युद्धकी भी स्थितिमें गणना है।।४।।

प्रसङ्गो दर्शनं वाक्यं त्रिभिर्भक्तानुरोधनम् ।
पुनराक्षेपवाक्यं च शरव्यकरणं तथा ।।कारि.५।।
वाक्योपक्रमणं वाक्यं त्रिभिर्मानस्तथोद्यमः ।
युद्धं षड्भिर्भगवत्वाद् ब्रह्मप्रार्थनमन्ततः।।कारि.६।।

कारिकार्थ : पहले श्लोकमें प्रसंग, दूसरे श्लोकमें दर्शन, ३,४,५वेमें वाक्य(वचन), ६,७,८वेंमें भक्तकी शान्ति, फिर तिरस्कार समान वाक्य लक्ष्य

बनाने तथा उत्तर देनेका प्रारम्भ ९वें श्लोकमें, पुनः १०,११,१२वेंमें मद उत्पन्न कराना, १३वेंमें उद्यम, भगवद्रूप होनेसे युद्ध भी १४वेंसे १९वें श्लोकों तक कहा है अन्तमें २०वेंसे २८वें श्लोकों तक ब्रह्माकी प्रार्थनाका वर्णन है।।५-६।।

उभयोर्वचनं षड्भिः युद्धं चैव तथोभयोः.
स्थितिरेषा तस्य हरौ तत्पोषकम् इहाऽपरम् ।।कारि.७।।

कारिकार्थ : दोनोंके वचन छः श्लोकोंसे, वर्णन एवं दोनोंका युद्ध भी छः श्लोकोंसे वर्णन किया है यह इसकी स्थिति हरिमें है और अन्य उस स्थितिमें पोषक है।।७।।

आभास : पहले युद्धका उनका प्रसंग निम्न श्लोकमें कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच

तदैवम् आकर्ण्य जलेशभाषितं महामनास्तद् विगणय्य दुर्मदः।
हरेर्विदित्वा गतिम् अङ्ग नारदाद् रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ।।१।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजीने कहा कि तब वरुणने हिरण्याक्षको कहा कि तू हरिके हाथसे मारा जाएगा. वरुणके इन वचनोंकी उस मनस्वी महाभिमानीने कुछ भी परवाह नहीं की वह तुरन्त नारदजीसे हरिका पता लगाकर रसातल पहुंचा ।।१।।

व्याख्यार्थ : 'जलेश' अर्थात् वरुणने तब इस तरह कहा कि तू हरिके हाथसे मरेगा उसका वचन सुन उत्साहित हो गया. यद्यपि उसने अपना मरना तो सुना तो भी उसकी परवाह न कर उत्साह युक्त हो गया क्योंकि उसको जो मद (अभिमान) था वह दुष्ट(तामस) मद था, तामस मदवाला इससे अपना अनिष्ट होगा यह नहीं समझ सकता है, भगवान् अब कहां विराजते हैं जिसको भक्त ही जानते हैं अतः नारदजीसे भगवान्का पता लगाया. नारदजी भगवान्के कार्य सिद्ध करनेवाले होनेसे वह भी आ गये जिससे समागम हो गया नारदजीसे हरिके निवास स्थलका ज्ञान प्राप्तकर युद्धासक्त वह चट(तुरन्त) रसातलमें पहुंचा ।।१।।

आभास : अनन्तर हिरण्याक्षको भगवान्के दर्शन हुए यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

ददर्श तत्राऽभिजितं धराधरं प्रोन्नीयमानावनिम् अग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णन्तम् अक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया जहास चाऽहो वनगोचरो मृगः ।।२।।

श्लोकार्थ : वहां उसने सर्वत्र जय प्राप्त किये हुए वराह भगवान्को अपनी

दाढोंकी नोकपर पृथ्वीको उठाकर ऊपर लाते हुए देखा लाल रंगवाले नेत्रसे अपनी कान्तिको हरनेवाले भगवान्के जब उसको दर्शन हुए तब वह हंसने लगा एवं उपहास करते हुए कहने लगा यह जंगली पशु यहां कैसे आया।।२।।

व्याख्यार्थ : जैसे दूसरोंको देखनेसे उसका तिरस्कार उत्पन्न होता था वैसे भगवान्के दर्शनसे तिरस्कार उत्पन्न नहीं हुआ यों बतानेकेलिए भगवान्की प्रशंसा करते हैं. रसातलमें सबसे सर्व प्रकार जिसने जय प्राप्त की है. धरा(भूमि)को धारण किया है, भूमिको ऊपर उठा रक्खा है और उसके तेजको हर रहे हैं, इस तरह भगवान्के चार गुण कहे हैं ।।२।।

पराक्रमस्तथा कार्यम् इति शूरत्वबोधनम्।
शत्रोः पराजयश्चेति सहजं तच्चतुष्टयम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ : पराक्रम, कार्य, शूरवीरता दिखाना, शत्रुका पराजय, ये चार गुण तो भगवान्में स्वाभाविक(कुदरती) हैं सर्वत्र जिनकी जीत है ऐसे प्रभु हैं जिनका स्वरूप दर्शनसे ही जाननेमें आता है कि इनकी चारों तरफ जय है, पृथ्वीको जिन्होंने धारण किया है अथवा जिनका अधर भूमिमें है ऐसे ये धराधर हैं इस कारणसे जिनका अधर देखनेमें नहीं आता है जिससे भगवद्दर्शन होनेपर भी अपनेमें तथा भगवान्में हिरण्याक्षको लाभ न हुआ. 'अग्रदंष्ट्रा' अर्थात् दाढकी नोकको अग्रदंष्ट्रा कहा जाता है. पहले १३वें अध्यायमें वर्णन किया है, 'उस दाढकी नोकसे ऊपर पकड रक्खी है पृथ्वी जिसने', ऐसे प्रभुके दर्शन हिरण्याक्षको हुए इससे यह सूचित किया है कि हिरण्याक्षका शत्रु अपने कार्यमें आसक्त है, और हिरण्याक्षके तेजको अपने लाल नेत्रोंसे हरण कर रहे थे दैत्यका रंग सुवर्णके समान था और काय सिक्त भगवान्के नेत्र भी अरुण(लाल) वर्ण थे, क्योंकि उस समय भगवान्ने रजोगुण प्रकट किया था, इससे यह जताया है कि भगवान्के आगे वह अपनेको तथा भगवान्को देख नहीं सकता यों जानकर भी भगवान्को आगे लीला करनेकी इच्छा प्राधान्य(मुख्य) है, अतः भगवान्को देखने लगा एवं उपहास करने लगा. 'च' पदसे आगेके वचनोंका भी समावेश किया. अर्थात् उनको भी ग्रहण किया है उनको कहता है, 'अहो वनचरो मृगः' यो कहना हास्यरूप (मजाक) है अहोका अर्थ है आश्चर्य, अर्थात् अचम्भे जैसी बात है जो वनमें फिरनेवाला वह वनसे बाहरकी पृथ्वी पर फिर रहा है, इससे जाना जाता है कि यह मृग अन्य प्रकारका है जो वनमें तथा जलमें दोनोंमें फिरता रहता है. मैं यहां

आया कि भगवान्से मिलूंगा परन्तु यह तो वनचारी मृग निकल पडा(इस तरह दुष्ट मदवालेने भगवान्की मजाक उडाई)।।१।।

आभास : कैसा भी रूप हो युद्ध तो करना ही है इस अभिप्रायसे कहते हैं :

आह एनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो रसौकसां विश्वसृजेयम् अर्पिता ।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः सुराधम् आसादितसूकराकृते ।।३।।

श्लोकार्थ : हे मूर्ख ! यहां इस पृथ्वीको छोड दे यह पृथ्वी ब्रह्माने हम रसातल वासियोंको अर्पण कर दी है. हे सूकररूपधारी सुराधम ! मेरे देखते हुए तू इसको लेकर सुखपूर्वक नहीं जा सकता है।।३।।

व्याख्यार्थ : 'एनं' इसको अर्थात् वराह भगवान्को यों कहा कि, हे भगवान्! आओ, कदाचित् भगवान् अपनेको(हिरण्याक्षको) न पहचानते हों इसलिए इस प्रकार सम्बोधन दिया है. आपको युद्धकेलिए बुलाता हूं यदि यों कहो कि अभी तो मैं दूसरे काममें लगा हूं जिससे आ नहीं सकता तो इस पर कहते हैं कि 'महीं विमुञ्च' जिस काम(पृथ्वीको उठाकर ले जाने)में लगे हो उस कामको(पृथ्वीको) छोड दो, यदि कहो कि आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्णकर फिर दूसरा करना चाहिए तो आपका प्रारम्भ किया हुआ कार्य अनुचित हैं, उसका त्याग करना ही उचित है क्योंकि, यह भूमि ब्रह्माने हम रसातल वासियोंको अर्पण कर दी है अतः यह भूमि हम लोगोंकी है, इसलिए दूसरेकी पृथ्वी नहीं ले जानी चाहिए. यदि कहो कि क्षत्रियोंका यह धर्म है कि दूसरेकी पृथ्वीको अपने अधिकारमें कर लेनी, तो भी यों बिना युद्ध किये न ले जानी चाहिए इसलिए दोनों तरहसे भी आपको यह छोड देनी चाहिए, यह हम लोगोंकी है, और इसकी रक्षा आदिकी चिन्ता भी आपको नहीं करनी चाहिए, कारणकि वस्तुका स्वामी विद्यमान(मौजुद) होनेपर दूसरेको चिन्ता करनी उचित नहीं, जैसे ब्रह्माने शरीर दिया है वैसे ये भूमि भी दी है अतः इसकी प्राप्ति शरीरकी तरह न्याय संगत है, तो भी यदि आप इस(भूमि)को नहीं छोडोगे तो मेरे देखते हुए इसको ले जाना आपकेलिए हितकारी नहीं है, ये दो सम्बोधन अपमानकारक इसलिए कहे हैं कि इस(वराह)को क्रोध उत्पन्न हो, जिसका आकार बडा सुन्दर है ऐसे देव भी मेरे विरोध करनेपर कार्य नहीं कर सकते हैं, रूपसे ही महत्ता व अमहत्ताका ज्ञान होता है, तुम तो सूकर जैसी आकृतिवाले हो, यह पहले सम्बोधनका कारण है ।।३।।

आभास : यदि भगवान् कहे कि मैं देवोंकी प्रेरणासे आया हूं तो इस पर यह श्लोक कहते हैं:

त्वं नः सपत्नैर् अभवाय किं भृतो यो मायया हंस्यसुरान् परोक्षजित्।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः।।४।।

श्लोकार्थ : क्या तू मायासे छिप-छिपकर ही जीतता है और मारता है क्या हमारे शत्रु देवोंने हमारा नाश करानेकेलिए तुझे पाला है ? तेरी शक्ति तो योगमाया है यों तो तू अल्प पौरुषवाला है आज तुझे ठिकाने लगाकर अर्थात् तुझे समाप्त कर अपने बान्धवोंका शोक मिटाउंगा।।४।।

व्याख्यार्थ : हम लोगोंके शत्रु देवोंने क्या तेरी पालना (तेरा) नाश करनेकेलिए की है? यह प्रश्न अपमानजनक है. यह कार्य तो बडे-बडे देवोंसे भी होनेवाला नहीं है वह तुझसे कैसे सिद्ध होगा? अतः जो कार्य न बन सके उस कार्यमें तुम्हें लगानेवाले देव तुम्हारे शत्रु ही हैं, यदि कहो कि मैं विष्णु स्वतन्त्र तुम्हारा शत्रु हूं तुम देव प्रेरित कैसे कहते हो? इस पर हिरण्याक्ष कहता है कि, ''यो माययाहंसीति'' यह सत्य है कि तुम विष्णु ही हो, किञ्च तुम माया(कपट)से ही असुरोंका नाश करते हो इससे ही तुम्हारी पहचान हो जाती है, ''मायैव करणम्'' माया ही साधन है, ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**'' इस वाक्यानुसार एवं ''**मायेत्यसुराः**'' इस श्रुति अनुसार और असुरोंको मोक्ष प्राप्ति न हो तदर्थ यों करते हो. अथवा अनिष्ट (दुःख)की निवृत्तिकेलिए माायासे ही मारते हो, इस तरह कपटसे युद्ध करनेमें वीरता नहीं है. उसको कहता है कि 'परोक्षजित्' छुपकर जीतनेवाले ही परोक्षमें आकर जीतको प्राप्त करते हो अतः प्रत्यक्षमें युद्ध नहीं करना चाहिए, तो पृथ्वीको छोडकर चले जावो, यों उपदेश दिया है यदि यों कहो कि यों नहीं कर सकूंगा तो इस पर कहता है कि 'त्वां योगमाया बलम्' तुमको अपना स्वाभाविक बल नहीं है किन्तु योगमायाका बल है, वह योगमाया तो हम असुरोंकी है इसलिए हम लोगोंके स्थान पर उसका बल नहीं चलेगा व प्रकट न करेगी, जिससे आपका पौरुष अल्प ही रहेगा. जिससे तुम्हारा पूर्णतः नाशकर जिनको तुमने मारा है उन मित्रोंका शोक मिटाउंगा. और उनके ऋणसे उऋण होऊंगा(छूटूंगा) तुमने जिन असुरोंको मारा है उनका मैं सम्बन्धी हूं. आप ऐसा जानते नहीं तभी तुमको हे अज्ञ!(मूढ) सम्बोधन दिया है ।।४।।

आभास : देवोंके होते दैत्योंका शोकका अभाव कैसे होगा. इस पर

कहते हैं :

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्षयस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम् ।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ।।५।।

श्लोकार्थ : जब मेरे हाथसे छूटी हुई गदाके प्रहारसे तेरा सिर फूटेगा जिससे तेरा मरण होगा तब वे ऋषि और देवता जो तुझे बलि देते हैं वे सब न रहेंगे जैसे मूल कट जानेपर वृक्ष नहीं रहते हैं।।५।।

व्याख्यार्थ : हमारे हाथसे गिरी हुई गदासे जब शस्त्रसे अभेद्य शरीरमें व्यथा होगी तब उस व्यथासे तेरा नाश होगा, क्योंकि मेरे हाथसे गिरनेके कारण उसमें मेरे बलका संचार होगा जिस कारणसे जो ऋषि और देव तथा जो अन्य स्वतन्त्र अभिमानी तुझे बलि देते हैं वे न रहेंगे बिना मारे स्वतः मर जायेंगे फिर उनका उद्भव(उत्पत्ति) न होगा क्योंकि उनकी जड तूं ही जो न होगा तो शाखापत्र कैसे रहेंगी ।।५।।

आभास : दुष्ट वचनोंको भी भगवान्ने भक्तोंके हितार्थ अंगीकार किया जिसका वर्णन इस श्लोकमें मैत्रेयजी करते हैं :

मैत्रेयः उवाच

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्तितोमरैः दंष्ट्राग्रगां गाम् उपलभ्य भीताम् ।
तोदं मृषन्निरगाद् अम्बुमध्याद् ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः ।।६।।

श्लोकार्थ : भगवान् हिरण्याक्षके दुर्वचनरूपी बाणोंसे छेदे जानेके कारण दांतकी नोकपर स्थित भूमिको डरा हुवा देख उस चोटको सहकर जलसे उसी तरह बाहर निकल आये जैसे ग्राहकी चोटसे हस्ती अपनी हथिनी सहित जलसे बाहर आ जाता है।।६।।

व्याख्यार्थ : 'अरि'(शत्रु) हिरण्याक्ष है जिसके दुर्वचन अंकुश थे जिन अंकुशोसे हस्ती पीडित किया जाता है इसी तरह ये दुर्वचन भी अंकुशके समान पीडा करनेवाले थे उनसे पीडित होते हुए भी पृथ्वीको भयभीत पाकर जलके मध्यसे यों बाहर निकल आये, निकलना उचित नहीं था तो भी निकल आये जिसकेलिए दृष्टान्त देते हैं कि ग्राहसे पीडित हस्ती जैसे हस्तिनी सहित निकल आते हैं यहां भगवान्ने जो युद्धलीला की वह कही जाती है, लडाईका होना शत्रुओमें ही सम्भव है अतः गदाके प्रहारोंकी तरह दुर्वचन कहने भी उपयुक्त ही हैं, यदि दुर्वचनोंका अन्य प्रकारसे भावार्थ समझाया जावे तो लडाई भी

प्रकारान्तरसे समझाई जायेगी यदि वह(युद्ध) नटकी तरहका है यों समझा जावे तो वचनोंका अर्थ वैसा करना होगा तो भी इस प्रकारका व्याख्यान सुनना कटु जचेगा अतः वचनोंकी व्याख्या अन्य प्रकार की जाती है ऐसा व्याख्यान वास्तवमें भागवतका अर्थ न होगा, वास्तविक विचार किया जावे तो हिरण्याक्ष भक्त है और सरस्वती(वाणी) भी भक्त है अतः हिरण्याक्षके कहे हुए वचन भगवत्स्तुति पर ही है इस प्रकारकी व्याख्या की जाती है.

(२) श्लोकमें कहे हुए 'अहो' पदसे हिरण्याक्ष अपने भाग्यका अभिनन्दन(प्रशंसा) करता है, और उसने 'वनगोचर' पदसे वराहका वास्तविक स्वरूप वर्णन किया जो तत्त्व उपनिषदोंसे जाना जा सकता है. अधिकारियोंको जो वेदान्तसे जाननेमें आता है वह परतत्त्व हम लोगोंको अब यहां ढूंढ रहा है यह आश्चर्य है –

(३) श्लोकमें कहते हैं हे भगवन् यहां पधारिये. पधारकर हमारा उद्धार कीजिये यदि कहो कि भूमिको(पर) मेरा इसलिए आना पसन्द नहीं तो इस पर कहता है कि 'अज्ञमहीं विमुञ्च' यह पृथ्वी मूर्ख है इसकी बात ध्यानमें न लाइये क्योंकि मूर्ख होनेसे मेरे दुःखको नहीं जानती है जो भक्त होता है वह दूसरेके दुःखको जानता है. इसलिए इसको छोड दीजिये. यदि कहो कि किस वास्ते छोडूं? इस पर कहता है कि 'नो रसौकसामर्थे' हम रसिक भक्तोंके हित करनेकेलिए इस आज्ञा भूमिको त्याग दो. पहले हम रसिक भक्तोंका कल्याण कीजिये यदि आपका उद्धार करे तो पृथ्वीकी कैसी गति(स्थिति) बनेगी? इस पर कहता है कि 'विश्वसृजेयमर्पितेति' यह भूमि स्वभावसे आपके इस स्थानपर नहीं आई है किन्तु ब्रह्माने अर्पण की है, अतः ब्रह्माको लौटा दीजिये वह(ब्रह्मा) उसका उद्धार स्वतः कर देगा हमारा तो आपके सिवाय कोई आश्रय नहीं है इसका तो आश्रय ब्रह्मा है ही इसलिए यह विशेष है इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये किञ्च यदि हमारा उद्धार किये बिना इसके साथ जाओगे तो परम दयालु आपको सुख प्राप्ति नहीं होगी यों ''न स्वस्ति यास्यसि'' पदसे कहा है, मेरा उद्धारकर यदि आप यों ही मेरे देखते हुए इस(पृथ्वी स्त्री)के साथ जीओगे तो सुख न पाओगे दयालु होते हुए भी भक्तका उद्धार न कर कोई भी स्त्रीसे सुख नहीं पाता है. मैं तो तुम्हारा उद्धार कर दूं परन्तु देव उद्धारको मानेगे नहीं, इस पर कहता है कि 'सुराधम' देव तो आपसे अधम है वे नीच है उनकी सम्पत्तिकी कौनसी

आवश्यकता है यदि कहो कि भूमिका उद्धार करनेसे मैं थक गया हूं अतः दूसरारूप लेकर तेरा उद्धार करूंगा जिसके उत्तरमें कहता है कि ''असादित सूकराकृते'' जो आकृति दुःख नहीं देती है ऐसी यह सूकराकृति आपने धारण की है, उसका उद्धार करते हुए भी आप थक नहीं गये हो अतः भूमिके उद्धारको छोडके पहले मेरा उद्धार करो. यदि कहो कि देवोंने भूमिके उद्धारकेलिए मेरी प्रार्थना की है कारणकि वे भूमि पर रह मेरी आराधना कर मुक्त होंगे अतः बहुतोंका उपकार होनेसे पहले भूमिका उद्धार करना चाहिये.

(४) श्लोकमें इसका उत्तर देता है कि ''त्वं नः सपत्नैः'' हमारे शत्रु सनकादि एवं उनके सहित देवोंको क्या भूमि पर भजन करनेसे मोक्ष होगा इसकेलिए आपको धारण किया है(खरीद कर रखा है) वह(मोक्ष) तो उनको नहीं मिलेगा, कारणकि भक्तका द्रोह होनेपर कैसे होगा? वे तो हमारे शत्रु हैं. यदि कहो कि मैं भी आपका शत्रु हूं इसका उत्तर देते हैं कि आप हमारे वास्तविक शत्रु नहीं हैं क्योंकि आप लोकोको मोह उत्पन्न कर रहे हैं हम लोगोंको मारना खाली दिखावा है वास्तवमें हमारा उद्धार करते हैं अर्थात् सायुज्य मुक्ति देते हैं कारणकि वे 'असुर' है जिसका अर्थ है अभूत–शान्ति प्राणोंकी ध्वनि सुनते है अतः योगी हैं अथवा प्राणोंकी स्तुति करते हैं. असत्य प्राणोंकी उपासना करनेवाले मरते नहीं ''मृत्युमत्यमुच्यते'' इस श्रुतिके अनुसार मृत्युको जीत लेते हैं. किञ्च आप 'परोक्षजित्' अर्थात् जिनके इन्द्रियां हैं उनको ही जितते हैं. तात्पर्य यह है कि जो विषयी हैं उनको ही मारते हैं व असुरोंको केवल लक्ष्यकर जय प्राप्त करते हैं. लोक यो समझते हैं व कहते हैं कि असुरोंको भगवान्ने जीता किन्तु वास्तवमें भगवान् तो उनके आधीन होते हैं जैसे कि बलिके द्वारपाल बन गये, तब तू यहां किसलिए आया है? और यहां क्या करता है? जिसके उत्तरमें कहता है कि आपको यहां स्थापितकर मित्रोंके शोकको मिटाऊंगा. तो आनेसे क्या लाभ? योग द्वारा व शास्त्रीयकर्म द्वारा अच्छे प्रकारसे स्थापना करो इसका उत्तर देता है कि 'योगमायाबलं' योगमायाको भी शक्ति जिससे मिलती है वह आप हैं ''ज्ञानिनामपि चेतांसि'' वाक्यके अनुसार आगे और ज्ञानसे भी योगमाया शक्तिशाली है उसमें जो शक्ति है वह भी आपसे आई है अर्थात् आपने उसको ऐसी शक्ति दी है, ऐसे आपको योगादिसे कैसे वश किया जा सकता है? यदि मुझे यों वश करनेमें तुम्हे शंका है तो पुरुषरूपका हृदयमें चिन्तन करो. द्वितीय स्कन्धके

२ अध्यायके श्लोक ''एवं पुरा धारणया'' ऐसी आज्ञा है, इस पर कहता है 'अल्प पौरुषं' वह पुरुष अल्प पौरुषवाला है. आप तो करोड ब्रह्माण्ड जिसकी देह है ऐसे पौरुषवाले हैं, इस कारणसे आपको ही यहां स्थापितकर कुटुम्ब सहित कृतार्थ होऊंगा. तुझे ज्ञान है ही नहीं, फिर मुक्त कैसे होगा? इस पर कहता है 'मूढप्र' मूढोंमें भी आपका प्रकर्ष है, जिसका कारण है कि आप मूढोंका भी उद्धार करनेवाले हैं अतः भक्तिमार्गमें ज्ञानकी आवश्यकता नहीं. श्लोक ५में केवल मैं ही कुटुम्बके साथ मुक्त हो जाउंगा यों नहीं है किन्तु यों करनेसे सकल भक्तोंको विश्वास उत्पन्न होगा जिससे वे भी कृतार्थ होवेंगे इसलिए कहते हैं 'त्वयि संस्थिस्ते' यद्यपि हम लोगोकेलिए आपकी यहां सुन्दर स्थिति होगी, भुजासे गिरी हुई गदा द्वारा मस्तक फूटने पर भी और जो ऋषि तथा देव आपको बलि देते हैं. एवं 'च' पदसे भक्त भी ये सब निर्मूल नहीं होंगे किन्तु सब ही मूलसहित बने रहेंगे. जब भगवान् हृदयमें स्थित होते हैं अर्थात् विराजते हैं तब 'गदा' सुषुम्णा नाडी बन जाती है, क्योंकि 'मुक्तिकेलिए जो गति दे 'वह गदा कही जाती है. सुषुम्णा नाडी मुक्तिकेलिए गति देती है. कैसे देती है? क्रिया शक्तियोंको अशक्तकर ब्रह्म रन्ध्रको भेदकर प्राणादिका उस मार्गसे जाने पर भगवान्से मिलाप होता है जिससे सब सायुज्यको प्राप्त होके समूल ही बने रहेंगे. यो तात्पर्य है. इस तरह अन्य शब्दोंकी भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिए. श्लोक ६में भक्तोंके कारण भगवान् दुःखी दैत्योंके साथी बन गये हैं दुष्ट उक्तियां ही जिनके शत्रु आदि हैं, अर्थात् उनके वचन कभी भी दूसरोंको दुःखदायी नहीं होते हैं, उनकेलिए ही भगवान् हिरण्याक्षके साथी बन गये हैं, अतः भूमिको भय लगा है कि भगवान् मुझे भूल जायेंगे. जिस दाढ पर स्थित हूं वह यमरूप है, मैं उसकी नोकपर स्थित हूं, भगवान्की दृष्टिके कारण यम ग्रसता नहीं. यदि भगवान्की दृष्टि न पडेगी तो यम मुझे ग्रस जायेगा यह दैत्यभाव ही पीडाकारक था, इसको भगवान् वास्तवमें सहन नहीं करते हैं, उनके इस प्रकारका भाव मिटानेकेलिए यदि भगवान् अपनी दृष्टि उनपर फैलावे तो पृथ्वीको भय होगा, इसलिए उनकी पीडाको सहन करते हुए ही जलसे बाहर निकल आये, बाहर क्यों निकले? जलमें ही उनको संस्कृत(शुद्ध) करना चाहिये था, इस शंकाको दृष्टान्त द्वारा मिटाते है. 'ग्राहेणाहतः', जैसे हस्तिनीके साथ महान् गज ग्राहसे पीडित होनेसे बाहर निकल आता है वैसे यह भी बाहर निकल आये. गज(हस्ती) तो कालके अधीन है इसलिए ग्राह उसका

बाधक हो सकता है यदि बे बाधक न होते तो वहां ही हस्तिनी सहित प्रसन्न रह आनन्द करता रहता था. भगवान्को तो दैत्य बाधक नहीं था किन्तु सुखसे क्रिया सिद्ध हो इसलिए सेवक स्त्री सहित बाहर पधारे हैं ।।६।।

आभास : इस तरह दोनोंके साथ रहे हुए भगवान्का चरित्र भी दोनोंका हितकारी हुआ यों निम्न श्लोकमें कहते हैं .

तं निःसरन्तं सलिलादनु द्रुतो हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवीद् गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम् ।।७।।

श्लोकार्थ : जलसे जब बाहर आने लगे तब ग्राह जैसे हस्तीके पीछे पडता है वैसे पीले केश तथा तीखी दाढोंवाला वह हिरण्याक्ष उनके पीछे पडा और वज्र सम कर्कश वचनोंसे कहने लगा कि, तुझे भाग जानेमें लज्जा नहीं आती है यह सत्य हैं कि कौनसा काम है जिसके करनेमें असत् पुरुष पीछे रहता है।।७।।

व्याख्यार्थ : पहले हिरण्याक्षका कृतार्थपना बताते हैं. जलसे निकलते हुए भगवान्के पीछे इसलिए दौडने लगा कि भगवान्से मेरा सायुज्य ऐसे हो जैसे नमकके कणका जलमें होता है. 'अनुद्रुत', पीछे दोडा, इसका भाव है कि अपना कठिन भाव अर्थात् दैत्यभाव त्यागा, जैसे अग्निके पास घृत पिगल जाता है वैसे इसने भी अपने पहले कठिनरूपको त्याग दिया है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतीति हो रही थी तदनुसार भगवान्के साथ दौडता हुवा आ रहा था. यों साथमें दौडते हुवे आनेसे क्या हुआ? जिस पर कहते हैं 'हिरण्यकेशः', सूर्य मण्डलमें स्थित भगवत्स्वरूप हिरण्यकेशवाला होता है, इसका भी वैसा ही रूप हो गया अर्थात् 'हिरण्यकेश' हो गया. भगवान्के साथ केवल सन्निधिसे ऐसा दिव्यरूप कैसे हो गया? जिसके उत्तरमें कहते है कि जैसे 'हू-हू गन्धर्वः' गजेन्द्रके पीछे जाते हुए दिव्यरूपको प्राप्त हो गया. यह तो प्रासंगिक फल मिला यों कहा, उत्तम फल सायुज्यकी प्राप्ति आगे कहेंगे.

उसकी मृत्यु किस प्रकार हुई 'करालदंष्ट्रं करः अलं येषां' भगवान्का भी हस्त जिनके रक्षार्थ समर्थ है उन करोंसे ही दंष्ट्ररूप हो गया, अथवा सुदर्शनादि कठिन शस्त्रोंमें ही इसकी भी मृत्यु स्थित है. बाधक ग्रह कहां गये? इस पर कहते हैं कि 'अशनिनिः स्वतः इति', बिना शक्तिके शेष शुभ ग्रहोंसे ही जहां ध्वनि आ रही है, अर्थात् सब शुभ ग्रह ही इकठ्ठे हो पडे हैं कोई अशुभ ग्रह नहीं है, इस प्रकार ग्रहोंका दोष भी निवृत्त हो गया है. अतएव भगवान्को कहते हैं कि

'गतह्रियाम्'. 'ह्री' पदसे देह आदि अभिमानरूप सर्व ही धर्म कहे हैं. 'तु' पदसे उनके पहलेके धर्म नहीं रहे हैं यों सूचित किया है. इसी तरह निर्गुणमें विचरण करनेवाले मुक्तजीवोंको निन्दा योग्य क्या है? कुछ नहीं. उसमें 'असताम्, अः कृष्णः, तस्य सतां परम भक्तानाम्' अर्थात् कृष्ण भक्तोंका अर्थ है, यद्यपि वे निर्गुण हैं तो भी भक्त विरोधी पदार्थ(कार्य) करने चाहिये वा नहीं ऐसे संशय पर यह प्रश्न किया है? प्रतीयमान प्रत्यक्ष वा प्रसिद्ध अर्थके अनुसार शीघ्र ही भगवान्के पीछे दौडा. 'हिरण्यकेश' हो जानेसे उसमें यह सामर्थ्य है यह सूचित किया है, जो उसको गतिका प्रतिबन्धक भी हुआ, यों जतानेकेलिए दृष्टान्त कहा है जो युद्ध चाहता है उसको युद्ध न मिलने पर क्रोध कैसे व क्यों? इस पर कहते हैं 'कराल दंष्ट्रः', कराल दाढवाला स्वभावसे क्रोधी होता है, इससे यों कहा है कि मारनेकेलिए ही प्रवृत्त हुआ है. तो भी अपनी शूरवीरताके गर्वसे न मारकर, मेरा वचन ही वज्रके समान है इसलिए दुष्टवचनसे उसी तरह कहने लगा. 'अशनिनिःस्वनो अब्रवीत्', अशनिके अवाजवालेने यों कहा है. ''आहूतो न निवर्तेत'' इस शास्त्र वचनानुसार युद्धकेलिए बुलाये जानेपर भाग जाना शूरवीरोंको लज्जाजनक है. अतः जो अपना मुख्यधर्म(लज्जा)का त्यागकर केवल प्राणोंकी ही रक्षा करना चाहते हैं. क्या निन्दा करने योग्य हैं, यों कहकर उपहास किया है(मजाक उडाई है). असत् पदसे धर्मरहित होना भी कहा इससे अपनी निवृत्त्यर्थ भगवान्में युद्धकी अयोग्यता सिद्ध की है, किन्तु भगवान्ने समझा कि युद्ध करनेसे रुक जायेगा किन्तु न रुके. युद्ध करे इसलिए भगवान् श्लोक १२में अपमानकारक वचन कहेंगे ।।७।।

आभास: इस प्रकार कहे हुए भगवान्ने शीघ्र पृथ्वीके स्थापनका कार्य किया है जिसका वर्णन इस निम्न श्लोकमें करते हैं:

स गाम् उदस्तात् सलिलस्य गोचरे विन्यस्य तस्याम् अदधात् स्वसत्वम्।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनैः आपूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ।।८।।

श्लोकार्थ: भगवान्ने पृथ्वीको जलके ऊपर धर, उसको स्थिर रहने केलिए अपनी आधार शक्ति दे गोचर स्थानमें धरा. शत्रुके(हिरण्याक्षके) देखते हुए ब्रह्माने स्तुति की तथा देवोंने फूलोंकी वर्षा की।।८।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने पृथ्वीको निर्भय प्रदेशमें जहां गाएं चरती हैं वहां जलके ऊपर धर दिया अथवा गोचर स्थान वह है जिसको भगवान् वैकुण्ठमें बैठे

हुए देख सकते हैं, अथवा ज्योति मण्डल(तारा मण्डल)के मध्यमें धर दी, इसलिए वहां विशेष प्रकाश होता है ऐसे स्थान पर पृथ्वीको धरकर यों जताया है कि स्थानरक्षक देवोंमें स्थापनाकी तरह स्थापितकर उस पृथ्वीमें अपनी धारण शक्तिरूप बल स्थापित किया जिसमे वह स्थिर रहे, देवोंमें जो सत्त्व(बल) है वह भी भगवान्का है इसी कारणसे पृथ्वी पर प्रायः सर्वत्र भगवत्स्वरूप विराजते हैं जिससे भगवत्गुणगान भी होता है तथा भगवद्भक्त भी रहते हैं, अपने बलका तात्पर्य है शुद्ध सत्त्वगुण. वह गुण ही धारण करनेवाला तथा सामर्थ्यरूप है. यों करने पर देवोंको संतोष हुआ, इसलिए उन्होंने स्तोत्र और पुष्प वृष्टि की यों कहते हैं ब्रह्माने स्तुति की देवोंने पुष्प वर्षाएं, अथवा दोनोंने(ब्रह्मा तथा देवोंने) स्तुति भी की एवं पुष्पोंकी वर्षा भी की. हिरण्याक्षसे युद्ध न कर उसका तिरस्कार किया जिसके निराकरणकेलिए कहते हैं, 'अपश्यतोऽरेरिति', यदि शत्रुके देखते हुए उत्कर्ष(बडाई-प्रशंसा-इज्जत) मिले तो वह उत्कर्ष परम उत्कर्षका सम्पादन करता है, क्या देवोंने चारों तरफ स्तुति एवं पुष्प वृष्टि की? जिसके उत्तरमें ही कहा कि शत्रुके देखते हुए, शत्रुके सामने यों होना सर्वत्र होनेके समान है. यह स्तुति व पुष्पवर्षा, सकाम(फलकी इच्छासे) नहीं है और नित्यकर्म भी नहीं है अतः यह किसी निमित्तसे हुआ है, वे दो निमित्त हैं कौनसे दो हैं? वे बताते हैं पृथ्वीकी यहां स्थिति होनेसे सर्वत्र यज्ञ आदि कर्म होगें. वे सब देखे जाऐंगे, ऐसी कृपा भगवान्ने की है इसलिए स्तुति(स्तोत्र) की है. भगवान् यज्ञ आदि अपने स्वरूप देवोंको देखेंगे अतः इस स्तुतिसे प्रसन्न हो वैसे करेंगे. शत्रुकेलिए पुष्प वृष्टि की गई हैं क्योंकि देवोंको शत्रुका भय ज्यादा है और उसको मिटानेकेलिए पुष्पोंकी वृष्टि कर यह सूचित किया है कि हम देवोंकी समृद्धि आपकेलिए ही है यों जतानेकेलिए इस प्रकारकी क्रिया की है ।।८।।

आभास : भगवान् इस प्रकार भूमिको कृतार्थकर भक्त हिरण्याक्षके प्रश्नका उत्तर देनेका इस श्लोकसे आरम्भ करते हैं :

परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं महागदं काञ्चनचित्रदंशम्।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे ।।९।।

श्लोकार्थ : परब्रह्ममें आसक्त, तपयोग्य उत्तम साधनवाले, औषधवाले, अलौकिक विचित्र देशवाले, मर्मस्थलोंको पीडा करनेवाले उसको, दुष्ट वचनोंके कारण कुपित भगवान् विशेष हंसते हुए कहने लगे।।९।।

व्याख्यार्थ : यदि कोई शंका करे कि भगवान् उसको उत्तर क्यों देते हैं? इस पर कहते हैं कि (वह) परानुसक्त परब्रह्ममें आसक्त है. इससे समझा जाता है कि यह सत्पुरुषोंके मार्ग पर चलना चाहता है जो ऐसा है वह उपदेश(उत्तर) देने योग्य है. ब्रह्मा आसक्त होते हुए भी शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि (वह) मानेगा, क्योंकि उसकी देह इन्द्रिय आदि सकल पदार्थ परम तपसे सिद्ध(शुद्ध) हो गये हैं, जिसने तप नहीं किया है वह उपदेशका फल भोग नहीं सकता है. फिर यह महान् औषधवाला है महान् औषध, वह औषध सर्व रोगोंको मिटानेवाली है, इस कारण उसके सर्व प्रकारके रोग(दोष) मिट गये हैं, यों होते हुए भी कालादिसे उत्पन्न दोषोंके कारण भगवान्के वचन संपूर्ण रीतिसे कैसे मानेगा? इस शंकाको दूर करनेकेलिए कहते हैं कि 'काञ्चन चित्र दंशम्' अलौकिक भक्ति पर विचित्र दंशवाला है जिससे देहमें जो दोष हैं वे उसके मिट गये हैं, इसलिए भगवान्ने इसको ऐसा चिह्न किया है जिससे उत्तम भक्ति उत्पन्न होगी, मुनियोंका श्राप भी विचित्र चिह्न है जो देहके दोषोंको दूरकर स्वतन्त्रभक्ति स्थापित करता है. लोकमें सर्प दंशित(सांपसे डंसा हुआ) पुरुष दुःखी होता है, इसलिए अपने मर्म स्थलोंको अर्थात् अपने पापके छिद्रोंको बार-बार पीडा देता था. सारांश यह कि इन्द्रिय निग्रह करता था. अतः सकल साधनवाला होनेसे यह उपदेश देने योग्य "**ईश्वराद् ज्ञानम् अन्विच्छेत्**" ईश्वर(महादेव)से ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा करे इस वाक्यानुसार महादेव उसको उपदेश देंगे अपने उपदेश देनेसे क्या लाभ? इस शंका पर कहते हैं, महादेव गुरू हैं तो भी दुष्ट वचनोंके कारण वे क्रोधमें आ जाते हैं क्योंकि इसे जो नहीं कहने चाहिए ऐसे दुर्वचन कहे हैं, महादेवकी चण्डिका शक्ति बलवान है, वहां जाने पर वह(चण्डिका) मोह उत्पन्न करा देवे और उनके विपरीत कहने लगे कि यह देव है, 'प्रचण्डमन्युः' महादेव सर्वथा गुणातीत करें भक्तिरसका आस्वादन प्राप्त न होगा, इसलिए अच्छे प्रकारसे हंसते हुए उस पहले प्रश्नकर्ता(हिरण्याक्ष)का उत्तर देके सन्देह दूर किया. कथा पक्षमें इस प्रकार अर्थ समझना चाहिए.

भगवान् भूमिको स्थापनकर उसका वध करनेकेलिए वचनोंसे उसको कुपित करते हैं. देवीने भगवान्का इतना बडा सत्कार किया इसको लौट जाना चाहिए था किन्तु नहीं गया इतना ही नहीं परन्तु पीछे-पीछे लगा हुआ तेजीसे आ रहा है. अतः मारने योग्य है.

जब भगवान् सबकी आत्मा हैं तो इसके कृत्य उपेक्षा क्यों नहीं करते हैं? इस पर कहते हैं कि इसमें अभी अहंकार है जिससे सोनेके बाजुबन्द धारणकर वह अपना उत्कर्ष दिखा रहा है, अथवा इसके पास जो दन्त्यादि सामग्री है उसको अच्छे प्रकारसे तपाना चाहिए, अतः मारना चाहिए इसके सिवाय यह युद्धकेलिए तैयार है क्योंकि बडी गदा हाथमें ले ली है. अपनी रक्षाकेलिए सोनेका बना हुआ विचित्र कवच धारण किया है, दूसरोंको मारनेकेलिए इसने बडी गदा धारण की है, शत्रुको लडनेकेलिए प्रोत्साहित यह प्रतिक्षण मर्मोको विशेष पीडित कर रहा है. भक्तोंके प्रसन्नार्थ भगवान् जो कुछ अलौकिक करते हैं उसको 'मर्म' कहा जाता है लौकिक भक्तोंके ये वचन नहीं, यों जतानेकेलिए 'दुरुक्तैः' पद दिया है, मित्र और शत्रुके भेदके कारण उन वचनोंका एक ही अर्थ कहा जाता है, जैसा जीतनेवाला वैसा मारनेवाला अतः भगवान् निर्दोष पूर्णगुण भी दुष्ट वचनोंसे कहने पर मर्मको स्पर्श करने पर दुःखदाता होते हैं, उन दुर्वचनों द्वारा भगवान्की निन्दा सुनकर भगवान्के भीतर स्थित महादेव उसको मारनेकेलिए प्रचण्ड हो गये, इसलिए 'प्रचण्डमन्युः' कहा है, भगवान् जोर-जोरसे हंसे, हंसना युद्ध प्रारम्भ करनेकेलिए उत्साह पैदा करनेवाला है. 'तं' पदसे यह सूचित किया है कि जिसने दुर्वचन कहे हैं उसको लक्ष्यकर भगवान्ने उत्तर दिया ।।९।।

आभास : शत्रुपनको सामने रखकर जैसे उसने अनुचित वचन कहे वैसे भगवान् भी निम्न श्लोकों से कहते हैं:

श्रीभगवान् उवाच

सत्यं वयं भो! वनगोचरा मृगा युष्मद् विधान्मृगये ग्रामसिंहान् ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र! ।।१०।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान् कहने लगे कि, तुम्हारा कहना सत्य है कि हम वनमें रहनेवाले पशु हैं अतः तुझ जैसे ग्राम सिंहों अर्थात् कुत्तोंको ढूंढते रहते हैं. हे नीच वीर पुरुष ! तेरे समान मृत्यु पाशमें बंधे हुए जीवकी गर्वपूर्ण वचनों पर ध्यान ही नहीं देते हैं।।१०।।

व्याख्यार्थ : भो! यह सामान्यरूपसे सम्बोधन है, ऐसा तुच्छ सम्बोधन इसलिए दिया है कि भगवान्के शत्रुका नाम नहीं लेना चाहिए, वनमें ही देखनेमें आते हैं न कि गृहोंमें यों तुम्हारा कहना सत्य है, इसलिए वन और जलमें तुझे दीख रहा हूं यह भी सत्य है 'मृग' शब्द जो कहा वह भी सत्य है ''मृगयन्ति इति मृगाः''

जो ढूंढते फिरते हैं उनको मृग कहा जाता है, हममें सब प्रकारके यौगिक अर्थ सिद्ध होते हैं क्योंकि हम सर्वकर्ता होनेसे सर्व शब्दोंके वाक्य हैं, चालू प्रसंगमें जो कहा मृग मारने योग्य है, उसमें भी हमारी सम्मति है, 'मृग' शब्दका भावार्थ है ढूंढते रहना, जिसको शिकारमें भी मारा जाता है वे ग्रामसिंहो(कुत्तों)को ढूंढते फिरते हैं कारणकि वे ही उनको मारनेवाले हैं, उनके सिवाय मृगया(शिकार) नहीं हो सकता है. ''श्वा मृगग्रहणे शुचि'' शिकार करनेके समय मृगको पकडनेमें कुत्तोंको ले जानेमें आपत्ति है नहीं कारणकि उस समय वे(कुत्तें) पवित्र हैं, अतः उनका स्पर्श बाधक नहीं किन्तुं यहां कुछ विशेषता है इसलिए सिद्ध अर्थको पुनः कहते हैं. 'युष्मद्विधान्' जैसे हम मृग हैं वैसे ग्रामसिंह होते हैं अतः जो तुम हमारी 'मृग' शब्दसे स्तुति करते हो तो हम भी सिंहके ढंगसे तेरी स्तुति करते हैं, इसलिए वैसा वचन कहा है, यदि निन्दाकेलिए तूने 'मृग' कहा है तो वह असत्य अर्थवाला तथा विपरीत अर्थवाला होनेसे अप्रमाणिक है अतः हम उसको नहीं मानते है 'न मृत्युपाशैरिति' बहुवचन 'मृगाः'(देवोंकेलिए) 'ग्रामसिंहान्'(दैत्योंकेलिए बहुवचन दिए हैं) देनेका आशय यह है कि देवों और दैत्योंका विरोध साधारण है. उत्तरार्धमें निन्दा उसने की है अतः उसकेलिए(हिरण्याक्षकेलिए) एकवचन हे अभद्र! दिया है, सबकी निन्दा हुई है अतः देवोंकेलिए बहुवचन दिया है, यदि कोई भी तेरा वचन स्वीकार करे तो हम भी अंगीकार कर लेंगे. अंगीकार न करनेमें कारण है मृत्युके बन्धनोंसे बांधा जाना, वह कैसे छूट सकता है जैसे सन्निपातका रोगी मृत्युका अतिथि होनेसे बकता रहता है वैसे तू भी बकता रहता है, जो एक पाशमें फंस जाता है वह ही नहीं छूटता है बहुत पाशोंमें फंसा हुआ कैसे छूटेगा? इनके कौनसे बहुत पाश जिनको स्पष्ट बताते हैं कि उस दिन काल कर्म और स्वभाव भगवान् भी इसके मारक बने हुए हैं यों पाश बहुलता है, बैरीपनसे मुक्तको प्रतिमुक्त कहा है, किञ्च शूरवीर होते हैं, वे शब्दोंको ध्यानमें नहीं लाते हैं किन्तु कार्य पर ध्यान देते हैं उसमें भी झूंठी बडाईको तो गिनते ही नहीं लडाईके मैदानमें हुई जीत आदिकी अन्यत्र स्वयं प्रशंसा होती है. वहां कृतिके विरुद्ध झूठी बडाईको कौन माने? उसमें भी तेरी जो तू असहाय एवं एकाकी है तेरी झूंठी बडाई चोरकी तरह उपद्रवकारी है इसलिए हे अभद्र! सम्बोधन दिया है. पापी प्रसिद्ध होनेपर अपकीर्तिका कारण ही है ।।१०।।

आभास : 'पृथ्वीको छोड दो' इससे हमको अधर्म कर्ता कहा, जिसका

उत्तर इस श्लोकमें देते हैं:

एते वयं न्यासहरा रसौकसां गतह्रियो गदया द्रावितास्ते।
तिष्ठामहेऽथापि कथंचिद् आजौ स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ।।११।।

श्लोकार्थ : रसातल वासियोंकी धरोहर चुराके एवं लज्जाका त्यागकर एवं तुम्हारी गदाके भयसे भागे हुए हैं, सामर्थ्य हीन हम तुझ जैसे महान् योद्धाके सामने कैसे ठहर सकेंगे फिर भी कैसे ही ठहर गए हैं क्योंकि तुझ जैसे वीरसे वैर बांधनेके अनन्तर कहां जा सकते हैं ? अतः यहां स्थित रहने योग्य हैं।।११।।

व्याख्यार्थ : जो अपनी धरोहर ले गए(चुराकर ले गए) हैं वे हम हैं. अपने स्वरूपके दर्शन करानेसे अपने चोरपनका निराकरण कर प्रभुत्व स्थापन किया है. न कि चोरपनका ही अनुवाद है. इससे यह भी दिखा दिया है कि मैं यज्ञपुरुष हूं अथवा जैसे जचे वैसे(भले) कीजिए यह निवेदनका अर्थ(तात्पर्य) नहीं है. वक्रोक्तिमें भी धरोहरणके कार्यके सत्यपनसे ये वे हम हैं, यों जो निर्देश किया है, वह दूषणकी अंगिकृतिकेलिए कहा है क्योंकि वह अनुवाद नहीं है. 'गतह्रियः' जो विशेषण दिया है जिसका आशय स्पष्टकर कहते हैं कि, जो युद्ध न कर भाग जाते हैं और बकवास करते रहे वे निर्लज्ज हैं. यह भी सत्य है कि जो लज्जावाला है व सेवकके साथ कैसे लडेगा ? अथवा जिसने लज्जा प्राप्त की है. ये तीनों ही 'गतह्रिय' कहे जाते हैं. इस प्रकार यहां वैसा ही निर्णय किया हुआ है. भीतर बाधके हेतु होते हुए भी अपने ही बाधके हेतुवाले पदार्थका त्याग निर्लज्जपन है, बहार कैसे ? वह बताते हैं. 'गदया द्रावितास्ते' गदासे जिनको भगा दिया है. अर्थात् गदाको देखकर जो भाग जाते हैं, अर्थात् लडाई न कर वहांसे भाग जाना(दूर चला जाना). मृग ही लकडीको देखकर भाग जाते हैं इसलिए दूर चला जाना उचित ही और लज्जाका अभाव कहा वह उचित ही है. तो तुम फिर हमारे वचनोंका अनुवाद क्यों कर रहे हो ? भाग क्यों नहीं जाते हैं, ऐसी शंका की जावे तो इस पर कहते हैं 'तिष्ठामहेऽथापि' अपनी निन्दा आदि होते हुए भी हम लडाईकेलिए ठहरे हुए हैं क्योंकि हमारा फिर उत्कर्ष होगा(जीत होगी) ऐसी आशा है वह जीत कब व कितने समयमें होगी. वह जानता है कि भगवान् तो युद्धमें बहिर्मुखोंके सामने खडे भी रहना योग्य नहीं समझते हैं तो भी भक्तोंकी ग्लानि दूर करनेकेलिए कैसे ही कर खडे रहे हैं यों तात्पर्य है और विशेष यह है कि बलवानसे बैर पैदा कर कहां जावे ? जानेकेलिए कोई स्थान नहीं है, इसलिए भी

ठहर गए हैं क्योंकि जो बलवान है वह जीतकर भी मरेगा. अतः निग्रह(पराजय) सिद्ध ही है. जिस कारणसे युद्ध ही किया जाता है इसलिए वह जैसे-वैसे ठहरे हैं तुम्हारी धरोहर ले जानेसे तथा आज्ञा न माननेसे बैर पैदा किया है ।।११।।

आभास : यों कहने पर उसकी बुद्धिमें दीन भाव पैदा होगा, जिससे युद्ध न करके ही चला जाएगा, यों शंका कर उसका उत्तर निम्न श्लोकमें कहते हैं :

त्वं पद्-रथानां किल यूथपाधिपो घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः ।।१२।।

श्लोकार्थ : तू पैदल वीरोंका तथा रथियोंका जो सरदार है उनका भी स्वामी है अतः अन्य विचारोंको त्यागकर मेरा, जैसे अनिष्ट हो वैसे शीघ्र ही युद्धकर मुझे मारकर अपने बान्धवोंके शोकाश्रुओंको पौंछ, देरी मतकर, जो अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं करता है वह असभ्य होनेसे सभामें बैठने योग्य नहीं।।१२।।

व्याख्यार्थः पैदल वीर एवं रथियोंके जो सरदार हैं उनके भी आप स्वामी हैं अथवा पाद ही जिनके रथ है उनके पालकोंका अधिपति है इससे यों कहा है सुखपूर्वक रथ चलानेमें शक्तिमान् है अतः तुम अकेले युद्ध नहीं करना उन सबको साथमें ले अपना, इसे कहनेसे भगवान्ने अपना उत्कर्ष प्रकट किया है हमारे साथ युद्ध कर हम भी बहुत हैं. महान्को महानोंके साथ युद्ध करना चाहिए, वह लडाई हास्य विनोद(मजाक)की तरह नहीं, किन्तु अकल्याणकेलिए करनी चाहिए क्योंकि दोनोंमेंसे एक-एकका मारना आवश्यक होनेसे अथवा 'न' पदका सम्बन्ध 'अस्वस्तये' पदसे है अर्थात् हमारे अकल्याणकेलिए लडाई कीजिये यों कहनेसे हिरण्याक्षमें लडाईकेलिए उत्साह जाग्रत होगा. विपरीत वचन होने पर यह छल वचन बन जायेगा दोनों तरह हम लोगोंकी ही हानि है क्योंकि तुच्छके मारनेसे व सेवकके मारनेसे हमारी क्षति(अपयश) होगी. इस कारणसे भगवान्ने 'न' पद कहा है, अस्तु कैसे भी हो बिना विचार किये शीघ्र युद्ध प्रारम्भ कर दे किसी प्रकार विघ्न न होगा यों समझकर युद्ध प्रारम्भ कर दे यों लडाई आरम्भ करनेसे क्या होगा? इस वक्रोक्तिसे कहते हैं कि हमको मारकर और देवोंको भी मारकर अपने सम्बन्धियोंके शोकाश्रुओंको पोंछ तथा युद्ध करनेसे बहुतोंके ऊपर उपकार भी होगा. यद्यपि मारनेसे ही आंसू मिट जायेंगे. यदि वैसे भी नाम मात्र रह भी जाय इसलिए बहुतोंके सम्बन्धी एक आंसू कहा, अतः युद्ध आवश्यक है. तथा

थोडोंको मारनेसे अपने मनमें हीनता उत्पन्न होगी, इसके अलावा लडाई करनेमें दूसरा गुण भी है. 'यः स्वां प्रतिज्ञां' जो मानव अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पूर्ण पालन नहीं करता है वह असभ्य है, अर्थात् सभामें बैठनेके योग्य नहीं है. अतः लडाई करनेसे प्रतिज्ञा पूर्ण होगी जिससे सभ्यत्व सिद्ध होगा और बहुतोंका उपकार होगा, इसलिए युद्ध सर्वथा करना चाहिए यों तात्पर्य है ।।१२।।

आभास : यों परस्पर वाणीके युद्धका वर्णन किया इसके अनन्तर 'सोऽधिक्षिप्तः' श्लोकसे लेकर निम्न ६ श्लोकोंसे कायिक(शरीरकी) लडाईका वर्णन करेंगे:

द्वाभ्यां युद्धं तु दैत्यस्य आरम्भो युद्धमेव च ।
प्रतीकारश्च युद्धं च द्वयं भगवतः पुनः।
मिश्रयुद्धं ततः स्थूलम् उपसंहार एव च ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : १३वें और १४वें दो श्लोकोंसे दैत्यके किए हुए युद्धका प्रारम्भ कहा है, अनन्तर, फिर भगवान्ने प्रतिकार(उपाय) तथा युद्ध १५वें तथा १६वें श्लोकोंमें किया जिसका वर्णन है. बादमें मिश्र युद्ध(परस्पर साथमें लडाई) एवं उपसंहार(समाप्ति) १७-१८ दो श्लोकोंमें कहा है।।१।।

आभास : इस वर्णनमें पहले दो श्लोकोंसे हिरण्याक्षके युद्धका वर्णन किया है, युद्धमें मुख्य सामग्री 'क्रोध' है जिसका पहले वर्णन करते हैं :

मैत्रेयः उवाच

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ।।१३।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजीने कहा हे विदुर ! जब भगवान्ने कोपसे उस दैत्यका तिरस्कार किया तथा उसकी हंसी करी मजाक उडाई तब खेलाए हुए सर्पराजकी तरह हिरण्याक्षने उग्र क्रोधको धारणकर तिलमिला उठा।।१३।।

व्याख्यार्थ : भगवान्ने दैत्यका जो तिरस्कार किया वह उसके क्रोधका कारण हुआ. वह(क्रोध) भक्त व निर्बल हो तो न होवे किन्तु वह दैत्य महाबली था जिससे तिरस्कार सहन नहीं कर सका. 'भगवता' शब्द कहनेका आशय है कि भगवान्ने अपना भाव प्रकट किया है अर्थात् तिरस्कारके ऐसे वचन कहे हैं जिससे उसको क्रोध उत्पन्न हो वह लडाई करे, लडाई हो यह भगवान्का अभिप्राय था. तिरस्कार 'ग्रामसिंहान्'(कुत्तोंके) शब्दसे किया है और मजाक वक्रोक्ति कहकर

की है 'एते वयं' वे ये हम हैं आदि. 'च' पदसे युद्धकेलिए बुलाया है वह भी 'रोषेण प्रलब्ध' क्रोधसे वञ्चना की है न कि हितकर उपदेशसे, अतः तीन दोषोंके होनेसे उसको त्रिदोषरूप महान् क्रोध उत्पन्न हुआ यों 'आजहार' पदसे कहा है, जैसे वस्तु कहीं धरी है वहांसे लाई जाती है वैसे ही क्रोध कहीं रखा था वहां ले आया यह आशय है. 'उल्बणं' पदसे उसकी उग्रता बताई है, वह क्रोधमें अन्तमें अनिष्ट ही करेगा सहज क्रोधी जब उसको कार्यमें लाएगा तब उसका फल दुःख ही होगा, इसमें क्या कहना है? इस पर दृष्टान्त दे इसकी उग्रता सिद्ध करते हैं जैसे सर्पोका राजा कालिय व दूसरा खिलाने पर भी अन्तमें दुःखदायी ही होता है ।।१३।।

आभास : जैसे वह सर्प खेलते हुए भी अपना पौरुष प्रकट करता है वैसे इसने भी किया, जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं :

सृजन् अमर्षितः श्वासं मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाऽभ्यहनद् हरिम् ।।१४।।

श्लोकार्थ : अपमान आदिको सहन न करते हुए उस दैत्यकी इन्द्रियां क्रोधसे तिलमिलाने लगीं जिससे श्वासोंको प्रचण्ड करता हुआ शीघ्र ही निकट आकर हरिके ऊपर गदासे प्रहार किया।।१४।।

व्याख्यार्थ : बहुत क्रोधवाले श्वासोंको बाहर जोरसे निकालते हुए उस दैत्यने हरि पर गदासे कठोर(जबरदस्त) प्रहार किया. भीतर स्थित क्रोधके कारण श्वास उत्पन्न हुआ बाहर स्थित क्रोध जो 'मन्यु' शब्दसे कहा गया है उससे इन्द्रियोंमें खलबली मच गई, इसी तरह दैत्यमें भीतर बाहर अर्थात् श्वास तथा इन्द्रियोंमें क्रोध फैल गया, इस कारण शीघ्र ही भगवान्के पास भगवान्के साथ लडना उचित नहीं ऐसी शंका होनेसे उसकी जातिका(दैत्य) शब्दसे बताया है, बडे तो पीछे प्रहार करते हैं कि पहले इससे भगवान्का उत्कर्ष बतानेकेलिए उसने(दैत्यने) पहले प्रहार किया यों बताते हैं. 'गदयाऽभ्यहनत्' गदासे कठोर (जबरदस्त) प्रहार किया, हरिका अर्थ होता है सिंह और (दुःख) मिटानेवाला जिसको मारनेसे(जिससे लडाई करनेसे) अपना ही अनिष्ट(हानि) होता है, यों गदा प्रहार तक युद्ध कहा ।।१४।।

आभास : भगवान्की की हुई लडाई निम्न दो श्लोकोंसे कहते हैं :

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत् तिरश्चीनो योगारूढ इवाऽन्तकम् ।।१५।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने अपनी छाती पर चलाई हुई शत्रुकी गदाके प्रहारको थोडासा टेढे होकर वैसे बचा लिया जैसे योगी मृत्युसे अपनेको बचा लेता है।।१५।।

व्याख्यार्थ : 'तु' पदका भावार्थ है कि भगवान्ने दैत्यकी तरह क्रोध न कर शान्त होके इसका प्रतिकार(उपाय) किया. भगवान् प्रतिकार करनेमें समर्थ हैं यों 'स्व' शब्दसे प्रकट किया है, 'गदावेगं' गदाका वेग किसी प्रकार चुकाया नहीं जाता है, गदासे पाससे ही प्रहार किया जा सकता है, वह भी जब अच्छी तरह उर(हृदय)के ऊपर फैकी गई हो, वह फैकना भी शत्रुने किया हो, नहीं चुकाए जानेके तीन कारण होते हैं, वे तीन थे तो भी भगवान्ने प्रहारको चुका(छुडा) दिया किस तरह प्रहारको चुकाया? जिस पर कहते हैं कि पूरे वेगसे भगवान् टेढे हो गए. निकटमें हुआ प्रहार मात्र टेढे होनेसे कैसे नहीं लगेगा? इसका उत्तर देते हैं कि 'योगारुढ इव' योगीकी तरह योग ही प्राणोंको वश करनेमें कारण है. काल प्राणोंको हरण करता है, योगी योगसे प्राणोंको छिपा लेता है जिससे काल प्राणोंको ढूंढते हुए भी पा नहीं सकता है. भगवान्ने भी इसी तरहका(योगीकी तरहका) स्वरूप शत्रुके सामने प्रकट किया तावता ही छुप गए इस कारणसे प्रहार स्थानमें लीन हो जानेसे दैत्य ठगा गया अर्थात् उसका(दैत्यका) प्रहार व्यर्थ गया ।।१५।।

आभास : इस प्रकार दैत्यने जो पहले किया था उसका प्रतिकार भगवान् शान्त हो खडे रहे तब वह दैत्य फिर जब मारनेकेलिए प्रवृत्त होने लगा तब भगवान्ने उस पर प्रहार किया जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

पुनर्गदां स्वाम् आदाय भ्रामयन्तम् अभीक्ष्णशः।
अभ्यधावद् हरिः क्रुद्धः संरम्भाद् दष्टदच्छदः ।।१६।।

श्लोकार्थ : फिर वह अपनी गदा लेकर क्रोधसे होठोंको चबाता हुआ उसे(गदाको) जब खूब फिराने लगा, तब श्रीहरिको भी क्रोध उत्पन्न हुआ, जिससे वे बडे वेगसे उस(दैत्य) पर झपटे।।१६।।

व्याख्यार्थ : अपनी मूर्वाधाससे मजबूत बांधी हुई तथा दृढ बैरके साधन गदाको निरन्तर घुमाते, तब वराह भगवान् उसको मारनेकेलिए दौडे. दौडते हुए निकट गए, गदा फिरानेसे यह प्रकट किया कि मैंने ही युद्धका प्रारम्भ किया है, एवं उसका पहला प्रयास व्यर्थ जानेसे विशेष क्रोध उत्पन्न हुआ जिससे होठोंको

दांतोंसे चबाके वह प्रकट किया, भगवान् भी ''ये यथा मां प्रपद्यन्ते'' इस उक्तिके अनुसार यों कोप करने लगे ।।१६।।

आभास : अनन्तर क्या किया ? इस आकांक्षामें यह श्लोक कहते हैं :

ततश्च गदयाऽरातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः ।
आजघ्ने स तु तां सौम्य ! गदया कोविदोऽहनत् ।।१७।।

श्लोकार्थ : अनन्तर प्रभुने शत्रुके दक्षिण भ्रू पर गदासे प्रहार किया, हे सौम्य ! उस प्रवीणने उस गदाके ऊपर गदासे प्रहार किया।।१७।।

व्याख्यार्थ : कौमोदकी गदासे दक्षिण भ्रू पर, इस भ्रू पर चोट लगानेका कारण यह था कि उसकी(दैत्यकी) आसुरी मृत्यु नष्ट हो जावे प्रभुमें पौरुष था इसलिए दक्षिण भ्रू पर चोट लगा सके, सूक्ष्म स्थान पर कैसे चोट करनेमें समर्थ हुए? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'प्रभु' पद अर्थात् सर्व समर्थ नाम दिया है. 'तां'का तात्पर्य है कौमोदकी गदाको, हे सौम्य! वह(दैत्य) जो गदा युद्धमें प्रवीण है उसने अपनी घाससे बांधी हुई गदा पर कठोर(जबर्दस्त) प्रहार किया ।।१७।।

आभास : इस श्लोकमें परस्पर युद्ध कहकर उपसंहार करते हैं :

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यम् अभिजघ्नतुः ।।१८।।

श्लोकार्थ : इस तरह हर्यक्ष और हरि दोनों, अपनी जय प्राप्त करनेकी इच्छासे बहुत क्रोधावेषमें आकर बडी-बडी गदाओंसे परस्पर प्रहार करने लगे।।१८।।

व्याख्यार्थ : 'गुर्वीभ्यां' पदसे बडी-बडी गदाओंके लेनेका कारण कहा है छोटी लेंगे तो स्वल्प समय चलेगी और बडी होगी तो विशेष काल युद्धमें उनका उपयोग किया जा सकेगा, अतः दोनोंने बडी-बडी गदाएं लीं, हिरण्याक्ष नाम न कहकर 'हर्यक्ष' कहा जिसका आशय यह है कि हरि ही जिसके नेत्रमें विराजमान हैं ऐसा हिरण्याक्ष और भगवान् भी हरि, दोनों हरिके समान थे इसलिए दोनोंने युद्ध अपनी जीत हो इसलिए प्रारम्भ किया न कि मारनेकेलिए किया. इसलिए 'जिगीषया' पद दिया है. 'सुसंरब्धौ' पदसे यह भाव(युद्धका हेतु) प्रकट किया है इस कारणसे ही परस्पर प्रहार करने लगे ।।१८।।

आभास : इस तरह भगवान्की युद्धलीला कहकर इसका वर्णन इस श्लोकमें कहते हैं :

तयोः स्पृधोः तिग्मगदाहताङ्गयोः क्षतात् स्रवद् घ्राणविवृद्धमन्यवोः।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया व्यभाद् इलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ।।१९।।

श्लोकार्थ : दोनोंमें परस्पर जीतनेकी होड बढ रही थी, कारण कि दोनोंके ही अंग गदाओंकी चोटोंसे घायल हुए थे, घायल अंगोंसे जो रुधिर बह रहा था उसकी गन्धसे दोनोंका क्रोध बढ रहा था अतः दोनों ही पृथक्-पृथक् पैंतरे बदल रहे थे, जैसे गौकेलिए सांढ लडते हैं वैसे ये भी जीतकी इच्छासे आपसमें भयंकर युद्ध लड रहे थे।।१९।।

व्याख्यार्थ : परस्पर स्पर्धा करनेवाले दोनोंके अंग तेज गदाओंकी चोटोंसे घायल हो जानेसे उत्पन्न दुःखके अनुभवसे युद्ध बन्द किया होगा? ऐसी शंका पर कहते हैं युद्ध बन्द नहीं किया क्योंकि गदासे हुए घावोंसे जो रुधिर बहा उसकी गन्धसे क्रोध बढने लगा. क्रोध बढ जानेसे वे दोनों युद्धके विचित्र मार्गो पर फिरने लगे अर्थात् क्रोधसे वीरत्व उत्पन्न हुआ जिसका रसपान करते हुए युद्धमें विशेष प्रवृत्त हुए अतः स्वरूप तथा अभिप्राय दोनोंसे जयकेलिए दोनों पृथक्-पृथक् पैंतरे बदलने लगे. शत्रुओंका केवल जय मात्र ही कारण कैसे होगा? इस शंकाको दृष्टान्तसे निवारण करते हैं 'इलायामिव शुष्मिणोः' इलाका अर्थ 'भूमि' है वह सप्तमी विभक्ति दो प्रकारकी है एक अधिकरण और एक निमित्तमें है - जैसे पृथ्वी पर तमाम बलवान् एवं काममत्त दो सांड गौको अपनी-अपनी बनानेकेलिए परस्पर लडते हैं वैसे ये दोनों भी लडते-लडते शोभा पाने लगे ।।१९।।

आभास : इस तरह लीलासे युद्ध करते हुए भगवान्(कदाचित्) दैत्यका वध न करेंगे. ब्रह्मा यों संशय कर स्वयं आके उसको मारनेकेलिए इन दो श्लोकोंमें भगवान्को प्रार्थना करते हैं :

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य मायया गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ।।२०।।

श्लोकार्थ : हे कुरु वंशज !(विदुरजी) जब इस तरह, दैत्य हिरण्याक्ष तथा जिस यज्ञमूर्ति भगवान्ने वराह स्वरूप धारण किया है वे परस्पर पृथ्वीकेलिए जब युद्ध करने लगे तब ब्रह्माजी ऋषियोंको साथ लेकर देखनेकेलिए आये।।२०।।

व्याख्यार्थ : आगमन तथा प्रार्थनाके भेदसे दोनोंका बल समान है यों निरूपण करनेकेलिए दोनोंके स्वरूपका वर्णन करते हैं. युद्धमें दैत्यपन ही उपयोगी है, इसलिए वही कहा और यज्ञ जिनके अवयव हैं ऐसे भगवान् हैं इससे यह सूचित

किया है कि भगवान्में क्रियाशक्ति पूर्ण विद्यमान है. जो इस प्रकारके सामर्थ्यवाला यज्ञात्मक स्वरूप है वह कैसे ऐसे(सूकराकृति) है इस दूषणको दूर करनेकेलिए अपने विशेष सामर्थ्यको प्रकट किया है जिसको कहते हैं ''मायया गृहीत वाराहतनोरिति महात्मनः'' अपनी सर्व सामर्थ्यरूप इच्छाशक्तिसे ही यह स्वरूप धारण किया है ऐसे सम्पूर्ण क्रिया शक्तिमान् महात्माको युद्ध करनेकेलिए कोई कारण नहीं है, यों सूचित किया है. हे कौरव्य! इस सम्बोधनसे यह बताया है कि आपका महान् पुरुषोंके चरित्रमें विश्वास है. जलके युद्धके समयमें ब्रह्मा देख नहीं सकते अतः उस युद्धको ध्यानमें न लाके पृथ्वी पर दोनों शत्रुओका भयंकर युद्ध देखनेकेलिए ब्रह्मा स्वयं पधारे, हिरण्याक्षके वधसे ब्रह्माका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि ब्रह्माजी 'स्वराट्' सकल सृष्टिके अधिपति हैं, इन्द्र आदि इनके अंश हैं, अतः ये ऋषि साक्षी बननेकेलिए आये हैं ।।२०।।

आभास : ब्रह्माने दोनोंके युद्धका रूप देखकर मान लिया कि ये युद्धके नामसे खेल कर रहे हैं, इस युद्धसे हिरण्याक्षका वध न होगा अतः उसके वधार्थ इस श्लोकमें भगवान्को प्रार्थना करते हैं :

आसन्नशौण्डीरम् अपास्तसाध्वसं कृतप्रतीकार–महार्यविक्रमम् ।
विलोक्य दैत्यं भगवान् सहस्रणीः जगाद नारायणम् आदिसूकरम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माने देखा कि यह दैत्य बडा साहसवाला शूर होनेसे सर्व प्रकार निर्भय है प्रतिकार करनेमें भी समर्थ है, इसका पराक्रम मिलाया नहीं जा सकता है, तब हजार–हजार योद्धाओंके ले जानेमें समर्थ भगवान् ब्रह्मा आदि सूकर नारायणको निम्न प्रकार कहने लगे।।२१।।

व्याख्यार्थ : भगवान्का उत्कर्ष तो उचित है, उसका(दैत्यका) अनुचित है जिसका वर्णन करते हैं. स्वीकार किये हुए साहसवाला, भगवान्ने जिसका गर्व उतार दिया है जिसने प्रतिकार भी किया है तथा वह ऐसे पराक्रमवाला है जिस पराक्रमको कोई हरण नहीं कर सकता है ऐसे दैत्यको देखकर यह अजेय है अर्थात् इसको कोई जीत नहीं सकता यों जानकर अपने पिता भगवान्को, जो सर्व अवतारोंमें प्रथम अवतार हैं वह भगवान् यदि उदासीनता त्याग इसको मारना चाहें तो मार सकते हैं अन्यथा नहीं यों विचारकर आदिसूकर(भगवान्)को कहने लगे.(ब्रह्मा)को इस प्रकारके ज्ञान होनेका कारण यह है कि आप(ब्रह्मा) भगवान्

हैं, ब्रह्माके इस प्रकारके कहने पर यदि दैत्य मुझे(ब्रह्माको) ही मार डाले, ऐसा भय ब्रह्माको क्यों न हुआ? इस पर कहते हैं कि आप(ब्रह्मा) 'सहस्रणीः' ब्रह्माजी अपने समान सहस्र योद्धाओंको ले जा सकते हैं अतः इनको भय नहीं ।।२१।।

आभास : दैत्यका वध भगवान् करें इसलिए ब्रह्माजी उसके दूषण दो श्लोकोंसे कहते हैं :

ब्रह्मा उवाच

एष ते देव! देवानाम् अङ्घ्रिमूलम् उपेयुषाम्।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ।।२२।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माजीने कहा हे देव ! यह दैत्य, आपके चरणोंकी शरणमें रहनेवाले देव, ब्राह्मण, गौ और अन्य निर्दोष प्राणियोंको भी(२३ श्लोकसे सम्बन्ध है)।।२२।।

व्याख्यार्थ : "**भक्तद्रोहे वधः स्मृतः**" भक्तद्रोह करने पर द्रोहीका वध होना चाहिए यह भगवान्का हृदय होनेसे इसने भक्तद्रोह ही किया है इसलिए हिरण्याक्षकेलिए 'एष' पद दिया है. भगवान्को हे देव! सम्बोधनसे सूचित किया है कि आप सदैव देवोंके पक्षपाती हैं वह देवद्रोही है अतः उसका वध दोष नहीं है. यों जतानेकेलिए 'देवानां' पद दिया है. वे चरणोंकी शरण लेनेवाले हैं, यह दूसरा मुख्य हेतु है. 'विप्राणां सौरभेयीणां' ब्राह्मण और गौ दोनों यज्ञोपयोगी हैं, उनका यह विरोधी है इसलिए यज्ञवाराह भगवान्को चाहिए कि इसको अवश्य मार डालें. प्रकृत अवतार(वराहावतार) इस कार्यकेलिए प्रकटे हैं अतः इसमें ही उपयोग किया जाना चाहिये, साधारण रीतिसे भी विष्णुका कार्य रक्षा है वह रक्षा तत्त्वों द्वारा करते हैं उन निर्दोष तत्त्वोंका भी विरोधी है एवं उनको भी दूषित किए है अतः वह इन चार कारणोंसे मारना ही चाहिए यों हेतु निरूपण किये ।।२२।।

आभास : इस निम्न श्लोकमें उसके भी चार दोष बताते हैं :

आगस्कृद् भयकृद् दुष्कृद् अस्मद् राद्धवरोऽसुरः।
अन्वेषन् अप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ।।२३।।

श्लोकार्थ : इस तरह निर्दोषोंको दूषित करनेवाले एवं प्राणियोंको भयभीत करनेवाले, दुष्कर्म करनेवाले इसने मुझसे वर प्राप्त कर यह अप्रतिम योद्धा बना है, जिससे इसके समान योद्धा देखनेमें नहीं आता है, अतः यह कण्टक कांटा अपने तुल्य (कोई मुकाबला करनेवाला) मिले इसकी खोजमें सर्वत्र घूम

रहा है।।२३।।

व्याख्यार्थ : पहले ही निरपराधीको अपराधी बताता है, अर्थात् मिथ्या दोषारोपण करता है फिर धमकी आदिसे भय पैदा करता है अनन्तर प्राणीयोंको मारना अन्योंका धनादि सर्वस्व हरणकर लेना इसके सिवाय दूसरे भी दोष इसमें उत्पन्न होने लगे, कारणकि मुझसे वर प्राप्त कर बलिष्ठ बन गया है. देवतासे वर प्राप्त कर फिर दुष्ट कैसे हुआ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह 'असुरः' असुर है जैसे सर्पोको दूध पिलाया जावे तो उसका विष ही बढता है वैसे ही यह असुर होनेसे देवका वर प्राप्त करके भी आसुरी स्वभावके कारण दुष्ट ही बना हुवा है क्योंकि कण्टक है. कण्टक(कांटा) गतिको रोक देता है अर्थात् कांटे चुभ जानेपर आदमी चल नहीं सकता है वह कांटा भले छोटा ही हो तो भी दुःखदाई होता है, यह तो इस समय अद्वितीय बलवान् है जिससे वह सर्वत्र ढूंढता फिरता है कि मुझसे लडने योग्य कोई वीर मिले तो मैं उससे युद्ध करूं अतः ऐसे अहंकारी दुष्टको तो मार डालना ही उचित है, कहनेका यह तात्पर्य है ।।२३।।

आभास : इस(दैत्य)की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए :

मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशम् असत्तमम्।
आक्रीड बालवद् देव! यदाशीविषम् उत्थितम् ।।२४।।

श्लोकार्थ : हे देव ! इस मायावी, अहंकारी, उच्छृंखल, अत्यन्त दुष्टको बालककी तरह खेल न कराओ क्योंकि यह जगा हुआ सांप है।।२४।।

व्याख्यार्थ : इसको खिलाओ मत, इसको लक्ष्य बनाकर खेल नहीं करो. नहीं खिलानेके चार कारण हैं. (१)यह मायावी(बाजीगर) है, जिससे इनके बलका असर नहीं पडता है, इसलिए जब इसका बल कम हो जायगा तब भाग जायगा इस कारण भाग जानेसे पहिले ही इसको मार डालना चाहिए और(२)यह अहंकारी है, यदि इसकी उपेक्षा की जायगी अर्थात् इसको न मारकर छोड दिया जायगा तो यह जगत्का नाश कर डालेगा और (३)उच्छृंखल है, जिससे आपके सिवाय कोई दूसरा इसका नियामक नहीं है अतः इसलिए इसे मारनेके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है. आप यों न समझिये कि यह स्वयं थोडे समयके बाद बचपना छोड देगा क्योंकि यह महान् दुष्ट है इसलिए हे देव! इसके साथ बालककी तरह खेल न कीजिये किन्तु सत्य युद्ध कीजिये यह यदि बालक है तो भी आप जानते ही हैं कि बालक परिणामका विचार नहीं करता है इसलिए यह

आपकी हानि ही करेगा. यों 'आशी विषमुत्थितं' पदसे सिद्ध करते हैं अर्थात् जैसे सोये नागको चेष्टा(क्रीडा) आदिसे यदि जगाया जाता है तो वह जगा हुआ सांप काटे बिना शान्त नहीं होता है वैसे यह भी हानि ही करेगा. अतः इस जगाये हुए सांपको अभी ही मार देना चाहिए नहीं तो अपकार करेगा ।।२४।।

आभास : यह स्वभावसे ही बलिष्ट है फिर सन्ध्याकाल आने पर विशेष बलवान होगा, अतः इसको विशेष बलिष्ट होनेसे पहले ही मार देना चाहिए यों इस श्लोकमें कहते हैं :

न यावद् एष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
स्वां देवमायाम् आस्थाय तावद् जह्यघम् अच्युत ! ।।२५।।

श्लोकार्थ : हे अच्युत ! जब तक यह दारुण दैत्य, अपनी बलवृद्धि करनेवाले सन्ध्या समयको पाकर बलिष्ट हो उससे पूर्व ही आप अपनी योगमाया का उपयोग कर इस पापीको मार डालिए।।२५।।

व्याख्यार्थ : बढने पर दोष बताते हैं 'दारुणः' बढेगा तो अबसे विशेष भयंकर होगा 'स्ववेला' अपना समय अर्थात् सन्ध्याकाल, सन्ध्या समय दैत्योंकी उत्पत्तिका समय है ये दो भी सन्ध्या समयमें उत्पन्न हुए हैं, तो इसको कैसे मारें ? इस पर कहते हैं कि 'स्वां देवमायाम्' अपनी देवमायाका उपयोग कर मारें कारणकि देवमाया असुरोंका पराभव करनेवाली है जैसेकि भगवद्गीतामें कहा है कि ''रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत'' हे भारत! रजोगुण तथा तमोगुणका पराभव कर सतोगुण प्रवृत्त होता है, मारने पर दोष लगेगा यों भी न समझना क्योंकि यह दैत्य पापरूप है. इस युद्धमें अपनेमें सन्देह न करना चाहिए कारणकि आप अच्युत हैं, जिससे आपकी च्युति(पराजय) न होगी ।।२५।।

आभास : सन्ध्या स्वतः नाश करनेवाली है :

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो ! ।
उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयम् आवह।।२६।।

श्लोकार्थ : हे प्रभो ! लोकोंका नाश करनेवाली सन्ध्याकी भयंकरवेला निकट आ रही है, हे सर्वात्मन् ! उसके पहुंच जानेसे पहले ही इस दैत्यको मारकर देवोंको जय दिलाओं।।२६।।

व्याख्यार्थ : यह देवोंकी सन्ध्या आ रही है, क्योंकि ज्योतिश्चक्र स्थिर है मध्यमें पृथ्वी रखी हुई है. ब्रह्मादि देव होनेसे देवोंके मानसे सन्ध्या समय कहा है

यों निश्चयपूर्वक समझाते हैं अथवा यह ब्रह्माका दिन है, 'लोकच्छम्बटकरी' इस वाक्यानुसार उसके(ब्रह्माके) संवत्सरका अंतिम दिन कल्प प्रलयका है प्रथम पक्षमें सन्ध्यामें लोक नाशकत्व स्वाभाविक है, इसलिए वैसे कहा जाता है, अथवा ज्योतिश्चक्रके फिरनेके कारण यह सन्ध्या मानवमानानुसार कही है अथवा अधिष्ठात्री देवताओं भगवान्की सेवाकेलिए आनेवाले कालकी परम्परासे ही आविर्भूत होती है. इसलिए उसको ही सन्ध्या कहा जाता है. इसी तरह ही अभिजित नक्षत्र भी इस प्रकार चारों पक्षोंसे समाधान हो सकने पर भी यह ही(कालके देवता) आविर्भूत होती है. पक्ष उत्तम है.

'छम्बट्' शब्द वैदिक है जिसका अर्थ नाश है रिक्त(खाली) पदका पर्यायवाची है जिसका अर्थ भी वैसा ही है ''तेनैकाष्टकान् छम्बट्कुर्वन्ति'' इस श्रुत्यनुसार सन्ध्या भी नाश करनेवाली है और दैत्य भी दोनोंके मिलने पर महान् अनर्थ होगा इसलिए उससे(मिलाप होनेसे) पूर्व ही दैत्यको मार डालना चाहिए, कहनेका यही भावार्थ है, वैसी आपमें सामर्थ्य है, यह सूचित करनेकेलिए(प्रभु) नाम दिया है. सकल अवतारोंमें सत्त्व तिरोहित सा हो जाता है, अतः वराहमें भी हुआ होगा यों ब्रह्मा समझाते हैं. इसलिए भगवान्को जानते हैं कि तीन प्रहर हो चुके हैं अब सन्ध्या होनेवाली है अतः 'उपसर्पति' पद दिया है जिसका आशय है सन्ध्या समीप आ पहूंची है. आपको सबकी रक्षा करनी आवश्यक है क्योंकि आप 'सर्वात्मन्' सर्वकी आत्मा हैं. एकके मारनेसे बहुतोंकी रक्षा हो तो सर्वात्मा होते हुए भी मारना अनुचित नहीं है, यदि आप कहो कि सर्वथा मार डालना अच्छा नहीं रक्षा मात्र ही करनी चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'सुराणां जयमावह' सतोगुणका समय है इसमें देवताओंके जीतकी दुन्दुभी बजा देना श्रेष्ठ है ।।२६।।

आभास : मैं ही इसको मारूंगा यो क्यों कहते हो ? इस शंका पर कहते हैं :

अधुनैषोऽभिजिद् नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदाम् आशु निस्तर दुस्तरम् ।।२७।।

श्लोकार्थ : यह अभिजित् नक्षत्र जो मुर्हूत मात्र ही रहता है वह अभी ही गया है, अतः आप हम मित्रोंके शीघ्र कल्याणकारी बनो और दुस्तर संकटसे बचाओ।।२७।।

व्याख्यार्थ : 'एष' पद देकर यह सूचित किया है कि अभिजित् नक्षत्रकी

अधिष्ठाता देवता यह प्रत्यक्ष दीख रही है, अभिजित् नक्षत्र दोपहरकी राशि द्वारा मिलता है, इसलिए वैसे ही कहा है तुला संक्रांतिके आठ दिन व्यतीत होने पर उसी दिन उत्तराषाढाके चतुर्थ पादमें जब मध्याह्न होता है तब मुहूर्त मात्र 'अभिजित्' नक्षत्रका योग होता है.''ते देवास्तस्मिन्नक्षत्रेऽभ्यजयन्'' इस उपाख्यानमें अभिजित् नक्षत्रमें देवताओंने दैत्यों पर जय प्राप्त की है वह समय तो अब ही गया है, जो अजेय हैं उसकी पराजय तो उसी समय करना उचित थी, अथवा जिनकी पापसे पराजय होती हो उनके ऊपर जय श्रुत्यनुसार अभिजित् नक्षत्रमें श्रेष्ठ नहीं क्योंकि असुरोंकी पापसे पराजय हुई है. ऐसा अभिजित् योग भी गया अब तक सन्ध्या भी नहीं हुई है, अतः देरी न कर हम आपके सुहृदोंके कल्याणकेलिए शीघ्र मारना चाहिए. इस तरह इस दुष्ट, दुःसाध्य मृत्युरूप दैत्यको जल्दी ही पार करो अर्थात् हम मित्रोंको सर्वथा बचाओ ।।२७।।

आभास : यदि इसके भाग्यमें अब जीना लिखा होगा तो मरेगा कैसे ? इसका उत्तर इस निम्न श्लोकमें देते हैं :

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युम् अयम् आसादितः स्वयम्।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ।।२८।।

श्लोकार्थ : हे नाथ ! इसकी मृत्यु आपके हाथसे होनेवाली है इसलिए इसने खुद अपने मृत्युरूप आपके पास अपनेको पहुंचाया है यह खुशी है. अब आप युद्धमें बल पूर्वक इसको मारकर लोकोंको सुखी कीजिये।।२८।।

व्याख्यार्थ : इस अवसर पर यह आपके पास आया है, इससे समझा जाता है अब इसके भाग्यमें जीना नहीं लिखा है, इसका काल(मृत्यु) आप ही हैं इसलिए यह स्वयं ही मृत्युरूप आपके पास आ गया है जैसे मृत्यु रोग आदि पराक्रमसे उसको मारता है इसी तरह इसको भी पराक्रम द्वारा संग्राम(युद्ध)में मारकर सकल लोकोंको सुखी करो, यह प्रार्थना है, युद्धमें मारनेसे कोई भी दोष नहीं लगता है ।।२८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके १८ वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय १९

हिरण्याक्षका वध

एवं स्थितिर्हरौ तस्य पूर्वाध्याये निरूपिता ।
प्रलयो ब्रह्मणो वाक्यात् भगवत्कृत ईर्यते ।।कारि.१।।
एकोनविंशे भगवान् क्रीडन्निव महासुरम् ।
सुराणां महदर्थाय हतवान् इति वर्ण्यते ।।कारि.२।।

कारिकार्थ : इस तरह गत अध्यायमें हिरण्याक्षकी हरिमें स्थिति कही. ब्रह्माके कहनेसे भगवान्ने उसका नाश किया जिसका वर्णन इस अध्यायमें करते हैं।।१।।

कारिकार्थ : १९वें अध्यायमें देवताओंका महत्त्व बढानेकेलिए, भगवान् ने मानों खेल करते हुए उसको(हिरण्याक्षको) मार डाला।।२।।

आभास : इस तरह ब्रह्माके प्रार्थना करने पर भी हिरण्याक्ष भक्त है. जिसको मारेंगे या नहीं ऐसी शंका होनेसे मैत्रेयजी कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच
अवधार्य विरञ्च्यस्य निर्व्यलीकामृतं वचः ।
प्रहस्य प्रेमगम्भीरं तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ।।१।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजी कहने लगे कि, ब्रह्माजीके ये निष्कपट अमृतमय वचन सुनकर भगवान्ने प्रेमके कारण गम्भीर मुस्कराहट एवं वैसा ही कटाक्षकर उनकी प्रार्थना स्वीकार की।।१।।

व्याख्यार्थ: भगवान् ब्रह्माके कहे हुए वचनों पर विचार करने लगे, कि ब्रह्माने यह प्रार्थना देव होनेके कारण दैत्योंसे द्वैष है, अतः की है अथवा यों ही लोक कल्याणार्थ की है. मनमें कहा वह निश्चयकर फिर वैसे ही करूंगा जैसे निश्चय होगा यों विचारकर ब्रह्माका कहना स्वीकार किया. 'विरञ्च्यः' शब्दसे यह सूचित किया है कि उसका कहना झूठ नहीं होगा. 'विरञ्च्यः' पदकी व्युत्पत्ति करते हैं कि 'रवि' पदको विपरीत अर्थात् उलटा करनेसे विरका भावार्थ सूर्य होता है उसकी 'चिनोति' बनाता है अर्थात् सूर्यादिसे बनानेवाले ये हैं अन्धकारको नहीं बनाते हैं, इस कारण सत्यवक्ता हैं तथा अमृतसम हितकारी मिष्टवचन कहनेवाले हैं. इसी प्रकार ब्रह्माके वचन गुणयुक्त तथा सत्य हैं यह निश्चयकर ब्रह्मा डरा हुआ समझ,

मुस्कुराए अथवा सानिध्य होनेसे ज्ञानका उदय नहीं हुआ इसलिए मुस्कुराए. प्रेमके कारण उन वचनोंका कटाक्ष द्वारा स्वीकार किया यदि 'प्रेमगर्भण' पाठ होवे तो इसका आशय यह समझना चाहिए कि प्रेमसहित दृष्टि विशेष प्रेम उत्पन्न करेगी, इससे उनका निर्भयपन जनाते हैं 'स' पदसे भगवान् कहे हैं. भूमिका उद्धार कर अन्तर्हित न हुए, और उस रूपमें ही भीतर प्रविष्ट नहीं हुए यों जनाते हैं ।।१।।

आभास : इस तरह वध होनेसे पहलेकी(हिरण्याक्षकी) स्थिति तथा भगवान्की(हिरण्याक्षको मारनेकी) इच्छा कहकर भगवान् सर्वकी आत्मारूप होनेके कारण उसकी(हिरण्याक्षकी) कामनाको पूर्ण करते हैं उसकी सबसे बडी कामना तो यह थी कि युद्धकर जय प्राप्त करूं अतः उसकी ये दोनों कामनाएं पहले पूर्ण करते हैं उसमें पहले युद्धमें उसकी जीत कराते हैं जिसका वर्णन 'ततः सपत्नं' श्लोकसे पांच श्लोकोंमें करते हैं, दैत्यकी जय आगे कहेंगे पहले भगवान्ने जो युद्ध किया वह कहते हैं:

युद्धं तस्य प्रतीकारो दैत्यधर्मश्च साधकः ।
सर्वलोकप्रसिद्धिश्च भक्तानाम् आशिषस्तथा ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : युद्ध, उसका उपाय और जयको सिद्ध करनेवाला दैत्यधर्म सकल लोकमें उसके जयकी प्रसिद्धि वैसे ही भक्तोंका आशीर्वाद।।१।।

सर्वेषामेव हृदये जयस्तस्य समागतः।
इति दर्शयितुं देवाः तदाहुरिति रूप्यते।।कारि.२।।

कारिकार्थ : सर्वके हृदयमें यह विचार हुआ कि दैत्यकी जय हुई यों दिखानेकेलिए देवोंको ऐसे वचन कहने लगे।।२।।

ततः सपत्नं मुखतः चरन्तम् अकुतोभयम् ।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरम् अक्षजः।।२।।

श्लोकार्थ : उसके बाद उन्होंने झपटकर अपने सामने निर्भय हो विचरनेवाले शत्रुकी ठुड्डी पर गदा मारी।।२।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माके कहनेके अनन्तर शत्रुको मारा यों वाक्योंका (पदोंका) सम्बन्ध अन्वय है. दैत्य मुखके आगे सामने निर्भय होके फिरता रहता था, क्योंकि सामने एवं निकट फिरनेसे गदाका प्रहार पहूंच सकेगा, दैत्यके अन्तःकरणमें यह इच्छा उत्पन्न हुई थी कि भगवान्को मारूं इस विचारका परिणाम यह हुआ कि उसके हृदयमें मृत्यु(काल) आकर पहुंच गया इसलिए

सामने मुख करके ही फिरने लगा. मनमें काल आ गया है यों जानकर भी निडर होकर घूमता था अर्थात् युद्धसे भाग जानेका विचार नहीं था ऐसी स्थितिमें ब्रह्माकी नासापुर इन्द्रियसे उत्पन्न भगवान् वाराहने झपटकर शत्रुकी ठोडी पर गदा मारी मुखके नीचेके भागको ठोडी कहते हैं ।।२।।

आभास : निम्न श्लोकमें असुरने जो उपाय किया वह कहते हैं :

सा हता तेन गदया रहिता भगवत्करात् ।
विघूर्णिताऽपतद् रेजे तदद्भुतम् इवाभवत् ।।३।।

श्लोकार्थ : वह भगवान्की गदा हिरण्याक्षकी गदासे टकरानेके कारण भगवान्के हाथसे छूट गई और चक्कर लगाती हुई भूमि पर गिरकर सुशोभित होने लगी यह घटना बहुत अद्भुत सी दीखनेमें आई।।३।।

व्याख्यार्थ: उस दैत्यने अपने ऊपर कौमोदकी गदाको गिरती हुई देखकर उसपर अपनी गदासे प्रहार किया जिससे वह भगवान्के हाथसे छूटकर आकाशमें घूमती हुई चक्कर काटकर पृथ्वी पर गिर गई फूटी नहीं किन्तु भूमि पर चमकने लगी भगवान्के हस्त कौमोदीका छूट जाना एक अद्भुत दृश्य था उसका वर्णन करते हैं कि 'तदद्भुतम्' इस वाक्यसे अद्भुत भी आश्चर्य जैसा था प्रथम तो भगवान्के हाथसे गदाका छूटना ही आश्चर्य था उससे भी कौमोदकी गदा जो आसन्यरूप है उसका छूटना महान् अद्भुत कार्य था दैत्य उस आसन्यरूप(गदा)से मारे जाते हैं. वे(प्रभु) पापियोंका नाश करनेवाले हैं अतः यह घटना आश्चर्यरूप हुई इसका यह भावार्थ है कि भगवान् जब किसीकी भी कामनापूर्ण करना चाहते हैं तब मर्यादाका भी उल्लंघन कर कामनाकी पूर्ति करते हैं यहां यह हुआ है ।।३।।

आभास : यह कार्य भगवान्का ही किया हुआ है यों जतानेकेलिए उसकी(हिरण्याक्षकी) धर्म बुद्धिको कहते हैं यदि यों न होवे तो लोकोमें दोष देनेवाला, भय उत्पन्न करनेवाला, दुष्कर्म करनेवाला दुष्ट दैत्य तब शान्ति धारण कैसे करे, भगवान्के सामर्थ्यसे भी इस अवसर पर शान्त नहीं हुआ अतः शान्तिका कारण उसकी धर्म बुद्धि थी यों इस श्लोकमें बताते हैं:

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम् ।
मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ।।४।।

श्लोकार्थ : उस समय निशस्त्र शत्रुपर वार करनेका(शस्त्र चलानेका) अच्छा अवसर पाकर भी उस हिरण्याक्षने शत्रु पर प्रहार नहीं किया, क्योंकि

हिरण्याक्ष धर्म बुद्धि था, जिससे निःशस्त्र शत्रु पर प्रहार करना अधर्म है यों जानकर प्रहार नहीं किया, केवल भगवान्को कुपित करनेकेलिए यों किया(प्रहार नहीं किया)।।४।।

व्याख्यार्थ: कौमोदकी गदाका भगवान्के हाथसे छूट जानेपर जब भगवान् निःशस्त्र हो गये तब शीघ्र जीते जा सकते थे यों लोक दृष्टिसे जीतका अवसर पाकर भी अशस्त्र भगवान् पर हिरण्याक्षने प्रहार नहीं किया. जब दैत्यको अपनी जय करनेकी इच्छा थी तो भी भगवान् पर वार क्यों नहीं किया(प्रहार क्यों नहीं किया?) इस पर कहा है कि 'मानयन् स मृधे धर्मं' युद्धमें बिना शस्त्रवाले शत्रुको नहीं मारना चाहिए यह धर्म है उस धर्मका परिपालन करनेकेलिए प्रहार नहीं किया(मारा नहीं) इस धर्मसे भगवान्की जय हुई यों प्रतिपादन कर वह धर्म सहजधर्म तो नहीं है उसका यों करनेका अभीष्ट ओर था यों शंका कर कहते हैं. 'विष्वक्सेनं प्रकोपयन्' जिसके चारों तरफ सेना उपस्थित है ऐसे भगवान् हैं इससे उसका भ्रान्तपना(मूर्खता) सूचित किया है. शांत रहना भी जयका सूचक प्रतिपादन करनेवाला है अर्थात् मैंने जय पाई यह प्रकट करता है यों दैत्यकी बुद्धि हो गई कि मेरी जय हुई यह निरूपण किया ।।४।।

इस श्लोकमें कहते हैं कि मनुष्योंने समझा कि दैत्यकी जय हो गई:

गदायाम् अपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते ।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चाऽस्मरद् विभुः ।।५।।

श्लोकार्थ : गदा गिरी लोकोंके मुखसे हाहाकार निकला तब भगवान्ने भी दैत्यके धर्म पालनकी प्रशंसा की. बादमें सर्वसमर्थ प्रभुने सुदर्शनको स्मरण किया।।५।।

व्याख्यार्थ: दैत्यकी गदाके प्रहारसे कौमोदकी छूट जानेसे सर्वत्र लोकमें हाहाकारकी ध्वनि हुई यह हाहाकार भगवान्के हाथसे कौमोदकी छूट जानेके कारण हुआ भगवान्ने भी लोकानुसार उसकी जय अंगीकार की इसको कहते हैं, 'मानयामास तद्धर्मं' कि दैत्यने मुझे शस्त्ररहित देखकर भी मुझ पर जो प्रहार नहीं किया यह धर्म पालन करनेसे हिरण्याक्ष धर्मात्मा है इसलिए इसकी जीत मानते हैं उसमें मेरी भी सम्मति है.

यदि भगवान् इसको(धर्मको) स्वीकार न करें तो वह धर्म फलदायी नहीं होवे. इसके अनन्तर भगवान्ने क्या किया? उसको कहते हैं कि 'सुनाभं चास्मरद्'

सुदर्शन चक्रका स्मरण किया. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि भगवान्ने अपने भावको भी याद किया केवल स्मरण करनेसे स्व(अपना)भाव, भगवत्व सुदर्शन कैसे आ गये? इस पर कहते हैं कि 'विभुः' वह सर्व समर्थ हैं अतः स्मरण मात्रसे सब कुछ मंगवा सकते हैं ।।५।।

आभास : उस समय भगवद्भक्तोंके हृदयमें भी यह विचार आ गया कि दैत्यकी जय हो गई फिर जब भगवान्को शस्त्रधारी देखा तब उनके शरीरमें मानों प्राण आ गए जीवित होके भगवान्को प्रार्थना करने लगे कि शीघ्र इस दुष्टका नाश कीजिए यों इस श्लोकमें कहते हैं :

तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम् ।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां तत्र स्माऽऽसन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति ।।६।।

श्लोकार्थ : जिनके हाथमे शीघ्र आकर चक्र घूमने लगा उस (भगवान्) को अपने मुख्य पार्षद दितिके अधम पुत्र हिरण्याक्षके साथ खेलते देख उनके प्रभावको न जाननेवाले देवता पृथक् प्रकारके शब्द कहने लगे. हे प्रभो ! आपकी जय हो आप अब इसको विशेष न खिलाएं, शीघ्र ही मार डालिए।।६।।

व्याख्यार्थ: आगेकी तरह क्रीडा करनेवाले उनको(भगवान्को) देवोंने देखा सुदर्शनचक्र भी उन भगवान्की क्रीडाको मनसे अच्छा नहीं मानता था और न गदा का गिर जाना ही शुभ समझता था. इस कारणसे सुदर्शन प्रभुके हाथमें घूम रहा था, जब भगवान् सृष्टिके करनेकेलिए प्रवृत्त हुए हैं तब उसको कैसे मारेंगे. क्योंकि सृष्टिमें दैत्य भी पैदा करने है, इस शंका निवारणकेलिए 'दितिपुत्राधमेन' कहा है कि दितिके पुत्रोंमें नीच है. अधम(नीच)से उत्तम सृष्टि उत्पन्न नहीं होगी. नीच इसलिए है कि दैत्योंकी मर्यादाका इसमें अभाव है. इस कारण यह मारनेके योग्य है यों निश्चयकर सुदर्शनका स्मरण किया तो सुदर्शन आकर भगवान्के हाथमें घूमने लगा. भगवान् उत्तम होकर इस अधम दैत्यसे कैसे लडते हैं? सुदर्शन द्वारा ही इसका वध कराना उचित था इस प्रकारकी शंका निवारणकेलिए कहते हैं कि 'स्वपार्षद मुख्येन' दैत्योंमें अधम होते हुए भी अपना मुख्य पार्षद है. अपने मुख्य सेवकसे क्रीडा करना उचित है. युद्धकेलिए इस अपने सेवकके साथ सम्बन्धित हुए थे. इस कारण ही देवता इस क्रीडाके मर्मको न जाननेसे आकाशमें ही स्थित देखनेवाले थे जिससे विचित्र वाणियां कहते. किसीने कहा मारेंगे, कोई कहने लगा नहीं मारेंगे, कोई कहता था मार नहीं सकेंगे, कोई कहने लगे कि

मारनेमें भगवान्‌को कोई भ्रम व रुकावट नहीं इत्यादि. 'स्म' पद प्रसिद्धके अर्थमें है अर्थात् यह प्रसिद्ध है. वे देव दुष्ट असुरकी जयके कारण दुःखी थे जिससे आशीर्वाद देने लगे कि आपकी जय हो, इसको नाश करो. हरिका व देव लोकोंका भक्तोंका कल्याण तथा शत्रुसे जय हो दोनोंकेलिए प्रार्थना करते हैं. दुःखी होनेके कारण देवताओंकी विचित्र वाणियां थीं. दुःखसे वैसे वचन थे, यह वचन तो विचित्र नहीं. 'इति' शब्द प्रकारवाची होते हुए भी तीन वाक्यका निरूपण कर्तव्य होना चाहिए ।।६।।

आभास : इस तरह उसकी प्रसिद्धि जयका निरूपणकर 'सत निशम्य' श्लोकसे १८ श्लोकोंमें युद्धका वर्णन करते हैं. भगवान्‌की लीला सर्व प्रकारकी वाणी प्रतिपादन करनेके योग्य है:

दशभिः सत्ययुद्धं तु मायायुद्धं तथाऽष्टभिः ।
द्विविधेजनाऽपि युद्धेन क्रीडति स्मेति वर्ण्यते ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : दश श्लोकों(७ से १६ तक)से सत्य युद्धका वर्णन किया है वैसे ही(१७ से २४ तक) आठ श्लोकोंमें मायासे किया हुआ युद्ध कहा है।।१।।

दैत्यस्य युद्धसंरम्भः पश्चाद् युद्धं सवाचिकम् ।
प्रतीकारोक्तिभिश्चैवं क्रोधाद् युद्धं पुनस्तथा ।।कारि.२।।

कारिकार्थ : दैत्यने युद्धका उद्योग किया यह ७वें श्लोकमें कहा है, पश्चात् ८वें श्लोकमें वाणीसे युद्ध हुआ अनन्तर उसका उपाय और ऐसे वचन(९वें श्लोकमें) कहे हैं. फिर १०वें श्लोकमें क्रोधसे किए हुए युद्धका वर्णन है, और ११वें श्लोकमें उसका उपाय कहा है।।२।।

ततः पौरुषनाशोऽभूद् भगवल्लीलया रिपोः ।
एवं षड्भिः गदायुद्धं द्वाभ्यां शूलेन चैव हि ।।कारि.३।।

कारिकार्थ : बादमें १२वें श्लोकमें भगवान्‌की लीलामें शत्रुका पौरुष नाश हुआ. इस तरह ६ श्लोकोंमें महायुद्धका और २ श्लोकों(१३वें, १४वें)में शूल युद्ध कहेंगें।।३।।

मुष्टिभिश्च तथा द्वाभ्यां स्वदेवास्त्रात् तथा स्वतः ।
युद्धं निरूपितं तस्य मायासामान्यवर्णनम् ।।कारि.४।।

कारिकार्थ : १५वें और १६वें श्लोकसे मुष्टियोंके युद्धको कहेंगे, तथा दैत्योंकी देव माया है उस अस्त्रसे युद्धका वर्णन करेंगे इसलिए १७वें श्लोकमें

मायाका सामान्य वर्णन है।।४।।

चतुर्भिस्तद्विशेषाश्च तस्याप्युक्ता प्रतिक्रिया ।

मायायुद्धं ततः षड्भिः स्वयं तूत्तरहेतुकम् ।।कारि.५।।

कारिकार्थ : पश्चात् १८वेंसे २१वें तक चार श्लोकोंसे उनके भेद कहे हैं, एवं उनके उपाय भी २२वेंमें कहे हैं इससे मायाका युद्ध ६ श्लोकोंमें कहा, २३वें और २४वें श्लोक तो मृत्युके कारणरूप कहे हैं।।५।।

दुर्निमित्तदृशिर्युद्धं मारणार्थम् इहोच्यते ।

एकेन मारणं चैव मरणं च ततो महत् ।।कारि.६।।

कारिकार्थ : जिनमेंसे २३वें श्लोकमें मृत्युके दुष्ट चिह्न कहे हैं. २४वें श्लोकमें मारनेकेलिए युद्ध कहा है फिर २५वें श्लोकमें मारनेका और २६वें श्लोकमें उत्तम मृत्युका होना कहा है।।६।।

मृतस्य वर्णनं चैव त्रिभिरित्येष सङ्ग्रहः ।

स्तोत्रं भगवतो यानम् उपसंहार एव च ।।कारि.७।।

कारिकार्थ : २७वेंसे २९वें तक तीन श्लोकमें हिरण्याक्षके मरनेका वर्णन किया है. यह सर्वका तत्त्व इकठ्ठा कहा है फिर ३०वें श्लोकमें स्तुति, बादमें ३१वेंमें भगवान्का पधारना कहा है ३२वें श्लोकमें उपसंहार भी किया है।।७।।

माहात्म्यं द्विविधं तस्य श्रवणस्य निरूपितम् ।

गुणोपसंहृतिश्चैव दृष्टान्तार्थम् इहोच्यते ।।कारि.८।।

कारिकार्थ : इस चरित्रके श्रवणका महात्म्य दो प्रकार(प्रत्यक्ष और सिद्ध) से ३३वें तथा ३४वें श्लोकमें और ३५वें तथा ३६वें श्लोकोंमें इस विषयके दृष्टान्तकेलिए गुणोंका समुच्चय(सदाचार पराक्रम आदि) कहा है।।८।।

जातं जनिष्यमाणं च फलम् अत्र निरूप्यते ।

द्वाभ्यां द्वाभ्यां ततः षड्भिः श्रवणस्य फलं ततम्।।कारि.९।।

कारिकार्थ : ३७वें और ३८वें श्लोकमें यहां हुआ और जो होनेवाला फल है सो कहा है. अनन्तर दो-दो श्लोकोंसे इस तरह ६ श्लोकोंसे श्रवणके फलका विस्तार हुआ है।।९।।

आभास : पहले युद्धके उद्योग और भेदसे निम्न दो श्लोकोंमें अपने आयुध गदासे जिस तरह युद्ध किया वह कहते हैं :

स तं निशम्याऽऽत्तरथाङ्गम् अग्रतो व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।

विलोक्य चाऽमर्षपरिप्लुतेन्द्रियो रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ।।७।।

श्लोकार्थ : हिरण्याक्षने देखा कि कमलदल लोचन हरि तो मेरे सामने चक्र लेकर खडे हैं ये तो मुझे मारना चाहते हैं इस विचारके आते ही उसकी सकल इन्द्रियां क्रोधसे तिलमिला उठीं, जिससे वह लम्बी सांसे लेता हुआ अपने दांतोंसे होठ चबाने लगा।।७।।

व्याख्यार्थ: जय प्राप्तिके अनन्तर प्राणीको उत्साह होता है, हिरण्याक्ष भी अपनी जय समझकर उत्साहित हो गया था विशेष उत्साह ही इसलिए हुआ था कि भगवान्को निःशस्त्र समझने लगा. किन्तु अचानक भगवान्के हाथमें युद्धका साधन दूसरा शस्त्र(चक्र) घूमता हुआ देखकर व सुनकर उनका उत्कर्ष जान वह दैत्य कुपित हो गया यद्यपि भगवान्के हाथमें चक्र देखा था फिर भी क्रोधके कारण देखे हुए को भी सुना समझा जाता है. निशम्य पाठ हो तो स्पष्ट अर्थ हो. 'पद्मपलाशलोचनं चक्रायुधः' शब्द देनेका भावार्थ है कि भगवान्की इच्छा थी कि अन्तकालके समय यह मेरे इस स्वरूपका ध्यान करे, इसलिए यह स्वरूप दिखाया अथवा इसलिए कि इस असुरको मालूम होवे कि शत्रुकी जीत होनेपर भी भगवान्के नेत्रोंमे क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ है, भगवान्से इस तरहका बिना क्षोभवाला स्वरूप देख प्रभुका उत्कर्ष न सह सकनेके कारण दैत्यके समस्त अंग क्रोधसे पूर्ण हो गये. इस तरह फिर क्रोध उत्पन्न होनेसे अपने दांतोसे होठको चबाने लगा. भीतर बढे हुए क्रोधसे लम्बी सांस लेने लगा, इस तरह युद्धकेलिए तीन तरहसे उत्पन्न क्रोध ही कारण हैं यों निरूपण किया. इस तरह युद्धकेलिए क्रोधका वर्णन किया।।७।।

उत्कर्षदृष्टौ मात्सर्यात् चक्रदृष्टेस्तु घातकः ।
स्वाभिमानाद् महान् रोषो विलम्बं न सहेत् तथा ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : भगवान्का उत्कर्ष देखनेसे मत्सरता हुई जिससे क्रोध हुआ चक्र देखनेसे ज्ञान हुआ कि यह मारनेवाला है इससे भी क्रोध हुआ किन्तु जयके कारण जो अभिमान हुआ था वह उत्कर्ष और चक्र देखनेसे कम हो जाने लगा जिससे विशेष क्रोध उत्पन्न हुआ अतः युद्धमें विलम्ब न सह सका।।१।।

आभास : इस श्लोकमें युद्धका वर्णन करते हैं :

करालदंष्ट्रश्चक्षुभ्यां व्याचक्षाणो दहन्निव ।
अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद् हरिम् ।।८।।

श्लोकार्थ : उस समय तीखी दाढोंवाला वह दैत्य भगवान्के सामने यों घूरकर देखने लगा मानों उनको भस्म करता है फिर उछल कर कहने लगा कि अब ही तू मरा यों कहते हुए उसने हरि पर गदासे प्रहार किया।।८।।

व्याख्यार्थ: वह भयंकर दाढोंवाला था. उसकी दाढों पर यम आकर स्थित हुआ इससे यह सूचित किया कि दैत्य युद्धकेलिए अपनी आधिदैविक सामग्री भी लाया था. 'चक्षुभ्यां व्याचक्षाणः' पदसे बताया है कि अपनी सम्पूर्ण दृष्टि भगवान्में ही लगा दी थी. यों कहनेसे यह भी सूचित किया है कि उसने दूसरी तरफसे दृष्टि हटा ली थी इसलिए अन्य विचारसे भी यह युद्ध न करेंगे ऐसी शंका मिटा दी थी. दैत्यकी दृष्टि शुद्ध नहीं थी इसको बतानेकेलिए 'दहन्निव' मानो दृष्टिसे ही जला रहा है, 'इव' कहनेसे यों सूचित किया कि अपनी अविद्याको व संसारको जला रहा है, रूपकी तरह उष्ण स्पर्श नेत्रको भी हुआ इसलिए 'दहन' यों कहा अथवा अग्नि अपने आश्रयको(आश्रित पदार्थको) जलाकर फिर दूसरेको जलाती है इसलिए 'इव' कहा है. इसी तरह क्रूर दृष्टिसे देखकर गदा ले सामने जाकर 'अहतोऽसीत्यहनत्' नहीं मरा यों कहकर हरि पर गदाका प्रहार किया यह हरि यज्ञरूप हैं, अतः जैसे ''स्वधिते मैनं हिंसीः इति न वा उ वैतन्म्रियसे इव वेदेन अहनत्'' जैसे वेदमें कहा है, हे कुल्हाडी इसको मत मार यह सचमुच मरता नहीं यों विरुद्ध कहकर प्रहार किया विरुद्धरीतिसे क्यों कहा? इस शंका निवारणकेलिए कहा कि 'हरिः' यह हरि है. अर्थात् जो स्वयं सर्वके दुःखोंका हरण करते हैं वे कैसे मारे जायेंगे? अथवा जो युद्ध तो करते नहीं हैं उनको कैसे मारता है? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि 'अहतोऽसीत्यहनत्' पहले आप सर्व प्रकारसे प्रहार किये हुए हैं. कितने ही कहते हैं कि मुखसे मारकर फिर मारता है(प्रहार करता है). स्तुतिकेलिए यदि अर्थ किया जाय तो ''हतोऽसि प्राप्तोऽसि इत्यगमद् इत्यर्थः'' आप मुझे प्राप्त हुवे हो यों कहकर भगवान्के पास गया. ऐसा तात्पर्य है ।।८।।

आभास : इस तरह उसके युद्धका वर्णन कर निम्न श्लोकमें इसका प्रतिकार(उपाय) कहते हैं जिससे युद्ध निष्फल हो अर्थात् दैत्यकी जय न हो:

पदा सव्येन तां साधो! भगवान् यज्ञसूकरः ।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद् वातरंहसम् ।।९।।

श्लोकार्थ : हे साधु ! यज्ञ स्वरूप वराह भगवान्ने शत्रुके देखते-देखते ही

लीलासे अपने बांए पैरसे उसकी(शत्रु-हिरण्याक्षकी) वायुके वेगके समान वेगवाली गदा पृथ्वी पर गिरा दी।।९।।

व्याख्यार्थ: पीछेका वामपाद जो बांया पैर कहा जाता है, खेलते-खेलते उस पैरके प्रहारसे भगवान्ने उसकी गदाको पृथ्वी पर गिरा दिया. हे साधो! विदुरजीको यह सम्बोधन विश्वासकेलिए दिया है अथवा साधुओंकी रक्षाकेलिए यों किया, इसकी सूचना दी. 'भगवान्' शब्दसे यह सिद्ध किया है कि अपमान पूर्वक गदाको गिरा दो, ये प्रभु हैं उनमें सामर्थ्य विद्यमान है. 'यज्ञसूकरः' पदसे यह बताया है कि इसकेलिए ही मैंने अवतार लिया है इसलिए अवश्य उपाय कर बदला लेना चाहिए. 'लीलया' पदसे खेलते हुए तथा दैत्यके देखते हुए गदा गिराई जिसका कारण इसको कुपित करना था वायुवत् वेगवाली कहनेसे गदाकी उत्कृष्टता दिखाकर यह सूचित किया कि निष्फल होनेवाली नहीं थी ।।९।।

आभास : इस प्रकार प्रतिकार करते हुए क्रोध पैदाकर वाणीसे भी क्रोध उत्पन्न किया यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

आह चायुधमादत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।
इत्युक्तः स तया भूयः ताडयन् अनदद् भृशम् ।।१०।।

श्लोकार्थ : फिर भगवान्ने उसको कहा कि तू जीतना चाहता है तो शस्त्र ले ले, और अब भी युद्ध कर भगवान्के यों कहने पर उस दैत्यने शस्त्र ले फिर प्रहार करता हुआ जोरसे गर्जना करने लगा।।१०।।

व्याख्यार्थ: भगवान्ने भी कहा कि 'शस्त्र ले' उसके बाद युद्ध कर अथवा युद्धकेलिए तैयार हो जाओ क्योंकि तू जीतना चाहता है. भगवान्ने ये तीनों ही वचन उसके अभिमानको तोडनेकेलिए कहे, क्योंकि गिरे हुए शस्त्रको वह लेता है जिसको अपने स्वरूपका अभिमान नहीं होता है. हार(पराजय)के बाद युद्ध करना निर्लज्जोंका कार्य है और जो पराजित(हारा हुआ) कहे कि मैं जितूंगा वह मुर्ख है. भगवान्के इन व्यंग वचनोंका तात्पर्य क्रोधके कारण न समझनेसे वह दैत्य भी उस ही गदासे फिर प्रहार करता हुआ जोरसे गर्जना करने लगा, यह उसका दूसरा युद्ध मध्यम भावसे हुआ ।।१०।।

आभास : इसका भी उपाय निम्न श्लोकमें कहते हैं:

स ताम् आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः ।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ।।११।।

श्लोकार्थ : गदाको अपनी ओर आते देख भगवान् सावधान हो वहींसे उस आती हुई गदाको बिना श्रमके खेलकी तरह यों पकड लिया जैसे गरुड आती हुई सर्पिनको पकड लेता है।।११।।

व्याख्यार्थ: दैत्यने यों समझ लिया कि यह गदा पृथ्वी पर दैवगतिसे गिर गई है भगवान्ने इसको अपनी चतुराईसे नहीं गिराया है यों निश्चय कर उसने फिर प्रहार किया. यह जानकर भगवान्ने उसको निष्फल बनानेकेलिए दूसरा उपाय किया जिसे बताते हैं, गदाको अपने उपर आती हुई देख आप तिरोहित आदि चेष्टा न कर जैसे खडे थे वैसे ही सावधान हो गये. अनन्तर ऊपर पडनेवाली गदाको बिना परिश्रम पकड लिया दोनोंका अभिप्राय प्रकट करते हुये कहते हैं जैसे गरुड आती हुई सर्पिनको पकड लेता है. सर्पिन तो गरुडके बच्चोंको खानेकेलिए शीघ्र आती थी गरुडने समझा कि मुझे भोजन मिल गया इसलिए गरुड उसको लड्डुकी तरह पकड लेता है ऐसे वेगसे मारनेकेलिए आती हुई क्रीडाकेलिए पकडा वैसे ही भगवान्को भी यह यों मिला, जैसे गरुडको सर्पिन ।।११।।

आभास : इस तरह प्रतिकार(उपाय) कहा जिससे इसका मध्यमभाव भी गया अर्थात् युद्धका मध्यम प्रकार भी समाप्त हुआ यों इस श्लोकमें कहते हैं :

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।
नैच्छद् गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ।।१२।।

श्लोकार्थ : अपना उद्यम व्यर्थ हुआ देख वह महान् असुर गर्व रहित और कांति हीन हो गया था, अतः भगवान्ने गदा दी तो भी नहीं ली।।१२।।

व्याख्यार्थ: पुरुष अपने पौरुषके कारण स्वतन्त्र है वह पौरुष दूसरेके प्रतिबन्ध बिना स्वतन्त्र होता है, वह पौरुष जब फिर अन्य पुरुषके बलसे रुक (दब) जाता है तब नष्ट हो जाता है जिससे बाहर अपना तेज नहीं दिखा सकता है, अर्थात् अपना कार्य नहीं कर सकता है, इसका पौरुष तो पहले ही नष्ट हो चुका था अब ज्ञात हुआ है. अथवा बलवान्ने उसके पौरुषको दबा दिया. 'स्व' शब्दसे यहां गदाने किया फिर गदा द्वारा हिरण्याक्षमें आया. वह क्षत्रिय है इसलिए यह शस्त्र द्वारा ही इसमें अभिमानका आगमन होता है वह ही इसमें मुख्य है अतः शस्त्र निष्फल हो जानेपर इसका गर्व भी नष्ट हो गया. गर्व न रहने पर इसने अन्यका आश्रय लिया. असुर तो क्रूर होता ही है उसमें शरीर बल भी स्वाभाविक रहता है फिर तो यह महान् असुर है तथा असुरोंके देवसे वर भी लिया हुआ है

इसलिए इसमें द्विविध पौरुष शेष रहे थे, इस कारण भगवान्ने गदा देनी चाही तो भी नहीं ली यदि लेता तो कुछ समय लड भी सकता, ऐसी दशामें गदा क्यों न ली, इस पर कहा है कि वह गदा भगवान्के सम्बन्धवाली थी, अन्यदेवका सामर्थ्य मुझको है यों भासने लगा. अतः गदा नहीं ली यों समझकर ही भगवान्ने गदा देनी चाही थी, अथवा गदा लेवे तो इसको दूसरे देवका सम्बन्ध न होवे, विशेषरूपमें तो गदा देनेका मुख्य कारण 'हरि' नाम है. 'हरि' सर्व दुःखहर्ता होनेसे इस पर भी गदा देके दया करना चाहते हैं. पहले इसमें वैष्णव तेज स्थित था, इसलिए कान्ति भी थी, वह गदा द्वारा भगवान्में चली गई यदि वह गदा फिर लेवे तो पुनः कान्तिमान बन जावें, न लेनेसे इसकी सम्पूर्ण कान्ति नष्ट ही रही अर्थात् तेजरहित हो गया ।।१२।।

आभास : तब अर्थात् सर्वथा बलरहित हो जाने पर अन्य देवके वरदानसे प्राप्त किये हुए त्रिशूलको ग्रहण किया, यों इस श्लोकमें कहते हैं :

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा ।।१३।।

श्लोकार्थ : जैसे विप्रके नाशार्थ मंत्रका प्रयोग किया जाता है, वैसे देहधारी यज्ञपुरुषके नष्ट करनेकेलिए जलती हुई आगकी तरह जलाके भस्म करनेवाला तीन शिखावाला शूल इसने ग्रहण किया।।१३।।

व्याख्यार्थ: 'शूल' उसको कहा जाता है जिसकी नोक(अग्रभाग) सूची(सूई)के समान तीक्ष्ण होती है फिर वह तीन नोकवाला था वे तीन नोक भी तीक्ष्ण बींधनेवाली थीं इसलिए शूलको 'त्रिशूल' कहा है. न केवल बींधनेवाला था किन्तु अग्निके समान जलानेवाला भी था. यों सूचित करनेकेलिए 'शिखा' शब्द दिया है. यदि वैसा न होता तो देवतासे प्राप्य न होता, जलती हुई आगकी तरह वह भी जलानेवाला(नाश करनेवाला) था, इससे यह सूचना दी है कि सुदर्शनकी तरह इसको भी लज्जा सी हुई यदि ऐसा न हो तो स्वयं ही उपाय करनेकेलिए प्रवृत्त हो जाता, वह (प्रवृत्त) न हुआ इससे समझा जाता है स्वयं प्रवृत्त होनेसे उसने संकोच किया, किन्तु जब देवताकी प्रेरणा होने लगी तब प्रवृत्त हुआ इससे यों सूचित होता है. अथवा इसके भीतर कृत्यारूपा तामसी शक्ति मौजुद थी इसलिए यह अग्निके समान जलानेवाला था किन्तु देवताकी शक्ति अन्य पर चलती है न कि अपने उपकारक पर चलती है. सर्व देवताओंका उपकार

यज्ञपुरुष ही है उसमें भी फिर साक्षात् प्रकट स्वरूपधारी उससे विरोध करनेमे आवे तो अपनी आत्मा हीन रहे. उपकारकको मारनेकेलिए उसी देवतासे जो प्रयत्न करता है वह मूर्ख है. उपकारकत्व दृष्टान्तसे स्पष्ट करते है 'विप्रायाभिचरन् यथा' विप्रको(ब्राह्मणको) मारनेकेलिए जैसे मन्त्रोंसे अभिमन्त्रादि प्रयोग किया जावे. भगवान् उपकारक हैं यह दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं, विप्रोंको मारनेकेलिए जो अभिचार किया जाता है वह मन्त्रोंसे करनेमें आता है. वे मन्त्र ब्राह्मणाधीन हैं,जो मन्त्र ब्राह्मणाधीन हैं उनसे ही ब्राह्मणों पर अभिचार करना अनुचित है. वैसे देवताएं यज्ञपुरुषके आधीन हैं उसके द्वारा उसका(यज्ञका) नाश कराना अनुचित है. अर्थात् हो भी नहीं सकता है ।।१३।।

आभास : उसके अनन्तर क्या हुआ ? इसकी आकांक्षा होने पर श्लोक कहते हैं :

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं चकासद् अन्तः ख उदीर्णदीधिति ।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्त्रम् उज्झतम् ।।१४।।

श्लोकार्थ : महान् बलवान उस(हिरण्याक्ष दैत्य)का ओजपूर्वक छोडा हुआ वह तेजस्वी त्रिशूल जब आकाशमें बहुत तेजीसे चमकने लगा. तब भगवान्ने उसको तीखी धारवाले अपने चक्रसे ऐसे काट डाला जैसे इन्द्रने गरुडजीके छोडे हुए पंखको काट डाला।।१४।।

व्याख्यार्थ: यहां देवतासे प्राप्त मनमें स्थित तेजको 'ओज' अर्थात् बल कहा है, देवताकी मुख्यता प्रसिद्ध करनेकेलिए दैत्यको भट(योद्धा) कहा है, फिर महान् योद्धा इसलिए कहा है कि इसमें ऐसी सामर्थ्य है जो देवता इसको प्रेरणा करे. दैत्य इसलिए कहा गया है कि भगवान्से यह विरोध करनेवाला है इसका ज्ञान ही 'अर्पितं' पदसे बताया है कि समर्पण किया है. यदि समर्पण न किया होता तो अन्यदेवका भजनरूप दोष प्राप्त हो जाता यों तात्त्विक अर्थ है. वह आकाशमें चमक रहा था, जिससे उसके भीतर तेज बढ गया था बढे हुए तेजवाला होनेसे शोभने लगा. आकाशमें रुद्रों, जो अन्तरिक्ष देवोंसे उनकी वहां शोभा है भीतर तेजका बढना कहनेसे उस देवताके उत्साहको जताया है. अपने स्थान पर उसका बल बहुत होता है. अन्य स्थान पर उसका बल क्षीण होना उचित ही है इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि 'तत्रैव चक्रेण चिच्छेद', वहां(अन्तरिक्षमें ही) चक्रसे काट डाला, दोनों एक समान जातिवाले होनेसे परस्पर कैसे काट सके?

इस पर कहते हैं कि 'निशातनेमिना' चक्रकी धार तीक्ष्ण होनेसे काट सके. फिर शंका करते हैं कि अन्य कल्पमें सुदर्शन महादेवका अंशरूप था महादेवने अपने ही त्रिशूलको कैसे काटा? जिसका उत्तर देते हैं कि 'हरि' सर्वके दुःखोको नष्ट करनेकेलिए हरिने यों किया, यदि कहो कि भगवान्का भी देवताका अतिक्रम करना उचित नहीं था इस पर कहते हैं कि जैसे इन्द्रने गरुडके स्वयं गिराये पंखको तोड डाला(गिराया) उसी तरह हरिने भी किया, वज्र भी निष्फल होनेवाला नहीं और गरुड भी मरनेवाला नहीं इसलिए दोनोंकी रक्षाकेलिए उसने(गरुडने) एक पंखका त्याग कर दिया, उसी तरह भगवान् महादेवने भी सुदर्शनके सत्यत्वकी रक्षार्थ शूल त्याग दिया. इस कारण कोई विरोध नहीं है. शूलमें विद्यमान देवता अन्यत्र चला गया इस तरह देवबलका भी निराकरण किया ।।१४।।

आभास : अनन्तर हिरण्याक्षने अपना बल प्रकट किया यों कहते हैं :

वृक्णे स्वशूले बहुधाऽरिणा हरेः प्रत्येत्य विस्तीर्णम् उरो विभूतिमत्।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना नदन् प्रहृत्याऽन्तरधीयताऽसुरः ।।१५।।

श्लोकार्थ : सुदर्शनके द्वारा अपने त्रिशूलके बहुतसे टुकडे हुए देखकर क्रोधपूर्ण हो गया जिससे भगवान्के पास आकर उनके लक्ष्मीके चिह्नवाले विशाल वक्षःस्थल पर बहुत जोरसे कसकर घूंसा मारा और फिर जोरसे गर्जना कर अन्तर्हित हो गया(छिप गया)।।१५।।

व्याख्यार्थ: देवता तिरोहित हो जानेसे त्रिशूल हिरण्याक्षका ही रहा अतः शत्रुने अर्थात् सुदर्शनचक्रने उसके(शूलके) टुकडे-टुकडे कर दिये. उसकी(सुदर्शनकी) सामर्थ्य पहले कही गई है. 'हरेः' पदसे यह सूचित किया है कि भगवान्के सम्बन्धि होनेसे जो सामर्थ्य उसमें आई जिससे उपजीव्यका (उपकारक)का विरोध नहीं हुवा है. 'विभूतिमत्' पदसे जताया है कि लक्ष्मीके लोभके कारण ही मेरी उपेक्षा की है, इसीलिए ही लक्ष्मीका निवास स्थान हरिके विशाल वक्षःस्थल पर घूंसा मारते ही छिप गया, यों सम्बन्ध है, विरोधी होकर पास आया इससे मोक्षका अभाव सूचित किया है यदि विरोधी होके न आता तो "**मामुपेत्य तु कौन्तेय**" इस वचनानुसार भगवान्के पास जानेवाला तो समर्थ ही होता है. 'उर' पदसे मर्मस्थान कहा है, 'विस्तीर्ण' शब्दसे दिखाया है कि उसका समग्र घूंसेका प्रहार वक्षःस्थल पर बराबर हुआ, अथवा विशाल होनेके कारण घूंसेके प्रहारसे उसको बचा न सके जब शस्त्र शूल ही टूट गया काम न कर सका

तो घूंसा क्या कर सकेगा? इसके उत्तरमें कहा है कि 'प्रवृद्ध रोषः' दैत्यको बहुत क्रोध आ जानेसे विचार न कर सके, क्रोधके बढ जानेसे विवेक नष्ट हो गया जिससे विचार करनेकी प्रवृत्ति भी न हुई. घूंसेको साधन इसलिए समझ लिया कि वह कठोर था इससे(कठोर होनेसे)(घूंसे व असुरके) महत्वकी सूचना की है. 'गर्जता हुआ' इससे अपना परिचय कराया कि मैं सावधान हूं किन्तु समस्त बलके नष्ट हो जाने पर प्रतिकार(उपाय) करनेमें अपनेको असमर्थ समझ प्रहार कर छिप गया क्योंकि असुर था ।।१५।।

आभास : छिप जानेसे उसका(प्रहारका) उपाय नहीं हुआ तो प्रहारसे क्या हुआ इसको जाननेकी इच्छा हो तो वह निम्न श्लोकमें बताते हैं :

तेनेत्थम् आहतः क्षत्तः भगवान् आदिसूकरः ।
नाऽकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः।।१६।।

श्लोकार्थ : हे संयमी विदुरजी ! जिस प्रकार हाथी पर फूलोंकी मालाकी चोटका कोई असर नहीं होता है उसी प्रकार हिरण्याक्षके घूसां मारनेसे भगवान् आदिवराहको स्वल्प भी कम्प नहीं हुआ इससे टससे मस नहीं हुए।।१६।।

व्याख्यार्थ : विदुरजी विवेकी हैं यों जतानेकेलिए 'क्षत्तः' सम्बोधन दिया है. जैसे पुत्र पिताको ताडना करे अथवा स्त्री पतिके ऊपर पुष्पमालासे प्रहार करे. उसी प्रकारका यह घूंसेका अकिञ्चितकर प्रहार था क्योंकि आप भगवान् (ऐश्वर्यादि षड्गुण सम्पन्न) हैं, यदि अब भगवान् अवतार दशामें हैं ऐसा विचार करने पर भी घूंसेके प्रहारसे कुछ हानि नहीं उसमें(अवतारोंमें) भी आदिसूकर अवतार स्वयं अति कठोर है. अतः स्वल्प भी कम्पायमान न हुए, पशु आदि देहों पर पक्षियोंके बैठनेसे कम्प होता है. प्रहारका अधम कार्य कम्पन वह भी शरीरके अल्प भागमें होता है, उसमें भी श्वास चलनेकी तरह जैसे देहमें कुछ कम्प सा होता है वैसे थोडा उतना भी भगवान् वराहको घूंसेके प्रहारसे न हुआ कारण होने पर कार्यका न होना कैसे सम्भव है? इस पर कहते हैं कि 'स्त्रजा हत इव द्विपः' पुष्पमालाके प्रहारसे हस्ती नहीं कांपता है, वह सकल प्रहार दुःखको पैदा नहीं करता है, महान् प्रहार अल्पको दुःख दे सकता है. किन्तु अल्प प्रहार बडेको दुःख नहीं दे सकता चालू प्रसंगमें भी यों समझना चाहिए ।।१६।।

इस प्रकार सहज युद्ध कहकर इस श्लोकमें मायिक युद्ध कहते हैं :

अथोरुधाऽसृजन् मायां योगमायेश्वरे हरौ ।

यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ।।१७।।

श्लोकार्थ : अनन्तर उस मायावी दैत्यने मायापति श्रीहरि पर अनेक प्रकारसे मायाका प्रयोग किया जिनको देखकर प्रजाएं डर गईं समझने लगीं कि अब संसारका नाश होनेवाला है।।१७।।

व्याख्यार्थ: अन्य प्रकारसे दैत्योंका उपास्य(उपासना करने योग्य) अनेक प्रकारकी मायाको रचा जैसा कि श्रुतिने कहा है ''**मायेत्यसुराः तद्धैतान् भूत्वा अवति**'' माया ये असुर हैं, वे पैदा होकर इसकी रक्षा करते हैं, इस श्रुतिके अनुसार भगवान्को मोहित करनेकेलिए इसने(हिरण्याक्षने) मायाको रचा क्योंकि यह मूर्ख था मायाकी रचना अन्यको मोहित करनेकेलिए करनी जिस पर अपना प्रभाव प्रकट कर सके. योगमायाके ईश्वरकेलिए मायाकी रचना व्यर्थ एवं मूर्खता है. सर्व माया योगमायाका अंश है उस योगमायाके भगवान् ईश्वर अर्थात् नियामक हैं, उस पर भी सर्वके दुःखोंको हरनेवाले हैं, दूसरी मायाएं(योगमायाके सिवाय) प्राणियोंको दुःख देनेवाली है अतः विचारपूर्वक दूसरोंको दुःख देनेवाली तथा छिपी हुई मायाको भी भगवान् नाश करते हैं. ऐसे संयोगमें यदि अपनी सर्वस्वरूप चिन्मायाको(जीवकी माया)को भगवान्के ऊपर प्रयोग करना चाहे तो क्या उसको मारकर अपना सर्वस्व ही नाश करना चाहे यों उसकी दुर्बुद्धि प्रतिपादनकेलिए दो पद सप्तमी विभक्तिके दिये हैं. जब यों है तो मायाका प्रयोग क्यों किया? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि, लोकमें जय पानेकेलिए माया उत्तम साधन है उसका स्वरूप तथा उसके गुण कहने चाहिए उनमेंसे पहले गुणोंको कहते हैं 'यां विलोक्य इति' जिस मायाको देखकर सकल प्रजा अपना नाश होगा इस शंकासे पहले डर गई फिर उसको(मायाको) बढी हुई देख जगत्का नाश हुआ मानने लगी अर्थात् जगत्का प्रलय ही हुआ यों समझने लगी ।।१७।।

आभास : इस श्लोकमें तामसी मायाका स्वरूप कहते हैं :

प्रववुर्वायवश्चण्डाः तमः पांसवम् ऐरयन् ।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ।।१८।।

श्लोकार्थ : बडी प्रचंड आंधी चलने लगी, जिसके कारण धूलसे सब ओर अन्धकार छा गया, चारों तरफसे पत्थरोंकी वर्षा होने लगी वह भी यों जान पडती थी कि मानो किसी यंत्रसे फेंके जा रहे हैं।।१८।।

व्याख्यार्थ: जो सहन न हो सके ऐसी भीषण वायु चलने लगी. चारों तरफ

मायाओंने धूलसे अंधकार फैला दी, तब धूलकी वर्षा होने लगी जिससे गाढ अन्धेरा हो गया. तीसरा रूप कहते हैं. दिशाओंसे पत्थर गिरने लगे, वे पत्थर वर्षामें जैसे बरफके गडे गिरते हैं वैसे नहीं गिरने लगेंगे किन्तु जैसे दुर्ग(किले)में रखे हुए यन्त्रसे व गुलेलसे अथवा औषधके(बारूदके) बलसे गिराये जाते हैं जिनके पडनेसे प्राणी मर जाते हैं. उसी तरह गिरते थे, यह माया तामसी तीन तरहकी थी ।।१८।।

आभास : इस श्लोकमें राजसी मायाके स्वरूपका वर्णन करते हैं :

द्यौर्नष्टभगणाऽभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चाऽसकृत् ।।१९।।

श्लोकार्थ : बिजलीकी चमक तथा कडकके साथ बादलोंके समुहोंसे, आकाशमें ग्रहगण छिप गए, और उनसे लगातार पीव, केश, रुधिर, विष्ठा, मूत्र तथा हड्डीयोंकी वर्षा होने लगी।।१९।।

व्याख्यार्थ: स्वर्ग(आकाश)में बादलोंसे ग्रहगण छिपे हुए हैं यों जाना जाता है. 'अभ्रौघैः' पदसे मेघोंकी दूसरी जातियां भी कही हैं. वे सात्त्विक मेघ, बिजली और गर्जना दोनोंसे युक्त थे, राजस बिजली और तामस गर्जना दोनोंका मिलाप प्राणियोंके गर्भका वध करनेके वास्ते कहा है. मेघोंका कार्य कहते हैं, पीव आदि छः प्रकारके मल बरसाने लगे, उनमें तीन मल पीव, केश और रुधिर एक प्रकारके थे, जो भयानक एवं घृणा उत्पन्न करनेवाले थे. और विष्ठा, मूत्र एवं हड्डियां केवल घृणाजनक थे. 'च' पदसे सूचित किया है कि अन्य भी भयानक पदार्थ बरसाते थे, 'असकृत्' बार-बार बरसाते थे यों कहकर बताया है कि मेघोंका यह सहज धर्म है ।।१९।।

आभास : निम्न श्लोकमें सात्त्विक मायाका वर्णन करते हैं :

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ।।२०।।

श्लोकार्थ : हे निष्पाप! अनेक प्रकारके शस्त्र और अस्त्र फेंकते हुए पर्वत देखनेमें आए. हाथमें त्रिशूल और खुले हुए बालोंवाली नग्न राक्षसियां दीख रही थीं।।२०।।

व्याख्यार्थ: पर्वत तलवार आदि अनेक प्रकारके आयुध(हथियार) फेंक रहे थे. स्वयं मारते थे और साधनसे भी मारते थे. हे अनघ! यह विशेषण विदूरको

देकर सूचित किया है कि आप विश्वासु तथा निर्भय हो, सात्त्विक मायाके आधिदैविक स्वरूप बताते हैं– राक्षसियां स्वभावसे भयानक, नग्न होनेके कारण स्वरूपसे अमंगलसूचक त्रिशूल धारण करनेसे अपने साधनसे घातकपन प्रकट कर रहीं हैं. केश खुले किये थे जिससे रूपसे भी भयानकता प्रकट कर रहीं थीं ।।२०।।

आभास : इस श्लोकमें लौकिक प्रकारसे भी मायाका युद्ध उपयोगी स्वरूप कहते हैं :

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्यश्वरथकुञ्जरैः ।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः ।।२१।।

श्लोकार्थ : पैदल, घुडसवार, रथी और हाथियों पर चढे हुए यक्ष और राक्षस आदि हिंसक और घातकी वाणी कह रहे थे।।२१।।

व्याख्यार्थ: यक्ष और राक्षसोंमें जो भेद होता है वह आगे स्पष्ट किया जायेगा. 'बहुभिः' पदसे इनकी अन्य जातियोंकी सूचना दी है, दैत्यपनसे ये योद्धा हैं ही. स्वभावसे चार प्रकारकी सेना होती है वह बताते हैं पैदल, घुडसवार, रथी, हाथी पर चढे हुए ये सेनाके अंग हैं, इसी तरह रूपसे ही उनका घातकपन कहकर, वाक्योंसे भी वैसे ही हैं. सबोंके हाथोंमें शस्त्र थे और वाणीसे जोरसे, हिंसक शब्द मारो–मारो काटो–काटो कहते जाते थे वे शब्द स्वरूपसे हिंसा करनेवाले थे. जैसा कि खट–फट जल्दी नाश करो आदि शब्द और प्राणियोंका घात करनेके समय बोले जानेवाले मन्त्ररूप शब्द जिनसे मनुष्य तथा पशु मारे जाते हैं ।।२१।।

आभास : इस तरह मायाके चार प्रकारके रूप कहकर इस श्लोकमें उसका उपाय कहते हैं :

प्रादुष्कृतानां मायानाम् आसुरीणां विनाशनम् ।
सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ।।२२।।

श्लोकार्थ : आसुरी मायाओंका नाश करनेकेलिए उनका नाशक अपने प्रिय सुदर्शनास्त्रको यज्ञरूप भगवान्ने तैयार कर उन पर छोडा।।२२।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि उसने मायाओंका प्रयोग किया किन्तु भगवद्भयसे कितनी ही प्रकट नहीं हुईं उनका तो नाश नहीं किया, जो प्रकट हुईं और अपनी सजातियोंके प्रतिबन्धकेलिए ही प्रकटी थीं उनका भी नाश नहीं किया, शेष जो आसुरी थीं जो ही विशेष नाश कर रही थीं जिनका अन्यत्र उपयोग न होनेसे वहां ही उत्पत्ति हुई थी, उनकेलिए शस्त्ररूप सुदर्शनमें मन्त्ररूप सुदर्शन स्थापित कर

फिर उन(आसुरियों) पर फेंका. वह देवता सात्त्विकी होनेसे उनको कैसे मारेगा? अर्थात् नहीं मारेगा इस शंकाका निवारण करनेकेलिए कहते हैं कि,'दयितं' वह भगवान्का अत्यन्त प्यारा है जिसकेलिए प्यारे भगवान्का हित जिसमें हो वह कार्य अवश्य करेगा ही. ''त्रिपाद् यज्ञः सवनत्रयात्मकत्वात्'' यज्ञ तीन सवनरूप है, अर्थात् यज्ञपुरुषकेलिए जो सवन(सोमरस) निकाला जाता है. वह प्रातः मध्याह्न और सायं तीन समयमें निकालनेसे इसको(यज्ञको) सवनत्रयरूप कहनेमें आता है, यज्ञकी उत्पत्ति तब होती है जब मायाका विशेष रीतिसे अर्थात् पूर्णनाश हो इसलिए इसका(मायाका) नाश आवश्यक था, यज्ञकी सिद्धि दूसरेसे हो नहीं सकती, इसलिए भगवान् पद दिया है अर्थात् भगवान्ने ही यह कार्य अपने लिये किया जो अन्यसे होनेका नहीं था ।।२२।।

आभास : इस तरह माया द्वारा किये हुए युद्धका और उसकी कामना पूर्णका वर्णन किया, अनन्तर भगवान्ने उसको मारनेकी इच्छा की तब उसके मृत्यु सूचक दुष्ट चिह्न व कारण होने लगे जिनका वर्णन निम्न श्लोकमें कहते हैं :

तदा दितेः समभवत् सहसा हृदि वेपथुः ।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे ।।२३।।

श्लोकार्थ : उस समय पतिके भविष्यवाणीका स्मरण हो आनेसे दितिके हृदयमें सहसा कम्प होने लगा और उसके स्तनोंसे लहू बहने लगा।।२३।।

व्याख्यार्थ : अपने स्थान पर बैठी हुई दितिके हृदयमें उस समय कम्प हुआ, जब भय पहले कारणमें प्रवेश कर, फिर कार्यमें आता है तब वह स्थिर होता है, इसलिए वैसे कहा है. 'वेपथुः' कांपना सर्व प्रकारसे अप्रिय करनेवाला है यों प्रथम कहा है. इस कम्पसे समझ गई कि अब पुत्रकी मृत्यु होनेवाली है, उसको कहते हैं 'स्मरन्त्या भर्तुरादेशम्' पतिका वाक्य स्मरण हो आया, ''तदा विश्वेश्वरः क्रुद्ध'' विश्वके ईश्वर कुपित हुए हैं ये पतिके वचन स्मरण आते ही हृदयमें अचानक कम्प होने लगा, जिससे पुत्रका अब नाश होगा यों निश्चित समझ गई, और दुष्ट निमित्त होने लगे जैसे कि स्तनोंसे रक्त बहने लगा, यह खून बहना पुत्रनाशका सूचक है, स्तनोंसे तो दूध बहता है जो पुत्र पोषक है वह न बहकर खून बहता है वह उनका नाशक है ये निश्चय. 'च' पदसे कहते हैं कि हृदय भी यह ही सूचना देता है ।।२३।।

आभास : इस तरह मृत्यु सूचक निमित्त(अपशकुन) होने लगे. माया भी

नाश हुई, सर्व प्रकारका पौरुष भी नाश हुआ ऐसी दशा हो जाने पर अक्लिष्ट कर्मा भगवान् उसको कैसे मारें ? अतः उसने भगवान् पर फिर अतिक्रमण किया जिससे भगवान्को मारनेका अवसर मिला, यह इस श्लोकमें कहते हैं :

विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ।।२४।।

श्लोकार्थ : अपनी मायाओंका नाश हो जाने पर, फिर भगवान्के पास आकर उनको क्रोधसे दबाकर भुजाओंमें ले लिया किन्तु देखा तो वे बाहर ही खडे थे।।२४।।

व्याख्यार्थ : अपने भागमें जितनी मायाएं आईं वे सकल ही नाश हो गईं यों 'स्व' पदसे सूचित किया है, पहले घूंसा मारनेके समय जैसे आया था, फिर भी वैसे ही आकर क्रोधसे भगवान्को भुजाओंमें इसलिए पकडा कि इसको दूसरे स्थान पर ले जाउंगा, तब भगवान् सूक्ष्म बन उसकी भुजाओंसे निकल गए और देखा तो बाहर निकट ही खडे हैं ।।२४।।

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ।।२५।।

श्लोकार्थ : वह भगवान्को वज्रके समान कठोर मुक्कोंसे मारने लगा, तब जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था उसी तरह भगवान्ने उसकी(दैत्यकी) कनपटी पर हाथसे एक प्रहार किया।।२५।।

व्याख्यार्थ : यों होने पर भी भगवान्ने मारा नहीं तब दैत्यने फिर मुक्कोंसे भगवान् पर ऐसे प्रहार किया जैसे बलाक माता व पिताको प्रहार करता है जोरसे प्रहार मारनेके कारण हुआ, फिर दूसरा कारण 'वज्रसारैः' विशेषणसे कहा है कि वे मुक्के वज्रके पातसे भी कठिन थे, भगवान्को इसके प्रहारों पर दुःख हुआ इसलिए भगवान्ने इसको मारा यों नहीं है, यह भगवान्का 'अधोक्षज' नामसे सूचित किया इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न कर्मका ज्ञान भगवान् तक पहुंचते नहीं इसलिए हाथसे मुक्कोंका प्रहार भगवान् तक पहुंचा ही नहीं जिससे भगवान्को दुःख हुआ हो, तो क्यों मारा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि बहिर्मुख(अज्ञानी) था इसलिए मारा. मारनेका प्रकार कहते हैं, 'करेण कर्णमूले अहन्' अगले पादसे कानके मूलमें प्रहार किया जिससे मरा, यदि सुदर्शनसे मारते तो मुक्ति होती इसलिए क्रिया-शक्तिसे मारा, जिससे सूचित किया कि इसका दूसरा जन्म भी होगा, इसके

मारनेका अन्य प्रयोजन बताते हैं 'यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः' जैसे इन्द्रने वृत्रको मारा. वृत्र तेज अस्त्र और आयुध निगल गया था उसको मारनेके अनन्तर वे सर्व प्राप्त हुए. नहीं मारा जाता तो विशेष बढनेसे लोकोंको अपने भीतर समा लेता अतः लोक रक्षार्थ, देवताओंके कल्याणकेलिए अपना यह सेवक है इसकी सिद्धिकेलिए मारा यह आशय है ।।२५।।

आभास : मरनेके बाद हिरण्याक्षका स्वरूप इस श्लोकमें कहते हैं:

स आहतो विश्वसृजा ह्यवज्ञया परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विकीर्णबाह्वङ्घ्रि–शिरोरुहोऽपतद् यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता।।२६।।

श्लोकार्थ : विश्वकी रचना करनेवाले प्रभुने यद्यपि बहुत उपेक्षापूर्वक मामूली प्रहार किया था तो भी उस मामूली प्रहारसे उसका(हिरण्याक्षका) शरीर चारों तरफ घूमने लगा, और नेत्र ऊंचे चढ आए अर्थात् बाहर निकल आए, तथा हाथ पैर एवं केश बिखर गए अर्थात् छिन्न–भिन्न हो गए, और वह दैत्य प्रचंड वायुसे उखडे हुए महान् वृक्षके समान पृथ्वी पर गिर पडा।।२६।।

व्याख्यार्थ: विश्वके उत्पादकने अवज्ञाके कारण होने पर भी उपेक्षापूर्वक मामूली प्रहार किया जिससे वह गिर गया यों अन्वय(वाक्यका सम्बन्ध) है. 'हत'के पूर्व दिया हुआ 'आ'का तात्पर्य ईषत् अर्थात् मामूली है, भगवान्ने उसका वध कर कौनसा उपकार किया ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'विश्वसृजा' शब्दसे सूचित किया कि सृष्टिकी रचनाकेलिए ऐसा न करते तो वह दैत्य रजोगुणाभिमानी होनेसे रजोगुणको रोक रखता जिससे सृष्टि होनेमें संकट होता. इसलिए मामूली प्रहार कर उसका(दैत्यका) केवल नाश किया, रजोगुणका नहीं, इस अर्थको 'हि' शब्दसे प्रतिपादन किया है, यदि दैत्यको न मारा जाता तो रजोगुण अपना कार्य(सृष्टिकी उत्पत्ति) नहीं कर सकता था यद्यपि रजको ही उससे पृथक् किया जा सकता फिर मारनेकी आवश्यकता न रहती यों सत्य है किन्तु तो भी प्रयत्न उतना ही करना पडता था इसलिए मारना ही उचित समझा क्योंकि इसने अवज्ञा(अपमान) की थी जिसका दण्ड देना आवश्यक था यह मारा जाय, भगवान्का ऐसा उद्देश्य(लक्ष्य) नहीं था केवल दण्ड देना ही लक्ष्य था.

मरनेके अनन्तर उसका शरीर चारों तरफ भ्रमण करने लगा, कारणकि हाथसे जिसका प्रहार किया जाता है वह घूमता फिरता रहता है. जिसके नेत्र बाहर निकल आए थे क्योंकि वह केवल राजस होते हुए भी बीजके कारण, सत्त्व

गुणवाला भी था इसलिए अन्तमें इसके ऊपर कृपा करेंगे इस समय नाश किया है, नहीं तो रजवृद्धिमें रुकावट होती तो, इस कारणसे पहले ही रजोगुणके निकालनेकी सूचनार्थ मात्र घूम रहा था. नेत्रोंमें तो बीज तथा जीव दोनोंको सत्त्व होनेसे दो लोचन कहे हैं, देह चारों तरफ फिरनेसे सूचित किया है कि रजोगुणकी अनेक प्रकारसे अब प्रवृत्ति होगी इसलिए ही हाथ पैर तथा केश बिखर गए थे, इससे यह समझाया है इसकी क्रियाशक्ति, जन्म और गति तीनों ही छिन्न-भिन्न हो जानेसे संस्कार रुक गये. अन्तरिक्षमें ही प्राण गये इससे बताया है कि आगे यह भक्त और राक्षस होगा. पृथ्वी पर इसके प्राण नहीं निकले पृथ्वी पर गिरनेसे पहले ही प्राण निकल गये इसलिए कहा है कि 'व्यसुः अपतत्' प्राणरहित देह गिरा, जैसे महान् श्रेष्ठ वृक्ष वायुसे उखड जानेसे गिर पडता है वैसे यह प्राणरूप मूलके निकल जानेसे पृथ्वी पर गिर गया ।।२६।।

आभास : मरे हुएका इस श्लोकमें वर्णन करते हैं :

क्षितौ शयानं तम् अकुण्ठवर्चसं करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम्।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम् ।।२७।।

श्लोकार्थ : वहां आए हुए ब्रह्मा आदि देव पृथ्वी पर सोए हुए हिरण्याक्ष को वैसे ही तेजवाला कराल दाढोंवाला दांतोसे होठ चबाता देख, उसकी प्रशंसा करने लगे कि इसकी इस प्रकारकी अलभ्य मृत्यु होना आश्चर्यका विषय है।।२७।।

व्याख्यार्थ: मरा हुआ निस्तेज होता है इसको तो भगवान्ने मारा था इस कारणसे इसका तेज कम नहीं हुआ था, मरनेके अनन्तर भी दाढें कराल ही थीं जिससे सूचित किया है कि मरनेके अनन्तर राक्षस जन्म मिलेगा और लोभरूप दांतसे चबाता था, इससे जताता है कि मनुष्य जन्म नहीं मिलेगा. होठ चारों तरफ चबानेके कारण मरण पर्यन्त लोभ रहा, इसका मरना सर्ववादियोंको सम्मत था इसलिए उत्तम मरण था यों जतानेकेलिए ब्रह्मादिने मरनेकी प्रशंसा की है. हिरण्याक्षको जो फल मिला है वह उसके कर्मोके विरुद्ध है. यह आश्चर्य 'संस्थितिं' अर्थात् मृत्यु भगवान्के विरुद्ध कार्य करे उसकी ऐसी उत्तम गति होनी नहीं किन्तु इसकी हुई यह आश्चर्य है. इसके कर्म, फलके विरुद्ध हैं यों ब्रह्माजीने ही निरुपण किया है ।।२७।।

आभास : यह फल कर्मके समान ही हैं यों न समझना, किन्तु फल परम

उत्कृष्ट(उत्तम) है, कर्म तो निकृष्ट थे यों इस श्लोकमें कहते हैं :

यं योगिनो योगसमाधिना रहो ध्यायन्ति लिङ्गाद् असतो मुमुक्षया।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदा हतो मुखं प्रपश्यन् तनुम् उत्ससर्ज ह ।।२८।।

श्लोकार्थ : प्राकृत लिंग देहसे छूटनेकेलिए जिन परपुरुषका योगीजन एकान्तमें समाधि योग द्वारा ध्यान करते हैं उनके ही चरण प्रहारसे इस दैत्य श्रेष्ठने अपना शरीर त्यागा एवं अन्त समयमें उनके मुखारविन्दके ही दर्शन कर रहा था।।२८।।

व्याख्यार्थ : सूक्ष्म इन्द्रियोंके समूहोंके रूप प्राकृत लिंग देहसे छूटने केलिए सिद्धयोग योगी समाधिके द्वारा एकान्तमें जिन परब्रह्मका ध्यान करना (दर्शन करना) चाहते हैं, इस वराहकी मानसी मूर्तिको अन्यमार्गमें स्थित भी समाधिमें चिन्तन कर(लिंगदेहसे) मोक्ष प्राप्त करते हैं, वहां साक्षात्(प्रत्यक्ष) भगवान् फिर उसमें भी विशेषता यह कि उनके भक्तोंके आश्रयरूप सबको मोक्ष देनेवाले चरण और यह दैत्योत्तम अपने धर्ममें निष्ठावाला, तथा मरण समयमें पूर्ण ज्ञानवान, क्योंकि भगवान्के मुखारविन्दके दर्शन करते हुये शरीरका त्याग किया उस दैत्य परम्पराको छोड दिया. ब्रह्मा देवताओंको उसका फल कहते हैं कि यों होना आश्चर्य है ।।२८।।

आभास : मरणान्तर भी अन्य जन्मोंके सम्बन्ध रहे यह विस्मय जैसा है अतः विस्मित देंवोंको ब्रह्मा इस शलोकमें निम्न प्रकारसे समझाते हैं :

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद् यातावसद्गतिम्।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ।।२९।।

श्लोकार्थ : ये दोनों इन भगवान्के वे पार्षद हैं जो शापके कारण असत् गतिको प्राप्त हुए हैं फिर कितने जन्मोंके अनन्तर अपने-अपने स्थानको प्राप्त करेंगे।।२९।।

व्याख्यार्थ: वे पहले कहे हुए इनके ही पार्षद हैं, इसलिए इस प्रकारकी फल प्राप्तिमें आश्चर्य नहीं है, ऐसा स्वभाव(असुरभाव) होनेके कारण शापसे इस असत् गतिको प्राप्त हुए हैं, तब इनका छुटकारा कब होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'पुनः कतिपयैः' फिर कितने ही जन्मोंके बाद अपने स्थानको प्राप्त करेंगे, इस जन्मके साथ तीन प्रकारके जन्म लेनेके बाद छुटकारा होगा, कर्मोंकी गति विचित्र है अतः इस कल्पनासे बहुवचन दिया है ।।२९।।

आभास : इस प्रकार उसकी(असुरकी) प्रशंसा कर भगवान्का माहात्म्य अज्ञेय है तथा अनन्त जानकर उनको इस श्लोकमें देवता प्रणाम करते हैं :

देवाः ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे स्थितौ गृहीतामलसत्वमूर्तये ।
दिष्ट्या हतोऽयं जगताम् अरुन्तुदः त्वत्पादभक्त्या वयम् ईश! निर्वृताः ।।३०।।

श्लोकार्थ : सकल यज्ञोंके विस्तार करनेवाले पालन करनेकेलिए शुद्ध सत्त्वमय आनन्दविग्रह धारण करनेवाले आपको नमस्कार है, नमस्कार है. प्रसन्नता है कि जगके मर्म स्थानोंको चोट पहुंचानेवाला यह दुष्ट दैत्य मारा गया, हे ईश! अब आपके चरणकमलोंकी भक्तिसे हम भी सुख शान्तिसे समय व्यतीत कर सकेंगे।।३०।।

व्याख्यार्थः आदर दिखानेकेलिए दो दफा प्रणाम किया गया है, भगवान्का एक कार्य अनेक फलोंको सिद्ध करता है. ये भगवान्के वे बहुत कार्य कहते हैं, उनमेंसे प्रथम सृष्टिकेलिए यज्ञका आविर्भाव कहते हैं अन्य प्रसंगमें कब कितनेक यज्ञका किनकेलिए प्रकट होते हैं यहां तो अर्थात् इस वाराह स्वरूपमें तो सकल यज्ञ प्रकट हैं वह कहते हैं, 'अखिलयज्ञतन्तवे' सम्पूर्ण यज्ञोंके जो प्रकार हैं वे सब आपमें हैं अर्थात् समस्त यज्ञोंके रूप आप हैं, और विशेष रक्षा करना भगवान्का धर्म है वह भी साक्षात् विशेष आकारसे, वह भी इस रूपसे सिद्ध हुआ है, इसलिए कहते हैं, 'स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये' पालन करनेकेलिए ही, अमलं(रजतम गुणरहित) शुद्ध सत्त्वगुणमयी मूर्ति जिसने धारण की है, इससे धर्मकी ग्लानि(हानि) भी निवृत्त हुई है, इसलिए कहते हैं कि 'दिष्ट्या हतोऽयम्' प्रसन्नता है कि यह(दैत्य) मारा गया, इसका मरना परम भाग्यका सूचक है धर्म ही भाग्य है वह ही उसका पोषक है यह दैत्य जगत्के धर्मस्थानोंको पीडा करनेवाला था इसके मरनेसे धर्मका रक्षण हुआ है. जगत् सुखी होगा क्योंकि धर्मकी प्रवृत्ति होगी इससे देवोंकी भक्तिकी भी रक्षा हुई. इसलिए ये कहते हैं, 'त्वत्पादभक्त्या' आपके चरणोंकी भक्तिसे अब हम सुखी हुए हैं, हे ईश! इस सम्बोधनसे बताया है आपकी सामर्थ्य सर्वत्र है, आपकी एक ही सामर्थ्य सब कुछ कर सकती है, हम सुखी हुवे हैं क्योंकि अब हिरण्यकशिपुकी उद्धताई न रही है एवं जो मौजूद दुःख था वह भी नाश हो गया है ।।३०।।

आभास : इस तरह भगवान्ने अवतार धारण कर उस दुष्टका उपसंहार

किया यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।
जगाम लोकं स्वम् अखण्डितोत्सवं समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ।।३१।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजीने कहा हे विदुरजी ! इस प्रकार असह्य पराक्रमवाले हिरण्याक्षका वध कर ब्रह्मादि देवोंसे स्तुत भगवान् आदिवराह जहां कदापि उत्सव बन्ध नहीं होते हैं वहां जैसे अपने आनन्दमय धामको पधार गए।।३१।।

व्याख्यार्थ : असह्यविक्रम हिरण्याक्षका पूर्व रीतिसे नाश कर अपने लोकको पधारे, यों अन्वय है, उसके मारनेका हेतु 'असह्यविक्रमं' दोष है. 'हरि' पदसे यह सूचित किया है कि ऐसेके वधमें मेरा धर्म हेतु है, आप शीघ्र तिरोहित इसलिए हुए कि आप आदिवराह हैं, वराहको आदि कहनेसे उसकी अलौकिकता प्रतिपादन की है, इससे वे निर्दोष हैं यों सूचित किया है. अपने लोकमें कहनेसे बताया है कि वहां आपकी आवश्यकता थी यद्यपि यदि वहां विराजते तो वह विराजना यशस्कर होता, तो भी जिसमें प्रतिक्षण उत्सव ही उत्सव होते रहते हैं वह लोक तो वैकुण्ठ नामवाला ही है. उत्सव ही हर्षके कारण हैं कभी भी बन्द नहीं होते हैं, यों कहकर अवतार कार्यकी समाप्तिको सूचित करते हैं ब्रह्मादि देव भगवान्के पधारनेके समय उनकी स्तुति कर रहे थे ।।३१।।

आभास : इस तरह वराहका चरित्र कहकर उनका दूसरा चरित्र भी यों ही होगा ऐसी शंका होने पर निम्न श्लोक कहते हैं :

मया यथानूक्तम् अवादि ते हरेः कृतावतारस्य सुमित्र! चेष्टितम् ।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो महामृधे क्रीडनवन् निराकृतः ।।३२।।

श्लोकार्थ : हे सुमित्र ! उदार पराक्रमवाले हिरण्याक्षका चरित्र जैसा मैंने गुरु परम्परासे सुना कि वह युद्धमें खिलोनेकी तरह भगवान्से मारा गया तथा उस अवतार धारण करनेवाले हरिका भी चरित्र जाना वैसा आपको कहा।।३२।।

व्याख्यार्थ: अन्य चरित्र जैसा-कैसा भी गुरु परम्परासे प्राप्त किया हमारे गुरुने वैसा कहा, वैसा आपको कह सुनाया, इसके वधकी आवश्यकतामें कारण 'हरेः' पद दिया है, 'कृतावतारस्य' पदसे गुरुओंके ज्ञानमें यह हेतु दिया है. 'सुमित्र!' सम्बोधनसे सूचित किया है कि आपको, जो गुह्यचरित्र है वह भी बता दिया है, केवल मित्र न कहकर 'सुमित्र'(सुष्ठुमित्र) कहा जिसका भावार्थ यह है

कि जैसे हम हैं वैसे ही आप हैं कुछ भेदभाव नहीं है अतः यहां कुछ भी छिपाना नहीं है. परम्परा अन्ध नहीं है जिसको 'यथा हिरण्याक्ष इति'से कहते हैं. उदार पराक्रमवाला हिरण्याक्ष था सकल ही वीरोंमें सर्व गायकोंकी गाई हुई जिसकी कीर्ति प्रसिद्ध है ऐसा हिरण्याक्ष था ऐसे हिरण्याक्षने संग्राम किया, लौकिक संग्राममें जैसे कठपुतली खिलोनेको नाश किया जाता है वैसे भगवान्ने हिरण्याक्षका नाश किया यों हमारे गुरुओंने कहा था वैसा ही मैंने भी कह दिया यों सारांश है ।।३२।।

इस चरित्रके तीन प्रकारके फल छः श्लोकोंमें कहते हैं दो-दो श्लोकोंसे प्रत्येक फलका वर्णन किया है. १. प्रत्यक्ष देखा हुआ, २. दूसरेसे देखा हुआ, ३. जो किसीसे नहीं देखा, इसमें पहले उस कथाके सुननेसे विदुरसे अनुभव किया हुआ दो श्लोकोंसे कहते हैं. पहलेमें कहना, दूसरेमें उसका प्रतिपादन करना:

सूतः उवाच

इति कौषारवाख्याताम् आश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्ताऽऽनन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विजाः ! ।।३३।।

श्लोकार्थ : सूतजी कहने लगे कि हे द्विजों ! इस तरह मैत्रेयजीकी कही हुई कथा सुनकर महा भगवदीय विदुरजीने परम आनन्दको प्राप्त किया।।३३।।

व्याख्यार्थ: इसमें पहले कथा सुनने पर उनको क्या हुआ? इस आकांक्षामें कहते हैं. कुषारुका पुत्र कौषारव अर्थात् मैत्रेयजी, इनके पिताके नामसे निर्देश करनेका आशय है कि विदुरजीको विश्वास हो, भगवान्की कथामें भी भगवान् जैसे छः गुण हैं, 'क्षत्ता'(विदुरजी) संयमी होनेसे चतुर अतः मोहक लीलाका परित्याग कर मुख्यलीला इनने ग्रहण की है. विदुरजी खास श्रोता होनेसे उनने कथामें ही विद्यमान परमानन्द प्रकट देखा, यों प्रकट देखनेका कारण यह है कि विदुरजी 'भगवदीय' हैं, शौनक आदिके भगवदीय न होनेसे यों कहना बाधित (विरुद्ध) अर्थवाला होगा ऐसी शंका हो इसलिए कहते हैं कि हे द्विजों! सम्बोधनसे कहते हैं कि यह शंका असत्य है, क्योंकि शौनक आदि कर्मजड होनेसे उनको कथामें विद्यमान परमानन्द स्फुरित नहीं हुआ है ।।३३।।

आभास : इस कारणसे ही उसका प्रतिपादन इस श्लोकमें करते हैं:

अन्येषां पुण्यश्लोकानाम् उद्दामयशसां सताम् ।
उपश्रुत्य भवेन् मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः ?।।३४।।

श्लोकार्थ : पवित्र कीर्तिवाले और असीम यशवाले अन्य सत्पुरुषोंका चरित्र सुननेसे आनन्द होता है. तब श्रीवत्सके चिह्नवाले प्रभुकी अद्‌भुत लीलाओंको सुननेसे आनन्द हो तो क्या आश्चर्य है।।३४।।

व्याख्यार्थ: असीम जिनकी कीर्ति है वैसे नल आदि नृपति हैं. कीर्ति और यशकी विलक्षणता पहले कही हुई है जैसेकि कीर्ति सदाचारसे होती है और यश पराक्रमसे होता है सदाचार वैदिक कर्म है और पराक्रम लौकिक है अतः दोनों मित्र हैं. मनुष्यमें दोनों होते हैं तब पुरुष सत्पुरुष बन सकता है, अथवा प्रसन्नता होनेमें तीन कारण हैं. १.पवित्र कीर्ति २.असीम यश ३.सत्तमता ये जिसमें हैं उसके चरित्र श्रवणसे आनन्द आता है.

कृपालुपन आदि श्रेष्ठ धर्म अन्तःकरणके उत्कर्षके कारण हैं, ये धर्म पुनः-पुनः करनेसे प्रभावोत्पादक होते हैं जिससे पुण्य कीर्ति प्राप्त होती है, जिस पराक्रमका कोई प्रत्याघात नहीं कर सकता है वैसे पराक्रमसे असीम यश होता है, वैसे सदाचारी और यशस्वियोंकी कथा सुनकर श्रवणका(कानोंको) आनन्द प्राप्त होता है. भगवान् लक्ष्मीके निवासस्थान हैं, अतः 'श्रीवत्साङ्क' पदसे सदाचार एवं सर्वगुण निरूपण किये हैं. वह निवासस्थान भी चिह्नकी तरह है. ऐसे चिह्न बहुत ही हैं यह कैमुतिक न्यायसे भी कहा है ।।३४।।

आभास : संवादकेलिए उसका ऐसा दूसरा चरित्र भी कहते हैं, 'यो गजेन्द्रं' इन निम्न दो श्लोकोंसे स्वरूप तथा फलके भेदसे कहते हैं उनमेंसे पहले स्वरूपका वर्णन करते हैं :

यो गजेन्द्रं ग्रहग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम्।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद् द्रुतम् ।।३५।।

श्लोकार्थ : जिस समय ग्राहके पकडने पर गजेन्द्र प्रभुके चरणोंका ध्यान करने लगा उस समय उसकी हथनियां जोरसे चिंग्घारने लगीं वह सुनते ही जिन्होंने शीघ्र आके संकटसे उसको छुडाया।।३५।।

व्याख्यार्थ : जिस हरिने ग्राहसे पकडे हुए अथवा पकडनेसे जो पानीमें डूब रहा था उसे संकटसे छुडाया, क्यों छुडाया? क्योंकि वह आपदासे छूटनेकेलिए आपका ही ध्यान कर रहा था, वह ध्यान भी प्रेमपूर्वक कर रहा था, इसलिए 'चरणाम्बुजं' पद द्वारा कहा है कि यह ध्यान प्रेमाभक्ति मार्गानुसार धर रहा था. उसकी स्त्रियां हथनियां जोरसे चिंग्घारनेसे दीनता प्रकट कर रहीं थीं जिस

दीनताके कारणसे गजेन्द्रको संकटसे शीघ्र आकर छुडाय प्रत्यक्ष देखनेमें आवे इस प्रकार भगवान् ही फल देते हैं. प्रत्यक्षका त्यागकर परोक्षका कौन आश्रय करेगा?

यह चरित्र सिद्ध करता है कि भगवान् भजन करने योग्य हैं. दया भी उनकी ही प्राप्त करनी चाहिए यों सिखानेवाला है. अतः चालु प्रकरणमें उपयोगी होनेसे यह चरित्र आनन्दजनक कहा जाता है. 'झषः' पद जलचर विशेष ग्राहकेलिए दिया है, सकल ग्राह 'झष' हैं, इसमें शरीर सहित ही उद्धार करनेकी दया हथनियोंकी दीनताके कारण हुई है, सर्वथा उद्धार करनेमें हेतु गजेन्द्रका ध्यान है. यों कहनेसे यह भी सिद्ध किया है कि यह सकुटुम्ब निःसाधन था, यों तो उत्तम गज महान् मदवाला होता है किन्तु यह ग्रस्त गात होनेसे सर्वथा निःसाधन बन गया था. 'गजेन्द्रं' पदसे यह सूचित किया है कि इसकी जाति, स्थिति, स्वरूप आदि दुष्ट होनेसे यह भगवत्कृपाके योग्य नहीं था क्योंकि ऐसोंके ऊपर भगवदनुग्रह नहीं होता है किन्तु गजेन्द्रने निःसाधन हो भगवान्का प्रेमाभक्ति अनुसार ध्यानरूप आश्रय करनेसे कृपा सम्पादन की जिससे अपने सम्बन्धियोंको भी आनन्दित किया अतः 'करेणूनां कीर्तनम्' कहा है. हथनियोंने चिंग्घारते दीनता प्रकट की ।।३५।।

आभास : इस तरह अनेक प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला चरित्र कहकर जिस अंशसे यहां दृष्टान्त है, उसका स्वरूप कहते हुए बताते हैं कि भजन फलरूप है यह इस श्लोकमें सिद्ध करते हैं :

तं सुखाराध्यम् ऋजुभिः अनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यम् असाधुभिः ।।३६।।

श्लोकार्थ : अपनी शरणमें आए हुए सरल स्वभाववाले भक्तोंसे जो सुख पूर्वक प्रसन्न हो जाते हैं किन्तु दुष्टोंसे कष्टपूर्वक आराधना किये जा सकते हैं अतः उन पर शीघ्र कृपा नहीं करते हैं ऐसे प्रभुके किये हुए उपकारोंको जाननेवाला ऐसा कौन कृतज्ञ है जो उनका सेवन न करेगा।।३६।।

व्याख्यार्थ: सुखपूर्वक उसका ही भजन हो सकता है, जिसके भजनके साधन, विषय सम्बन्धी सुखको देनेवाले हैं और फल, अलौकिक तथा महान् है. इस विषयमें अतिप्रसंग न बने इसलिए 'ऋजुभिः' विशेषण दिया है जिसका भावार्थ है कि काया, वाक् और मनसे भी कपट न करनेवाले अर्थात् उनका स्वाभाविक धर्म था. सर्व विषयोंसे सत्य एवं सरलता, आगन्तुक साधनभूत धर्म नहीं था. यदि कहो कि वैसे तो अन्य मार्गोमें भी होते हैं इस पर कहते हैं कि

'अनन्य शरणैः' इनको, भगवान्के सिवाय दूसरा आश्रय नहीं था. इससे शरणागतिमें 'ब्रह्मास्त्रन्याय' कहा है अर्थात् कारणमें पूर्ण विश्वास था. अर्थात् न दूसरेका आश्रय लेते थे और न बिना आश्रय रहते थे, केवल भगवान्के ही दृढाश्रयी थे. 'नृभिः' पदसे यह सूचित किया है कि इनमें अभिमान नहीं था.जो प्रकृत विषयमें उपयोगी विवेक है.'कृतज्ञ' पदसे भगवान् जनक हैं, अन्तर्यामी हैं, पालक हैं, पूर्वकृत भजनके कारण विशेष उपकार किये हैं यों जो भगवान्को जानता है वह कौन ऐसा है जो भगवान्का भजन नहीं करना चाहता होगा? चाहता ही होगा, केवल कृतघ्न ही भगवान्का भजन नहीं करता है.

इस विषयमें भगवान्के गुण ही कारण हैं, इसलिए 'दुराराध्यं' कहा है, नहीं तो पाक्षिक भजन हो जावे, यों भी नहीं है ये भी नहीं कि वे भजना नहीं चाहनेसे भजते नहीं किन्तु वे स्वयं दुराराध्य हैं, उनकी दुःखसे भी आराधना होना कठिन है, वे असाधु हैं अर्थात् विषयासक्त तथा उदरम्भर हैं ।।३६।.

आभास:इस प्रकार भजनका समर्थन कर अब अलौकिक फल दो श्लोकों 'यो वै हिरण्याक्षवधं' और 'एतन्महापुण्यमलं'से कहते हैं, पहले पाप निवर्तक और दूसरेमें फलजनक, इनमें से पहलेमें पाप निवर्तक कहते हैं:

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः ।।३७।।

श्लोकार्थ:हे द्विजों! यज्ञकेलिए व सृष्टिकेलिए वराहावतार धारण करनेवालेकी उत्तम क्रीडा महान् अद्भुतरूप है. ऐसी हिरण्याक्ष वधकी भगवल्लीला जो मनुष्य यथार्थरीतिसे पूर्णतया श्रवण करता है गान करता है उसका अनुमोदन करता है वह ब्राह्मण वध जैसे पापसे भी छूट जाता है।।३७।।

व्याख्यार्थ: हिरण्याक्ष ब्राह्मण था इसलिए उसके वधकी कथा सुननी नहीं चाहिए, किन्तु यह चरित्र महान् अद्भुत होनेसे एवं यह वध हितरूप जगत् मतान्तर सिद्ध होनेसे तथा यज्ञका कल्याणकारक होनेसे महान् अद्भुत है यों महत्ववाला होनेसे श्रौताओंका भी उपकार करनेवाला है अतः श्रवण करना चाहिए. ऐसा न होता तो श्रवण योग्य न होता फिर विशेषरूपसे श्रोतव्यतामें हेतु कहते हैं, 'विक्रीडितं' जिस वधचरित्रमें भगवान्ने विशेष प्रकारसे खेल न खेले हैं, यहां प्रभुकी युद्धलीला प्रकट है. युद्धलीलाका भगवान्से सम्बन्ध होनेसे पवित्र चरित्र है विशेषमें 'कारणसूकरात्मनः' पदसे सूचित किया है भगवान्के सूकराकृति धारण

करनेका कारण यज्ञ रक्षाकेलिए तथा सृष्टिकी उत्पत्तिकेलिए इसके वध करनेका कारण ही था. अन्यथा इस आकृतिकी आवश्यकता ही नहीं थी. इसलिए यों करना उचित था ''कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः'' इस न्यायसे श्रवणकर्ताका, शिक्षकका और अनुमोदन करनेवालेका, तीनोंका फल कहते हैं, श्रवण करनेवाले, गान करनेवाले[१](कीर्त्तन द्वारा अन्यको सिखानेवाले) और अनुमोदक, इनमें श्रवण मुख्य है, गान शास्त्ररूप(शिक्षारूप) है, इसमें सुख प्रत्यक्ष कारण है वह प्रायश्चितरूप नहीं है ऐसी शंका पर कहते हैं कि'गायति' गाता है अनुमोदन वैसा ही है अतः वह(श्रवण और गान) दोनोंका पोषक है, कितनेक इसको स्तोत्ररूप (स्तुति) कहते हैं. यथार्थ(पूर्ण) रीतिसे सर्वत्र सर्वभावसे श्रवण अर्थात् अर्थसे, तात्पर्यसे और शब्दसे सुनना, कीर्तनमें भी ये तीनों ही होने चाहिए, किन्तु उनमें स्वार्थ नहीं होना चाहिए, इस प्रकार जब श्रवणादि कर वधके पापोंसे छूट जाता है. पापोंमें मुख्य पाप ब्राह्मणवधसे भी छूट जाता है, हे द्विजों! यह सम्बोधन शौनकादिकोंको ज्ञान हो इसलिए दिया है, जब इनको ज्ञान होगा अथवा यह ज्ञान यज्ञ सम्बन्धी होनेसे ब्राह्मणोंको ही ज्ञान होता है ।।३७।।

१.एक प्रकारका यह प्रायश्चितरूप कहा जा सकता है.

आभास : यह चरित्र फल देनेवाला भी है यह निरूपण करते हैं :

एतन् महापुण्यम् अलं पवित्रं धन्यं यशस्यं पदम् आयुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि धैर्यवर्धनं नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग ! श्रण्वताम् ।।३८।।

श्लोकार्थ : यह चरित्र अत्यन्त पुण्य फल देनेवाला, परम पवित्र, धन तथा यशकी प्राप्ति करानेवाला, आयु बढानेवाला एवं सर्व प्रकारकी कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला और युद्धमें प्राण एवं इन्द्रियोंकी शक्ति बढानेवाला धैर्य देनेवाला है तथा अन्तमें इस चरित्र श्रवणका फल भगवदाश्रयकी प्राप्ति होती है।।३८।।

व्याख्यार्थ: यह चरित्र, चारों प्रकारके पुरुषार्थको(धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको) सिद्ध करनेवाला है, इनमें धर्म दो प्रकारका है. १.स्वर्गादि फल देनेवाला, २. देहादिकी शुद्धि करानेवाला, इन दोनों प्रकारोंको 'महापुण्यम्' 'अलं पवित्रं' पदोंसे सूचित किया है कि कल्याण करनेवाला तथा अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला है. अर्थ भी दो प्रकारका है धनरूप और यशरूप, यहां 'यश' और 'श्री' दोनोंको कहेंगे उन दोनोंको 'धन्यं यशस्यं' पदोंसे कहा है काम पुरुषार्थ तीन

प्रकारका है. ''शरीरारोग्यमैश्वर्यम् अरिपक्षक्षयः'' इस वचनके अनुसार काम जीवनरूप, भोगरूप और शत्रु पर विजयरूप होनेसे तीन प्रकारका कहा है, वे तीन ये हैं 'आयुषामाशिषां च पदम्, प्राणेन्द्रियाणां युधि धैर्यवर्धनम्' पुत्रादिकोंका ही यह स्थान है वे उपकारक होते हैं, यह उपाख्यान सृष्टिका हेतु है, प्राण बलका साधक है, इन्द्रियां करण(कार्य करनेवाली) हैं अथवा भक्ष्य और भोगात्मक पदार्थोके विषयका परस्पर सम्बन्ध है. इस सम्बन्धसे युद्धमें धैर्य बढता है, धैर्यसे जयकी प्राप्ति होती है. बल, धैर्य तथा इन्द्रियोंका सहकारी होनेसे ही उनसे युद्धमें जय होती है अतः इसको उसका सहायक कहा है, कुशल और शूरत्वकी व्यावृत्तिकेलिए 'युधि' पद दिया है. यह चरित्र मोक्ष प्राप्त करानेवाला है इसलिए 'नारायण' पद दिया है. अपने शास्त्रमें नारायणकी प्राप्ति तीन तरह कही है १.ब्रह्माण्ड विग्रहरूप नारायणमें, २.सायुज्यको अथवा अक्षर, ३.पुरुषोत्तम स्वरूपमें सायुज्य होना, तीन ही नारायण पदमें कही गई हैं इसलिए नारायण पदका प्रयोग किया गया है.

''**नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः**'' अर्थात् नर स्वरूपसे उत्पन्न तत्त्वोंको नार कहते हैं, ''नराणां समूहो नारं'' नरोंका समुह नार है एवं जलको भी नार कहते हैं, पहले अर्थमें नारायणका लक्ष्य पुरुषोत्तम है दूसरेमें अक्षर लक्ष्य है, और तीसरेमें ब्रह्माका पिता इसके श्रवणसे तीन प्रकारका मोक्ष होता है. अतः नारायण पद दिया है, हे अंग! यह सम्बोधन देकर सूचित किया है इसे कहनेमें किसी प्रकारका कपट नहीं है एवं स्नेहका बोध करानेवाला है. 'गति' होती है, गति शब्द अन्तिम फलका वाचक है. 'श्रृण्वतां' पदसे बताया है कि यह प्रधानका(श्रवणका) ही फल कहा है ।।३८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके १९ वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २०

मुक्तसृष्टि प्रकरण अध्याय (२०-३३)

ब्रह्माजीकी रची हुई अनेक प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

भगवत्कृतसर्गस्तु सोपोद्घातो निरूपितः।
चतुर्दशभिरध्यायैः उच्यते हरये परः।।का.१।।

कारिकार्थ : [१]उन्नीस अध्यायोंसे भगवत्कृतसर्गका उपोद्घात सहित निरूपण किया, अब चौदह अध्यायोंसे भगवदर्थ किये हुए सर्गका वर्णन करनेमें आता है।।१।।

१.बीसवें अध्यायका विवरण करते हुए अन्य प्रकरणका प्रारम्भ होनेके कारण पहले संगति कहनेकेलिए प्रथम प्रकरणके अर्थके अनुवादपूर्वक उसका अर्थ 'भगवत्कृत' कारिकासे समझाते हैं. 'सर्ग' दो प्रकारका है एक दूसरोंकेलिए किया हुवा दूसरा जो अपनेलिए किया हो, पहले उन्नीस अध्यायोंसे जो कहा वह परार्थ था अब जो १४ अध्यायोंमें कहते हैं वह अपनेलिए किया है अतः अवसरकी संगति बनी हुई है. 'उपोद्घात सहित'का भावार्थ बताते हैं कि उपोद्घात प्रकरण मध्यमें स्थित है एवं उसका कर्ता ब्रह्मरूप है अतः इस प्रकरणका भी हेतु है, इसलिए उसके साथ हेतु और हेतुमद्भाव भी है यदि वह हेतु है तो करण(साधन) भूत गुण वैषम्यका भी मध्यम प्रकरणमें वर्णन है उसकी हेतुता क्यों नहीं? इस शंका निवृत्तिकेलिए दूसरी 'गुणवैषम्यभावेन' कारिका कही है.(प्रकाश)

गुणवैषम्यभावेन सर्गाः पूर्वं निरूपिताः।
गुणवैषम्यभावोऽत्र द्विविधो वर्ण्यते स्फुटः।।का.२।।

कारिकार्थ : गुणोंके विषमता भावसे पहले सर्ग कहे हैं, यहां गुणोंकी विषमता दो प्रकारकी है, जो [१]स्पष्ट कही गई है।।२।।

१.वीसवें तथा छब्बीसवें अध्यायोंमें क्षोभ पद(गुणोंमें खलबलाहट) साफ कहा है, और जिससे यहां फिर निरूपण किया जाता है इस कारणसे वहां गुणोंके वैषम्यमें हेतुताका प्रयोजकपन नहीं है, किन्तु पूर्व कहे हुए सर्गोंके प्रति ही हेतुता है, इस तरह उत्पत्ति सहित संगतिका निरूपण कर विषमताको द्विविधतामें हेतु बतानेकेलिए आधिदैविक तीसरी कारिका कहते हैं.

आधिदैविकभावोऽत्र नाऽस्तीति द्वैधवर्णनम्।
आधिभौतिकमेकेन चतुर्भिश्च तथा परम्।।का.३।।

कारिकार्थ : यहां आधिदैविक[१] भाव न होनेसे शेष दो प्रकार कहे हैं एक इस अध्यायसे आधिभौतिक और चार अध्यायोंसे अन्य कहे हैं।।३।।

१.इस प्रकरणमें जो सर्ग कहा है, उसमें ''एते देवाः कला विष्णोः'' इस उक्तिके अनुसार यहां तत्त्वोंमें देवत्व न कहनेके कारण भेदका प्रकार दिखाया है जिसमें पूर्वानुवाद नहीं हो सकनेसे यहां आधिदैविक गुणोंका वैषम्य नहीं है अतः यहां पहले २०वें अर्थात् एक अध्यायमें भौतिक विषमता दिखाई है, वैसे चार अध्यायोंसे हरिकेलिए हुए सर्गका वर्णन कहते हैं.

भूतमात्रेन्द्रियधियां हरौ ज्ञानोपयोगिनाम्।
गुणाः स्वभावतः केऽत्र पुष्टिमार्गोपयोगिनः।।का.४।।
निरूप्यन्ते हरेरुक्ताः प्रत्येकं त्रिविधा यथा।
आधिदैविकम् आध्यात्मम् आधिभौतिकमेव च।।का.५।।
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च तथैकेनोच्यते क्रमात्।

कारिकार्थ : इस कारिकामें हरिके प्राकट्यकेलिए जो ज्ञान उसके उपयोगमें आवे ऐसे महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रियां और बुद्धिका जन्म कहा है. यहां स्वभावसे पुष्टिमार्गमें उपयोगी गुण कौनसे हैं, वे जैसे हरिके[१] कहे हुए वैसे निरूपण किये जाते हैं कि वे प्रत्येक तीन प्रकारके हैं।।४।।

१.भगवान्के प्रादुर्भावके योग्य हो इसलिए ज्ञानोपयोगी भूतमात्रेन्द्रियोंका गुण संस्काररूप जन्म कहा जाता है, और वैसे पांच अध्यायोंका यह एक पहला अवान्तर प्रकरण है. इस प्रकारणमें जो पुष्टिमार्गोपयोगी गुण कहे वे कौनसे हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं. जो भगवान् कपिलने कहे हैं वे जैसे आधिदैविक भेदसे प्रत्येक तीन प्रकारके हैं, इसलिए क्रमसे पहले चार अध्यायोंसे आधिदैविक, और फिर चार अध्यायोंसे आध्यात्मिक एवं फिर एक अध्यायसे आधिभौतिक कहे हैं, यों उनकी विविधता कही जाती है, वैसे यह ९ अध्यायोंका दूसरा अवान्तर प्रकरण है यह आशय है. आधिदैविक आदिको 'भक्ति सांख्यात्म' द्वितीय कारिकासे स्पष्ट करते हैं(प्रकाश).

कारिकार्थ : चार-चार और एक अध्यायसे आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक क्रमशः कहे हैं।।५।।

भक्तिसाङ्ख्यात्मविज्ञान-योगैश्चत्वार आद्यके।।का.६।।
आध्यात्मिकः काल एव माहात्म्यकरणे तथा।
तदधीनं जगत्सर्वम् इत्यथाऽस्तु द्वितीयके।।का.७।।

कारिकार्थ : पहले अर्थात् आधिदैविकमें भक्ति, सांख्य, आत्माका

विज्ञान और योग ये चार अध्यायोंमें कहे हैं[१], इसी तरह दूसरे अर्थात् आध्यात्मिक में काल, माहात्म्य और करण कहे इनके अधीन समग्र जगत् होनेसे पृथक् प्रकारका है।। ६-७।।

१.आधिदैविकमें जो भक्ति आदि गुण कहे हैं वे क्रमसे भूतादिके संस्कार करनेवाले हैं, इसी तरह आध्यात्मिकमें कालादि चार वैसे हैं, आध्यात्मिक अर्थात् संवत्सरात्मक काल 'माहात्म्यकरणे' यह द्विवचन है, करण पदसे मुक्तोंका संग बताया है जिससे बताया है कि, समग्र जगत् उसके अधीन है, यह बुद्धि, बुद्धिका संस्काररूप है, दूसरे आध्यात्मिक प्रकारमें, कालादिसे संस्कृत भूतादि क्रमसे सर्गरूप है.

मुक्त एव हरेरर्थे भूतत्वेनोपयुज्यते।
अतो मुक्तिः स्त्रियाश्चैव पूर्वेषु द्विविधेष्वपि।।का.८।।

कारिकार्थ : हरिकेलिए वे महाभूत उपयोगी होते हैं[१], जो मुक्त हैं, अतः पहले दोनों प्रकारवालोंमें स्त्रीकी भी मुक्ति कही है।।८।।

१.तीसरेमें एक ही अध्याय क्यों कहा है? इस अपेक्षा पर 'मुक्त एव' कारिका कही है, आधिदैविक, आध्यात्मिक भेदसे दोनों प्रकारोंमें हरिकेलिए संस्कृत करने पर शेष एक मुक्त हुआ, मुक्त देह ही भूतपनसे भौतिक कक्षामें निविष्ट होनेसे उपयोगमें आती है, 'अतो हेतोः' इस कारणसे स्त्रीकी भी मुक्ति होती है, एवं आकांक्षा न रहनेसे आधिभौतिककेलिए एक ही अध्याय कहा है. एक प्रकारसे विभाग कर दूसरे प्रयोजनकेलिए 'धर्मादयः' कारिकासे विभागान्तर कहते हैं.

धर्मादयोऽपि द्विविधाः तत्रोच्यन्ते क्रमादिमे।
सर्गे तेषामनुत्पत्तौ मार्गस्तेषां न वै भवेत्।।का.९।।

कारिकार्थ : उन अध्यायोंमें धर्म आदि पुरुषार्थ भी क्रमशः दो प्रकारसे कहे हैं[१] यदि सर्गमें उनकी उत्पत्ति न होवे तो उनका मार्ग नहीं बने।।९।।

१.दो प्रकारके धर्मादि सर्गमें मार्ग प्रचारकेलिए कहनेसे ही आठ अध्याय हैं, दो प्रकार क्यों इस अपेक्षा पर 'यादृशा' कारिका कही है. (प्रकाश)

यादृशा भगवन्मार्गे जीवचिन्तनचिन्तिताः।।
एकविंशतिभिस्तेऽत्र निरूप्यन्ते क्रमात् स्फुटाः।।का.१०।।

कारिकार्थ : भगवन्मार्गमें जिस प्रकार धर्म आदि पुरुषार्थ जीव चिन्तित विचारे हुए हैं वे यहां इक्कीसवें अध्यायसे क्रमसे स्फुट निरूपण किये हैं।।१०।।

भगवच्चिन्तिता ये वै पञ्चविंशतिभिस्तु ते।
अन्यत् सर्वं कालकृतं चत्वारस्तेऽपि वर्णिताः।।का.११।।

कारिकार्थ : भगवान्के[१] विचारे हुए धर्म आदि पुरुषार्थ वे तो वास्तवमें २५वें अध्यायसे प्रारम्भ कर वर्णन किये हैं, अन्य सर्व कालका किया हुवा है उन चारोंका भी वर्णन किया है।।११।।

१.भगवान्के विचारे हुए धर्मोके सिवाय अन्य जो कालकृत हैं वे भी २९वें अध्यायसे प्रारम्भ कर चार अध्यायोंमें वर्णन किये हैं.

त्रिविधा अपि तेऽप्युक्ता मुख्यो मोक्षस्तथाऽन्तिमः।
मूलं सर्गस्त्रयाणां तु मुख्यो मोक्षः फलं तथा।।का.१२।।

कारिकार्थ : वे भी तीन प्रकारके कहे हैं, अन्तिम ३३वें अध्यायमें मोक्ष मुख्य कहा है प्रारम्भके अर्थात् उत्पत्तिरूप २०वें अध्यायमें तीनोंका(धर्म, अर्थ, कामका सर्ग कहा है) वैसे उनका मुख्य फल मोक्ष कहा है।।१२।।

चतुर्दशभिरध्यायैर् अतः सर्गो निरूपितः।
तद्विंशतितमेऽध्याये सङ्कीर्णः सर्ग उच्यते।।का.१३।।
षड्विधो हरिकार्यार्थम् अत्रोक्ताः सकला हरौ।

कारिकार्थ : इस कारणसे यह सर्ग चौदह अध्यायोंमें कहा है इनमें २०वें अध्यायोंसे छः प्रकारका सर्ग स्पष्ट [१]नहीं कहा है, हरिके कार्यकेलिए यहां कहा हुवा सर्ग हरिमें ऐक्यरूपसे रहे हुए हैं।।१३।।

१.इस तरह प्रकरण और अध्यायोंका विभाग कहकर प्रस्तुत विषयका भावार्थ बताते हैं. संकीर्ण विलक्षणता होते हुए भी स्वरूप समान होनेसे पृथक् समझमें नहीं आता है, सर्ग विषमता पूर्वक सर्ग 'हराविति' तादात्म्यसे साक्षात् भगवान्में स्थित है अतः इसकी विलक्षणता समझनी कठिन होनेसे वैसा कहा है. जब यहां दूसरा सर्ग कहते हैं तो सर्ग शुकको कहना चाहिए. विदुरजीके प्रश्नादि क्यों? इस पर 'सर्गमेकविधं' कारिका कही है.

सर्गम् एकविधं ज्ञात्वा विसर्गे प्रश्न ईदृशः।।का.१४।।
तथापि शास्त्रमेवात्र वक्तव्यम् इति निश्चयः।
अभिप्रेतं न तस्याऽपि तथैवेत्यन्यथोच्यते।।का.१५।।

कारिकार्थ : यह सर्ग एक प्रकारका जानकर विसर्गार्थ ऐसा[१] प्रश्न किया ? तो भी इस विषयमें शास्त्र ही कहना चाहिए उसको भी यह अभिप्रेत नहीं इसलिए ही अन्य प्रकारसे कहा है।।१४-१५।।

१.'ईदृशः' भगवान्के कार्योपयोगी विषयका प्रश्न किया है. वैसे जो कहनेका है उस सर्गके अनुकूल होनेसे वह कहा जाता है. प्रश्नकी अनुकूलता होने पर भी विसर्ग

विषयक प्रश्न होनेसे मैत्रेयजीको इतना ही कहना चाहिए था न कि सर्ग ही, उनने फिर सर्ग क्यों कहा ? इस पर कहते हैं कि तो भी अर्थात् प्रश्न न होने पर भी शास्त्र ही कहना चाहिए, इसलिए सर्गका प्रसंग होनेसे उनने सर्ग कहा है. वह प्रासंगिक है ? इसमें क्या प्रमाण है ? इस पर कहते हैं कि 'अभिप्रेत' अपि शब्दसे आशय है कि विदुरजीको भी अभिप्रेत नहीं था. अतः उपेक्षासे जैसे-वैसे कुछ कहना ही प्रासंगिकत्वका गमक(बतानेवाला) है, भले यों हो तो भी शौनकजी एवं सूतजीकी उक्ति कहनेका क्या प्रयोजन था ? इस पर ''प्रश्नद्वय भेदक'' कारिका कही है. -प्रकाश.

प्रश्नद्वयं तु कुरुते शौनकः प्रकृतौ महान्।
विसर्गविषयं त्वाद्यं भक्तानां तु तथा परम्।।का.१६।।
एकेन पञ्चभिश्चैव मूलारम्भो हि भेदकः।।

कारिकार्थ : प्रकृति(स्वभाव)से महान् शौनकजी प्रकृति विषयक दो प्रश्न करते हैं, प्रथम श्लोकसे विसर्ग सम्बन्धी प्रश्न किया. वैसे ही पांच श्लोकोंसे भक्त सम्बन्धी प्रश्न किये कारण कि मूलसे किया हुवा प्रारम्भ सूतजीका अधिकार [१]पृथक् जनाता है।।१६।।

२.शौनकजी अतिसात्त्विक थे इसलिए उसका उपन्यास(प्रस्तावना) किया है. तब 'एवम् उग्रश्रवाः' कहनेका क्या प्रयोजन ? इस पर कहा है कि 'मूलारम्भोहिभेदकः' मूलसे किया हुवा प्रारम्भ ही सूतजीके अधिकारको पृथक् करनेवाला है. इसलिए ही वह वाक्य है. शेष स्पष्ट है. प्रकाश.

परीक्षिच्छुकयोरत्र विरामो नैव दृश्यते।
सूत एव ततो वक्ता तुल्यार्थत्वाद् न दूषणम्।।का.१७।।

कारिकार्थ : परीक्षित व शुकदेवजीने कथाका विराम किया ऐसा प्रकार यहां दिखता नहीं है अतः सूतजी ही कथा कह रहे हैं, समान अर्थवाली कथा है अतः दूषण नहीं है।।१७।।

आभास : सर्ग असाधारण गुणों सहित (सर्गको उत्पन्न करनेवाली क्रियाओं सहित) सुना इसलिए अब विसर्गको पूछते हैं :

शौनकः उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते ! स्वायम्भुवो मनुः।
कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गायाऽवरजन्मनाम् ।।१।।

श्लोकार्थ : शौनकजी कहते हैं कि हे सूतपुत्र ! भूमिरूप स्थानको प्राप्त कर स्वयम्भू मनुने, पीछे उत्पन्न होनेवालोंकेलिए मार्गके कौन-कौनसे द्वार

किये?।।१।।

व्याख्यार्थ: पहले कहे हुएका अनुवाद करके ही पूछना चाहिए, यद्यपि हिरण्याक्षवध पहले कहा है किन्तु वह उपोद्घात होनेसे पूर्वमें कही हुई कथाके रूपमें नहीं ग्रहण किया जा सकता है. भगवान् सूकररूपसे मनुकेलिए ही पृथ्वी लाये थे. इसलिए मनुका ही चरित्र पूंछते हैं. 'प्रतिष्ठा' पदका आशय है कि उत्तम रीतिसे जिसकी स्थिति की हुई हो, अथवा सकल जीवोंके रहनेका स्थान यह पृथ्वी ही है क्योंकि यह पृथ्वी देहका मूलस्थान होनेसे उत्पादन कर्त्ता है अतः इसका उद्धार मनुकेलिए ही किया है इसलिए वह(मनु) ही उसको अपना स्थान कर रहने लगे. जिस पुरुषको रहनेका स्थान प्राप्त हो जाता है वह पुरुष ही सर्व कार्य कर सकता है इसलिए उसे कार्य सम्बन्धी प्रश्नका यह अवसर समझ प्रश्न किया है.

सौते! यह सम्बोधन देकर बताया है कि शुक आदिने यह प्रसंग नहीं कहा है अतः आपको ही कहना चाहिए, कारणकि यह आपका परम्परा प्राप्त धर्म है, अब मनुसे सृष्टि होना आवश्यक होनेसे मनुको 'स्वायंभुव' कहा है. मनु यह नाम देकर यह सिद्ध किया है कि आप धर्म प्रवर्त्तक होनेसे उससे विपरीत अर्थात् धर्म विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे ब्रह्माने तो मन और शरीर ये दो ही द्वार सृष्टिके किये जो दूसरे भी शरीर और मनसे उत्पन्न होते तो 'जगत्' त्रिविध(तीन प्राकरका) न होता इसलिए यह विशेष प्रश्न है कि 'कान्यन्वतिष्ठत् द्वाराणि' मनुसे जो अब सृष्टि होनेवाली है उसकेलिए कौनसे द्वार मनुने किए? ।।१।।

आभास: इस प्रकार धर्मात्मा मनुका कार्य पूछनेसे अपनी अपेक्षा विदुरजीको विशेष भक्त जानकर उनने जो पूछा हो वही उनको कहना चाहिए क्योंकि उनने(विदुरजीने) सर्वथा उचित ही पूछा होगा इसकेलिए निम्न तीन श्लोकोंसे प्रमाण कहते हैं:

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत्।
यस्तत्याजाऽग्रजं कृष्णे सापत्यमघवान् इति।।२।।

श्लोकार्थ: विदुरजी संयमी तथा बडे ही भगवदीय एवं भगवान् कृष्णके अनन्य सुहृद् थे, इसलिए श्रीकृष्णके अपराधी अपने भाईका पुत्रों सहित त्याग किया।।२।।

सोपपत्तिकभक्तत्वं तस्य मूलं निरूप्यते।
उत्कृष्टप्रश्नकर्तृत्वं सोपपत्तिकम् आह हि।।का.१।।

कारिकार्थ : यह विदुरजी भगवद् भक्त हैं. वह [1]उपपत्ति सहित कहा जाता है, कारण कि ये जो भी प्रश्न करते हैं वह एक उत्कृष्ट है और दूसरे वह उपपत्ति(युक्ति या संगति) सहित होता है।।१।।

व्याख्यार्थ: पहले विदुरजीका भगवदीयत्व निरूपण करते हैं. वह परम भगवदीय होता है जो असिधाराव्रत धारण करता है. विदुरजी भगवदीय हैं, जिनमें मुख्य यह(असिधाराव्रत) ही बीज है वह बताते हैं. 'क्षत्ता महाभागवतः' क्षत्ता अर्थात् असिधाराव्रत पालन करनेवाला अन्य पुराणमें राजसूय यज्ञके प्रसंगमें भगवान्ने युधिष्ठिरको इस व्रतका इस प्रकार उपदेश दिया है कि पुरुष स्वयं पुष्ट तथा जवान हो और कामनावाली स्त्रियोंके समीप सदा रहता हो तो भी जिसके मनमें विकार मात्र उत्पन्न न होवे, स्त्रियां भी सर्व अंगोसे आनन्द देनेवाली एवं सर्व आभूषणोंसे भूषित और जो नवीन हैं अर्थात् जिन्होंने अभी तक कामरस नहीं लिया है ऐसी स्त्रियां मिले तथा वे स्त्रियां उसको चाहती हो. वे स्त्रियां अपनी हो अथवा अन्य हो तो भी जो पुरुष पंचाग्निके मध्यमें रहते हुए उसका स्पर्श जैसे न किया जाता है वैसे स्त्रियोंका मनसे स्पर्श न किया करे ऐसे ब्रह्मचर्यको असिधाराव्रत कहते हैं. 'क्षत्ता' वैसा होता है अतः वह महान् भगवदीय है क्योंकि 'कृष्णास्यैकान्तिकः सुहृत्' श्रीकृष्णका अनन्य सुहृद् वह है जो सर्व प्रकारसे अपनेको कष्ट देकर भी मित्रका हित करे.

स्वामीके कार्य अपनेसे विरुद्ध हो ऐसे प्रसंगो पर भी यों करनेमें दृढ होके रहना, जैसे स्वामीका हित हो उसमें प्रसन्न हो, जो स्वतः(बिना हरिके कहे) आप ही केवल हरिके हितार्थ सर्वथा प्रयत्न करता है. प्रसंग स्वार्थका हो तो भी स्वार्थका त्यागकर हरिकेलिए ही कार्य करता है वह महान् भगवदीय है.

सुहृत् उसको कहा जाता है कि जिसका हृदय शुद्ध हो हरिकेलिए कार्य करना इस गुणके सिवाय अन्य कोई दोष भी जिसमें नहीं हो, संसर्गका भी दोष जिसमें नहीं है इसलिए कहा है 'यस्तत्याजाऽग्रजं' बडा भाई धृतराष्ट्र पिताके समान है तो भी भगवान्से केवल विमुख देख दुर्योधनादि पुत्रों सहित धृतराष्ट्रका त्याग किया. सगे भाईके पुत्र अपने पुत्रके समान होते हैं तो भी उनका त्याग कर दिया, वस्तुतः धृतराष्ट्र आदि कृष्णके दोषी शत्रु या अपराधी नहीं थे किन्तु भगवान्के अंगीकार किये हुए पाण्डवोंके विरोधी होनेके कारण कृष्णके द्रोही थे. 'इति' शब्द प्रकार व सम्भावना बतानेवाला है ।।२।।

१.'तस्यमूलं' स्वयंको जो प्रश्न करनेका है उस प्रश्नका यह मूल है, उसमें गमक (कारण) कहते हैं. जो उत्कृष्ट है उसका प्रश्न भी उत्कृष्ट(उत्तम) है क्योंकि दोनोंसे विदुरजी उत्तम हैं. १.संयमी होनेसे, २.भगवद्विरोधी भ्राताका त्याग करनेसे क्षतृपन आदि.)(प्रकाश).

आभास : इस तरह विदुजीका भगवदीयत्व उपपत्ति सहित सिद्ध कर उनका वैसा होना उचित ही है यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

द्वैपायनाद् अनवरो महित्वे तस्य देहजः ।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाऽप्यनुव्रतः ।।३।।

श्लोकार्थ : विदुरजी द्वैपायन व्यासकी देहसे उत्पन्न होनेसे महिमामें उनसे कम नहीं थे. सर्व प्रकारसे श्रीकृष्णके आश्रित थे और उनके भक्तोंके सेवक थे।।३।।

व्याख्यार्थ: भगवान्का अंश ही महान् भगवद्भक्त होता है विदुरजी भगवदंश थे यह निरूपण करनेकेलिए कहा है कि वेदव्यासजीसे उत्सव करनेमें कम नहीं थे. 'महः' उत्सव करनेवाला 'मही' ऐसी उत्सव करनेकी स्थितिको 'महित्व' कहा जाता है, इस धर्मका विचार करनेसे मालूम होता है कि जैसा महित्व वेदव्यासजीमें है वैसा ही विदुरजीमें है. उत्सवका आशय यहां भगवत्स्मरणादि है. ''मह उद्धव उत्सवः'' शब्दका शास्त्रानुसार 'मह' शब्द अकारान्त है जैसा ज्ञान, भगवत्स्मरण, और भगवान्के धर्मोकी प्रवृत्ति कराना वेदव्यासजीमें था वैसा ही विदुरजीमें था क्योंकि उनके(वेदव्यासजीके) देहसे उत्पन्न हुए थे अर्थात् वेदव्यासजीके बीजसे उत्पन्न उनके(व्यासजीके) अन्तरंग हार्दिक प्रिय पुत्र थे इस कारणसे उनका(विदुरजीका) वैसा होना उचित ही है, किन्तु उनसे अधिक भी थे कारणकि 'सर्वात्मना श्रितः कृष्णं' कृष्णका सर्वात्मभावसे इनने आश्रय किया था. व्यासजीने अधिकारी होनेसे सर्वात्मभावसे श्रीकृष्णका आश्रय नहीं किया है. सर्वात्मभावका आशय है कि ऐहिक, पारलौकिक, दैहिक एवं आत्मीय आदिके कार्यकी फल प्राप्तिकेलिए भगवान्का ही आश्रय करना इसको सर्वात्मभाव कहा जाता है.

भगवान्का [१]सर्वरूपत्व समझानेकेलिए भगवान्का विशेष 'कृष्ण' नाम कहा है विदुरजी भक्तिमार्गमें ही रस लेनेवाले हैं इसलिए ज्ञानी भक्तसे अधिक अधिकारी हैं. वह बताते हैं कि 'तत्परान् चाऽप्यनुव्रतः' भगवान्के परायण जो

भक्त हैं उनकी भी सेवा करनेवाले हैं इस तरह सर्व प्रकारसे उनका भगवदीयत्व उचित ही है. ।।३।।

१.भजन करने योग्य सर्वरूपत्व कहा है. इस श्लोकमें सर्वरूपत्व तथा सर्वात्मना पदोंसे भक्तिमार्गीय शरणमार्गीय सर्वात्मभावका विवेचन किया है. (प्रकाश)

आभास : यों विदुरकी भक्तपनसे स्तुति कर उनके प्रश्नकी उत्तमता निम्न श्लोकमें कहते हैं:

किमन्वपृच्छद् मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया।
उपगम्य कुशावर्त्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ।।४।।

श्लोकार्थ : तीर्थ सेवनसे जो रजोगुण रहित होनेसे पूर्वसे ही जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वैसे विदुरजीने कुशावर्तमें बैठे हुए परमतत्त्व ज्ञानी मैत्रेयजीके पास जाकर क्या पूछा ?।।४।।

व्याख्यार्थ: मैत्रेय नाम देनेका स्वारस्य प्रकट करते हैं कि मित्राके पुत्र हैं अतः पूछने पर उत्तर देंगे तथा क्रोध भी नहीं करेंगे किन्तु यदि अत्यन्त भगवद्भक्त भी गुणोंके वश होनेसे अथवा कालके वश हो जाने पर लौकिक व प्राकृत पूछे? उस शंकाकी व्यावृत्तिकेलिए कहते हैं कि जो तीर्थोंके सेवनसे निष्पाप(शुद्ध अन्तःकरणवाले) तथा रजोगुण रहित हो गया है वह भगवत्सम्बन्धी प्रश्नके सिवाय अन्य कुछ नहीं पूछता है.जब रजोगुण ही मिट गया तो 'तम' कहां रहेगा? ऐसी दशामें महान् कष्टसे विषम देशमें जाकर वहां सत्संग मिलने पर लौकिक आदि कैसे पूछेंगे? इसलिए कहा है कि 'उपगम्य कुशावर्त्त' गंगा द्वार स्थानके अन्तर्गत देश विशेष कुशावर्त है, उसमें बैठे हुवे वह भी तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ ऐसे देशमें(समयमें) वैसा शुद्ध भक्त अन्य विषय नहीं पूछ सकता है. अलौकिक और गूढ जाननेसे वह(मैत्रेयजी) तत्त्ववेत्ताओमें श्रेष्ठ कहे गए हैं. ।।४।।

आभास : क्या? केवल प्रश्न ही वक्तव्य है, कि उत्तर भी अथवा दोनों यों कहने पर [१]संवादपनसे कहनेका आग्रह हो तो उससे भगवत् कथाके रसमें अभिनिवेश(आसक्ति) न होगा ? यह शंका कर कहते हैं कि भगवत् कथाकेलिए ही निरूपण करता है यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

१.तत्त्वेन=सत्संवादत्वेन उसके संवादपनसे –प्रकाश

तयोः संवदतोः सूत! प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः।
आपो गाङ्गा इवाऽघघ्नीः हरेः पादाम्बुजाश्रयाः।।५।।

श्लोकार्थ : हे सूत ! विदुरजी और मैत्रेयजीके संवाद करते हुएके बीचमें गंगाजल जैसी पवित्र हरिके चरणोंके आश्रयवाली, पापोंको नाश करनेवाली निर्मल हरि कथाएं होने लगी।।५।।

व्याख्यार्थ: विदुरजी और मैत्रेयजीके संवाद होनेके मध्यमें हरि कथाएं स्वतः ही होने लगीं, सूत! यह सम्बोधन सूचित करता है कि उसको(सूतको) वैसी कथाका ज्ञान है क्योंकि उसकी यह ही(कथा कहनी ही) वृत्ति है. शूरवीरोंके युद्धमें मलसहित रक्त(खून) बहता है. यहां तो कथाका प्रवाह निर्मल बह रहा था वह निर्मल भी कैसा था? उसको दृष्टान्त देकर स्पष्ट समझाते हैं. 'आपो गाङ्गा इव' जल स्वभावसे पवित्र है उसमें भी गंगाजलकी उत्तमता है, कारणकि गंगा साक्षात् भगवद्रूप है अतः पापोंको नाश करनेवाली है अथवा अपराधोंको मिटानेवाली है. गंगा(गंगाजल) स्वयं निर्मला(मलरहित) है ही अन्यको भी वैसा (निर्मल शुद्ध) करती है गंगाजीने ब्रह्मदण्डसे दग्धों(जले हुए)को भी पावन किया है, यों होनेमें दोनोंका गंगा एवं कथाका एक ही कारण है जिसको कहते हैं. 'हरेः पादाम्बुजाश्रयाः' दोनों(गंगा और कथा) भगवत् चरणोंके आश्रित हैं ।।५।।

आभास : उससे क्या ? ऐसे प्रश्न होनेसे निम्न श्लोक कहा है:

ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन्।।६।।

श्लोकार्थ : हे सूत ! आपका कल्याण हो, कीर्तन करने योग्य और उदार कर्मवाले हरिकी कथाएं हमें सुनाईये, भला, ऐसा कौन रसिक है, जो हरिके लीलामृत रसका पान करते हुए तृप्त हो जाए।।६।।

व्याख्यार्थ: यदि कहो कि 'सूत' कथा करनेवाले हैं उनको कुछ देना चाहिए इस पर कहते हैं कि 'भद्रं ते' आपका कल्याण हो इस प्रकार आशीर्वाद देते हैं, कारणकि ब्राह्मण तो आशीर्वाद ही देते हैं. कथाएं उत्तम हैं जिसका कारण यह है कि ये कथाएं उनकी हैं जिनका कर्म उदार है. भगवान्के कर्मोंके दो स्वभाव हैं जो कोई उसका कीर्तन करे तो वह कीर्तनकर्त्ता फल चाहनेवाला सकाम हो अथवा फल न चाहनेवाला निष्काम हो, जो निष्काम है उसको भगवद्गुणगान नित्य ही करना चाहिए ऐसी शास्त्रकी विधि है, जो सकाम है उसको सर्व प्रकारके फल देते ही हैं, वह सकाम, पात्र है व अपात्र है ऐसा विचार किये बिना ही सर्वफल देनेवाले हैं, इसलिए वे(कर्म) उदार हैं इसलिए कीर्तन करने योग्य हैं.

सकल पदार्थोमें रस है किन्तु वे रस, रस जाननेवालेको पाकर प्रकट होते हैं, भगवान्के कर्म तो प्रकट ही हैं किन्तु रसज्ञोंकी अपेक्षा करते हैं.

कथाएं अपने विषयमें रुचि उत्पादन करनेवाली हैं यों पहले ही दूसरे स्कन्धके तीसरे अध्यायके १२वें श्लोक 'ज्ञाने यदा'की सुबोधिनीमें कहा है जैसे आग्नेय औषध(अग्नि तुण्डी आदि)से भूख लगती है वैसे ही अग्निसे तृप्ति होती है, यदि अन्न ही भूख लगानेवाला हो तो तृप्ति कैसे हो? इसी तरह ऐसा रसज्ञ कौन है जो निश्चयसे तृप्त हो पिया हुआ अमृत बादमें इच्छा उत्पन्न करता है. किन्तु भगवत्स्मरण तो स्मरण करते ही दुःखोंको हरण करनेवाला है, आत्माके तिरोहित भावके कारण ही दुःख होता है आत्माका तिरोभाव करनेवाला प्राकृत पदार्थोंका समूह है और वह कठोर है. काल आदि भी आत्माका तिरोभाव करानेवाला है, अतः सदैव उत्पन्न होनेवाले दुःख दूर हो जावे जिसकेलिए भगवत्स्मरण नित्य करना आवश्यक है और विशेष जैसे लोकमें आलस्य आदि उद्वेगोंमें जो दुःख होता है वह अपनी व दूसरेकी क्रीडा कहने व स्मरणसे वह दुःख दूर हो जाता है. वैसे भगवल्लीलाके करने अथवा कीर्तनसे सर्व भय आदि दुःख मिट जाते हैं मृत्युका भय तो सबको रहता है उसकेलिए अमृतकी अपेक्षा (आवश्यकता) है यदि अमृत(कथा पीयूष)का कुछ समयकेलिए पीना बन्द रहे तो काल आदिसे अथवा प्राकृत पदार्थके मध्यमें अन्यरसमें आसक्ति करा दे तो वह बुद्धि व 'संग' दोषसे कहने लगेगा कि इतना ही पर्याप्त है किन्तु जो भगवद्रसका नित्य पान करता ही रहता है जिससे काल आदि व प्राकृत पदार्थोंका प्रभाव उस पर नहीं पडता है अतः वह कभी भी उस रससे अपनेको तृप्त नहीं मानता प्रत्युत विशेष चाहनेवाला है ।।६।।

आभास : यहांसे सर्गलीलाका पहले ही आरम्भ होता है यों जतानेकेलिए स्वयं व्यासजी निम्न श्लोक कहते हैं :

एवम् उग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः।
भगवत्यर्पिताध्यात्मः तान् आह श्रूयताम् इति ।।७।।

श्लोकार्थ : जब नैमिषारण्यवासी मुनियोंने उग्रश्रवासे इस प्रकार पूछा तब जिसने सब(आत्मा आदि) भगवान्में अर्पण कर दिए हैं वैसे सूत उग्रश्रवाने ऋषियोंको कहा कि सुनिए।।७।।

व्याख्यार्थ: जिसकी कीर्ति उग्र है उसको 'उग्रश्रवा सूत' कहते हैं यह

उग्रत्व भगवान्‌की कीर्तिके विरोधियोंके नाश करनेकेलिए था रोमहर्षणका यह पुत्र 'उग्रश्रवा' नामसे प्रसिद्ध था इससे कार्यकी सिद्धि होगी यों जानकर ही ऋषि पूछते हैं नैमिष ही जिनका रहनेका स्थान है, वैष्णवक्षेत्रमें स्थित देशके गुणसे भी वैष्णव हो जाते हैं, अपनेमें भीतर व बाहर भेदसे जो देह आदि अथवा बुद्धि आदि है वह सकल जिसने भगवान्‌में ही अर्पण कर दिया है वैसा भक्तका यह ही कृत्य है इस कारणसे उनके प्रति(मुनियोंको) कहने लगे कि 'श्रूयताम्' सुनिये अपनेमें वक्तापन तो सिद्ध ही है शेष उनका(मुनियोंका) श्रोतापन सिद्ध करनेकेलिए कहा है कि 'सुनिये' शुकदेवजीने कथाका विराम नहीं दिया था इसलिए उनके प्रश्नोत्तर यहां नहीं कहे हैं श्लोक ९से विदुरजीके वाक्य शुकदेवजीने भी कहे यों समझना[१] चाहिए ।।७।।

१.'कुत्र क्षत्तुर्भगवता' इस श्लोकमें समस्त संवाद पूछा हुआ है उसके अनुरोधसे समझना चाहिए. प्रकाश.

आभास : सूतजी तो विदुर कृत प्रश्नको निम्न श्लोकमें कहते हैं :

सूतः उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः ।।८।।

श्लोकार्थ : सूतजी कहने लगे अपनी आर्विभाव शक्तिरूप मायासे वराहरूप धारण करनेवाले श्रीहरिकी रसातलसे पृथ्वीको निकालने एवं खेल ही खेलमें अवज्ञाके कारण हिरण्याक्षको मार डालनेकी लीलाको सुनकर जब विदुरजी बडे प्रसन्न हुए तब उन्होंने मुनिवर मैत्रेयजीको कहा।।८।।

व्याख्यार्थ: शुकदेवजीने तो प्रश्न ही कहा, यह(सूतजी) तो उपोद्‌घातका अनुवाद करते हैं विदुरजीके प्रश्नसे ही विशेषरूपसे हिरण्याक्षका वध कहा गया है. भगवान्‌ने सकल सृष्टिके दुःखोंको मिटानेकेलिए सूकराकृति धारण की है अपने आधीन मायासे धारण किया जिससे परिवर्तनमें कुछ क्लेश नहीं हुआ लोकको दिखानेकेलिए ऐसा भाव जताते हैं व सम्पादन करते हैं इस कारणसे मायासे धारण किये हुए सूकररूपके दो चरित्र हैं. एक भूमिका उद्धार करना जो इष्टरूप है और दूसरा हिरण्याक्षका वध अनिष्टकी निवृत्ति करनेकेलिए है. दोनोंको सुनकर विदुरजीको आनन्द हुआ अनुवादमें भी भगवान्‌का माहात्म्य जतानेकेलिए दोनोंका 'लीलात्व कहा है यदि 'लीला' पद विशेषणमें परिणमित

होता तो लक्षण होनेसे निरर्थक गौरव होता फिर हिरण्याक्षके चरित्रका कहना अधिक हो जाय, इस प्रकारसे सर्वलीला ही है रुचि उत्पन्न करनेवाली होनेके कारण इस लीलासे हर्षकी उत्पत्ति हुई. 'मुनि' पदसे यह सूचित किया है कि इनको आगेका सर्व ज्ञान है. 'भारत' पदसे जताया है कि प्रकृत विषयमें इनको (विदुरजीको) दूसरा रस उत्पन्न न हुआ ।।८।।

१.लीला कर्मरूप है इसलिए भूमिका उद्धार करना भी लीला ही है यदि कहेंगे कि हिरण्याक्ष पुरुष है अतः लीला नहीं इसके उत्तरमें कहते हैं हिरण्याक्ष भगवदीय है अर्थात् भगवान्‌की क्रीडाका साधनरूप है. भगवान्‌ने युद्धरूप लीला करनेकी इच्छासे हिरण्याक्षको यह शरीर दिया अतः लीला ही है, इस तरहकी कल्पना क्यों करते हो कि हिरण्याक्षवधको लीला कहना चाहिए? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'हत' पद कर्मसे उत्पन्न है जिसको भाव व्युत्पन्न मान लेना चाहिए हिरण्याक्ष पदका इसके साथ अन्वयकेलिए उसकी द्वितीया विभक्तिको षष्ठी विभक्ति अर्थवाला मान लेनेसे लक्षणा हो जाती है जिसके परिणाममें लक्षणा और गौरव दो होनेसे व्यर्थता है, हिरण्याक्षके कर्म भगवान्‌की लीलामें प्रवेश न होनेसे और उस चरित्रका सर्गलीलामें न आनेसे केवल अधिकता होती है, इसलिए वह पक्ष उचित नहीं हैं. अतः हमने जो रीति कही है उसके अंगीकार करनेसे जैसे 'याग' पदसे कर्मकी सब सामग्री आ जाती है 'राज्ञोश्वेती' यहां सब उपकरण आ जाते हैं वैसे ही यहां सर्व शेष भूतलीला ही है यह पक्ष श्रेष्ठ है. प्रकाश.

विदुरः उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।
किम् आरभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ।।९।।
ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।
ते वै ब्रह्मण आदेशात् कथम् एतद् अभावयन् ।।१०।।
सद्वितीयाः किमसृजन् स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।
आहोस्वित् संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन् ।।११।।

श्लोकार्थ : विदुरजी कहने लगे हे ब्रह्मन् ! आप परोक्ष विषयोंके भी ज्ञाता हैं अतः यह बतलाइए कि प्रजापतियोंके पति ब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंकी रचना कर अनन्तर सृष्टि बढानेकेलिए क्या किया ? मारीचि आदि विप्रों तथा स्वायंभुव मनुने ब्रह्माकी आज्ञासे किस प्रकार प्रजाकी वृद्धि की. उन्होंने

इस जगतको भार्याओंसे मिलकर उनकी सहायतासे रचा व अपने-अपने कार्योंमें स्वतन्त्र रहकर रचा अथवा सबने मिलकर साथमें रचा।।९-११।।

व्याख्यार्थ: विदुरजी तो यों मानते हैं कि भक्त ब्रह्माने सृष्टिकी रचना की थी. इसके अनन्तर भक्तिके उपयोगी कुछ कार्य करेंगे 'किम् आरभत' ब्रह्माके कार्य सम्बन्धी यह पहला प्रश्न है कि क्या प्रारम्भ किया? भक्तने(ब्रह्माने) भगवदर्थ ही मरीचि आदि प्रजापति उत्पन्न किये अतः उन्होंने भी किस प्रकारके भक्त उत्पन्न किए यह दूसरा प्रश्न है, इस प्रश्नमें भी अवान्तर तीन प्रकार हैं जिससे भक्तोंकी उत्पत्तिमें तारतम्यताका ज्ञान होवे:

१.सद्वितीयाः -स्त्रियोंसे सहायता लेकर जो उत्पत्ति की वह प्राकृत भक्तोंकी उत्पत्ति हुई.

२.स्वतन्त्राः -अकेले उत्पत्ति की वह ज्ञानी भक्तोंकी उत्पत्ति हुई.

३.संहताः मिलिताः -सबने मिलकर उत्पत्ति की वह परमभक्तोंकी उत्पत्ति हुई.

यदि ब्रह्मा प्रजापतियोंकी उत्पत्तिके बाद कुछ वृद्धि न कराते तो आप प्रजापति ही कहलाते न कि 'प्रजापति-पति' कहलाते. सृष्टि सदैव प्रवाहकी तरह चलती रहती है अतः मरीचि आदि भी अन्य प्रकारसे कुछ नहीं कर सकते थे. यदि प्रजापतियोंकी उत्पत्ति न करते तो प्रजाका रक्षक कोई न होनेसे प्रजा मर्यादारहित हो उछृंखल हो जाती इसलिए उनकी(प्रजापतियोंकी) सृष्टि पहले की, उनसे ही फिर प्रजाएं होंगीं(बढेगीं) जो मर्यादित रहेगीं. 'सृष्ट्वा' पदसे यह सूचित किया है कि पहले किया हुआ कार्य फिर आगे किया है प्रथम किया हुआ कार्य शेष नहीं रहा है इसलिए 'आरभत' प्रारम्भ किया कहा. हे ब्रह्मन! सम्बोधनसे यह बताया है कि मैत्रेयजीको इस विषयका पूर्ण ज्ञान है 'मे' पदसे यह सूचित किया है कि मैं सुननेका अधिकारी हूं. ब्रह्माको इससे भी अलौकिक करनेका ज्ञान है इसलिए उनकेलिए 'अव्यक्त मार्गवित्' विशेषण दिया है. 'अव्यक्त' पदका अर्थ है 'कारणरूप ब्रह्म' उसका मार्ग अर्थात् उत्पत्ति प्रलयका प्रकार उस कारणरूप ब्रह्मसे यह कैसे उत्पन्न होते हैं फिर उसमें कैसे प्रवेश करते हैं, यह सर्व ब्रह्म ही जानता है, सबका कारण अव्यक्त है इसलिए यों कहा है.

दूसरा प्रश्न कहते हैं 'ये मरीच्यादयः इति' मरीचि आदि प्रजापतियोंने अकेले सृष्टि की और मनुने पत्नीकी सहायतासे सृष्टि की, वे सब सृष्टिके कार्यमें

लगाये, निश्चयसे ब्रह्माके आदेशसे यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न किया? 'कर्मसु' बहुवचनकी उक्तिसे उत्पत्तिके कार्य सम्पूर्ण नहीं होते हैं अतः 'सर्वे' पद बहुवचन देकर यह प्रश्न किया है कि तीन चारने मिलकर व सबने मिलकर किया? 'इदम्' अर्थात् जो सामने प्रत्यक्ष दिख रहा है इसलिए यह अवश्य कृति कार्य बनाया हुआ है, कैसे बनाया? यह प्रश्न है. 'स्म' प्रसिद्धि अर्थमें है जगत् मायिक नहीं है और न भ्रमसे बना हुआ है. अतः यह अच्छे प्रकारसे उत्पन्न किया हुआ है सम्पूर्ण प्रकारसे अभिव्यक्त(प्रकट) किस प्रकारसे किया? यह ही प्रश्न है।।९-११।।

आभास : सृष्टिके भेद कहनेकेलिए साधारण [१]सृष्टि जो भगवान्का गुण है वह निम्न छः श्लोकसे कहते हैं :

१.साधारण सृष्टि वह है जो सर्व कल्पोंमें एकरूप होती है.

महत्तत्वम् अहङ्कारः सकार्योऽण्डं तथैव च।
नारायणत्वं पद्मं च ब्रह्मा चेत्यत्र षट् क्रमात्।।१।।

कारिकार्थ : महत्तत्त्व अहंकार और वैसे ही कार्य सहित ब्रह्माण्ड, नारायण, कमल और ब्रह्मा ये छः क्रमसे कहे हैं।।१।।

प्राकृताः षडिमे सृष्टा एकादश तु वैकृताः।
सगुणास्तु नवैतेषु पुरुषो भगवत्कृतः।।का.२।।
निर्गुणः प्रोच्यते पुम्भिः शब्दब्रह्मात्मनो ऋषिः।।

कारिकार्थ : [१]ये छः प्राकृत उत्पन्न किये हैं, अर्थात् इन छहोंको भगवान्ने सृष्टिके कारणरूपमें बनाए हैं और २वैकृत, ११ बनाए हैं जिनमेंसे नव सगुण३ हैं. पुरुषको भगवान्ने उत्पन्न किया कारणकि भगवान् पुरुष आदिसे पहले ही हैं अतः पुरुषोंने उनको निर्गुण कहा है, शब्द ब्रह्ममेंसे ऋषि उत्पन्न हुए. अविद्यासे लेकर ऋषि पर्यन्त गणना की जाए तो सर्ग बहुत होते हैं फिर ११ कैसे कहते हो? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं विभाग कर्त्री उपाधिके भेदसे ११ होते हैं अतः ११ कहे हैं।।२.१/२।।

१.ये ६ प्राकृत भगवान्ने सर्व सृष्टिके कारणरूप बनाये.

२.११ वैकृत उस-उस सृष्टिके कारणभूत हैं.

३.अविद्यासे लेकर ऋषियों तक गणना करनेसे सर्ग अनेक होते हैं यहां ११ कैसे ही कहे? जिसके उत्तरमें कहते हैं 'सगुणाः' विभाग करनेवाली उपाधिके कारण इतने ही

हैं. ११मेंसे नव सगुण हैं मनु निर्गुण है क्योंकि पूर्व उत्पन्न पुरुषोंने उसको(मनुको) निर्गुण कहा है शुद्ध ब्रह्मसे ऋषि उत्पन्न हुए इसी तरह ही ११ वैकृत हैं.

''एष सप्तदश प्रजापति'' इस श्रुतिके अनुसार इस सर्गका यज्ञीय अक्षरके समान संख्या होनेसे ये प्रजापति हैं. ये यज्ञात्माएं हैं यों माना गया है, देव अर्थात् भगवान् सर्गलीलासे पहले उस यज्ञसे ही तृप्त होते हैं, इसलिए यह सर्ग भगवान् केलिए ही है न कि दूसरे प्रकारसे है और न जीवोंकेलिए है यों यह संख्यासे समझाया है, यह ही समुदाय संख्याका प्रयोजन है, संख्याभावका निर्णय न होनेसे शंका रह जाती है इसलिए दूसरा हेतु देते हैं 'वेदे' वेदमें यह सर्ग दोनों प्रकारसे कहा है अथवा संख्यासे, शब्दसे, प्रमाणसे और प्रमेयसे कहा है. संख्या तात्पर्य कहकर विलक्षणता न लानेकेलिए कहते हैं 'प्रथमतः' पहले महान्से सृष्टि हुई 'त्रय' इत्यादि 'तथा च' वे तीन गुण, सत्त्व, रज और तमके स्थान पर आ गए. प्रकाश

एवं सप्तदश प्रोक्ता यज्ञात्मानो मता इमे ।।का. ३।।

कारिकार्थ : इस तरह १७ कहे हैं ये यज्ञकी आत्माएं मानी गईं हैं।।३।।

तेनैव प्रथमं देवस्तृप्यते सर्गलीलया ।
अतस्तदर्थसर्गोऽयं नाऽन्यथेति निरूपितम् ।
वेदे सर्गोऽयमेवोक्तस् तस्माद् उभयतो महान् ।।का. ४।।

कारिकार्थ : देवता प्रारम्भमें इस सर्ग लीलासे तृप्त होते हैं अतः यह सर्ग उनकेलिए ही है अन्य प्रकारका नहीं हैं यों निरूपण किया है।।४।। वेदमें यह ही सर्ग कहा है अतः दोनों प्रकारसे वह सर्ग उत्तम है.

आभास : पहले महत्की सृष्टि कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणाऽनिमिषेण च ।
जातक्षोभाद् भगवतो महान् आसीद् गुणत्रयात् ।।१२।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजी कहने लगे, जिसकी गति तर्कसे नहीं जानी जा सकती है ऐसे दैवसे(भगवान्की इच्छासे) प्रकृत्तिके नियन्ता पुरुषसे और कालसे क्षोभको प्राप्त भगवान्के तीन गुणोंमेंसे महत्की उत्पत्ति हुई।।१२।।

व्याख्यार्थ: यह महत् प्रकृतिके(सत्त्वादि गुणोंके) वैषम्यसे उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु ब्रह्मके ही गुणोंके वैषम्यसे उत्पन्न हुआ है, ब्रह्मके वे तीन गुण बताते हैं. १.दैव, २.पर और ३.काल ये तीन ब्रह्मके गुण हैं जिनके क्षोभसे महत् प्रकट हुआ है. 'देव' भगवान्ने जो सृष्टि करनेकी इच्छा(कामना) की उसको यहां

दैव(गुण) कहा है उसका स्वरूप इस तरहका ही है यों कहना अशक्य होनेसे 'दुर्वितर्क्यम्' विशेषण दिया है, वह काम(कामना) देव सम्बन्धी है क्योंकि श्रुतिमें ''सोऽकामयत'' कहा है. उसने कामना(इच्छा) की वहां वह काम यों नहीं कहा[१] इसलिए निरूपण करनेवालोंके तर्कमें नहीं आ सकता है. 'परः' यहां पुरुष अथवा अक्षयको कहा है, वह ही राजस है इसको यहां भगवद्गुण माना गया है. 'अनिमिषः' अर्थात् काल यह तामस है इसको भी यहां भगवद्गुण माना गया है, सारांश यह हुआ कि 'दैव'(भगवदिच्छा), 'पर'(पुरुष व अक्षर) और काल ये तीन गुण ब्रह्मके कहे हैं. यहां प्रकृतिके सतो, रजो और तमोगुण नहीं लिए गए हैं. 'च' पदसे कर्म स्वभाव आदि भी कालके भेद होनेसे निमित्त होते है इन तीन गुणोंसे जिसको क्षोभ हुआ है उस भगवान् पुरुषोत्तमसे 'महत्'की उत्पत्ति हुई है ये गुण(दैव, पर और काल) भगवद्रूप ही हैं, अतः महत्को तत्त्व नहीं कहा है. 'गुण त्रयात्' सच्चिदानन्दोंसे अथवा उनके अंशोंसे उत्पन्न हुआ है ।।१२।।

१.श्रुतिमें केवल इतना ही कहा है कि मैं बहुत हो जाऊं उत्पन्न होऊं यों सामान्य रीतिसे कहा है जिस तरह बहुत हुए और ऊंच-नीच आदि बने वह विशेष प्रकार नहीं कहा है, 'स राजस' वह रजोगुणके स्थानको प्राप्त हुआ. 'न तत्त्वपद प्रयोगः' तत्त्वका तात्पर्य उसका भाव है. भाव अर्थात् धर्म यहां तो धर्मीका ही प्रादुर्भाव हुआ है अतः तत्त्व पदका प्रयोग नहीं किया है इस तरह पहलेसे इसकी विलक्षणतामें गुणोंका भेद है और साक्षात् भगवान्का कारणत्व है अतः तत्त्व शब्द(सर्गको) नहीं कहा है. सत्, चित् और आनन्दमें गुण पदका प्रयोग अप्रसिद्ध है अतः दूसरा पक्ष कहते हैं. 'तदंशेभ्यो वा' द्वितीय स्कन्धमें कहे हुए सत्त्व आदिसे.

आभास : महत् अपने कार्यो सहित अहंकारकी उत्पत्ति इस श्लोकमें कहते हैं :

रजःप्रधानाद् महतः त्रिलिङ्गो दैवचोदितात्।
जातः ससर्ज भूतादिः वियदादीनि पञ्चशः।।१३।।

श्लोकार्थ : दैवसे(भगवदिच्छासे) प्रेरित, मुख्य रजोगुणवाले महत्से अहंकार उत्पन्न हुआ जिसने तीन प्रकारके गुणोंवाला होते हुए भी पांच-पांच विभागोंमें आकाशादि भूतोंको उत्पन्न किया।।१३।।

व्याख्यार्थ: महत् त्रिगुणात्मक(दैव, पर और काल तीन गुणवाला) होते हुए भी अहंकारको उत्पन्न करनेकेलिए रजःप्रधान(यहां रजोगुण पुरुष व अक्षर

समझना प्राकृत रजोगुण नहीं) हुआ, वह रजोगुणके भेदसे ही त्रिगुणात्मक हुआ है(पहले कहे हुए सर्गसे इस सर्गका भेद बताया है).इसमें भगवदिच्छा प्रेरिका है इसलिए 'दैव चोदितात्' कहा है, वह(अहंकार) उत्पन्न होते ही त्रिविध था तो भी पांच-पांच विभागोंमें आकाशादि भूतोंको प्रकट किया इनमें भूतादि तामस हैं, उसने(अहंकारने) आकाशादि पांच भूत, पांच मात्राएं ऐसे पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, प्राण और नाग आदि पांच-पांच प्रकट किए और उनके देवता और उनके अभिमानी देव दिशाएं तथा पांच अग्नियां, मन, अन्तःकरणके चार(चन्द्र, रुद्र, ब्रह्मा और चैत्य) देव, उत्पन्न किये इस तरह तीन गुणोंवाले अहंकारने पांच-पांच करके इन सबको प्रकट किया यों तात्पर्य है ।।१३।।

आभास : निम्न श्लोकमें कहते हैं कि उनसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई :

तानि चैकैकशः स्रष्टुम् असमर्थानि भौतिकम्।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन्।।१४।।

श्लोकार्थ : वे अलग-अलग रहकर ब्रह्माण्ड नहीं रच सकते थे, क्योंकि प्रत्येकमें इतनी शक्ति नहीं थी, अतः इन्होंने भगवदिच्छा शक्तिसे आपसमें संयोग कर एक सुवर्ण वर्णवाले अण्डकी(ब्रह्माण्डकी) रचना की।।१४।।

व्याख्यार्थ : वे अशक्त थे इसको बतानेकेलिए नपुंसकलिंग कहा है. 'च' पदसे भी यही कहा है कि इनके देवता भी अकेले ब्रह्माण्डरूप कार्यके वास्ते क्षोभ उत्पन्न करनेकेलिए अशक्त थे अर्थात् हर एक ब्रह्माण्डके रचनेमें असमर्थ था क्योंकि ब्रह्माण्ड सर्वभूतात्मक है अतः उन्होंने भगवदिच्छासे इकठ्ठे होकर विशेष प्रकाशवाला सुवर्णमय ब्रह्माण्ड रचा. 'अव' उपसर्ग अनेक अर्थवाला होते हुए भी यहां रक्षाके अर्थमें आया है अर्थात् ब्रह्माण्डको दृढ, अविनाशी, न बढे और न क्षय हो ऐसे स्वरूपवाला बनाया यों है ।।१४।।

आभास : उस अण्डमें भगवान् नारायणने प्रवेश किया यों इस निम्न श्लोकमें कहते हैं:

सोऽशयिष्टाऽब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः।
साग्रं वै वर्षसाहस्रम् अन्ववात्सीत् तमीश्वरः।।१५।।

श्लोकार्थ : वह आण्डकोश चैतन्य रहित अवस्थामें ही सम्पूर्ण हजार वर्ष पर्यन्त प्रलयके जलमें पडा रहा, अनन्तर उसमें भगवान्ने प्रवेश किया अर्थात् उसको अपना वास स्थान बनाके उसमें रहे।।१५।।

व्याख्यार्थ: समुद्रके जलमें अर्थात् प्रलयके जलमें अथवा ''अप एव ससर्ज'' इस वाक्यानुसार पहले समुद्र बनाया उसमें वहीं ब्रह्माण्ड कमल कोशरूप हुआ, जैसे अण्डसे पक्षी होता है वैसे वह अण्ड, कोशरूप हुआ, उसको आण्डकोश कहा गया है. वह भगवान्केलिए ही बना इसलिए उसमें दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता है, अतः सम्पूर्ण हजार वर्ष पर्यन्त चेतना शून्य पडा रहा, अनन्तर अर्थात् कमलकोशके उत्पत्तिके बाद भगवान् उसमें प्रवेश कर रहने लगे इसका प्रयोजन क्या है? ऐसी जिज्ञासा नहीं करनी क्योंकि वे 'ईश्वर' हैं स्वतन्त्र हैं कैसे भी कुछ भी स्वेच्छासे कर सकते हैं ।।१५।।

आभास: इस तरह नारायणत्व कहकर उस स्वरूपकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ यों इस श्लोकमें कहते हैं:

तस्य नाभेरभूत् पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयम् अभूत् स्वराट्।।१६।।

श्लोकार्थ: उनकी नाभिसे सहस्त्र सूर्यसे अधिक तेजवाला सकल जीवोंका निवास स्थानरूप कमल उत्पन्न हुआ जिसमें भगवान् स्वयं ब्रह्मारूपसे विराजमान हुए।।१६।।

व्याख्यार्थ: प्राकृत कमलकी तरह उसको भी विकसित करनेवाले सूर्यकी अपेक्षा है तदर्थ कहते हैं कि हजारों सूर्यसे भी अधिक जिसमें प्रकाश है वैसा वह कमल था, यों कहनेका आशय यह है कि इस कमलको अन्य सूर्यकी अपेक्षा नहीं, यह कमल केवल जगत्को प्रकाश देनेवाला नहीं है किन्तु जगत्का आधार भी है इसलिए कहा है सकल जीवोंके समूहका स्थान है और जीवोंका उत्पादक(उत्पन्न करनेवाला) भी यही है इसलिए कहते हैं कि जिस कमलमें स्वयं भगवान् ही ब्रह्मा रूप हो विराजे, उससे सर्व होगा, यह भाव है ।।१६।।

आभास: ब्रह्मासे जिस प्रकार सृष्टि हो वह प्रकार(उपाय) इस श्लोकमें कहते हैं:

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया।।१७।।

श्लोकार्थ: जब जलमें शयनकरनेवाले नारायण भगवान् ब्रह्माजीमें प्रविष्ट हुए तब उन्होंने जैसे पूर्व कल्पमें व्यवस्था की थी उसी तरह ही अपनी संस्थासे सृष्टि करने लगे।।१७।।

व्याख्यार्थः भगवान्के साथ प्रविष्ट ब्रह्माने पूर्वकल्पकी तरह लोकोंकी व्यवस्था की. कौनसे भगवान्के साथ ब्रह्मा प्रविष्ट हुए ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि जिसका निवासस्थान जल है अर्थात् नारायण भगवान् इसतरह प्रविष्ट होनेके अनन्तर किस प्रकारकी कृति हुई? इस पर कहते हैं 'यथा पूर्वं लोक संस्थां' लोकोंकी पहलेकी तरह व्यवस्था हुई जिस तरह पूर्वकल्पमें जाति, गुण और स्थान भेदसे व्यवस्था थी वैसी ही लोकोंकी व्यवस्था की. यदि यह सृष्टि भी वैसी हो तो इस सृष्टि और उस सृष्टिमें क्या भेद हुआ? इस आकांक्षा पर कहते हैं कि 'संस्थया स्वया' इस सृष्टिमें भगवान् स्वयं[१] इस प्रकार स्थित हैं आकृति तो पूर्वके समान ही है इस तरह छः प्रकारकी मूल सृष्टि कही है ।।१७।।

१.इस सृष्टिकी भी विलक्षणता बताते हैं क्योंकि इस सृष्टिमें स्वयं भगवान् वैसे स्थित हैं. प्रकाश.

आभास:कार्यसृष्टिका निरूपण करते हुए पहले तामसी सृष्टि निम्न श्लोकसे तीन श्लोकों तक कहते हैं जिनमें कार्य और उसका [१]करण(साधन छाया) एवं उसके कार्यके भेद दिखाए हैं:

१.'करण' पदसे छाया कही है इससे इस सृष्टिमें भी विलक्षणता है दशम श्लोकमें सर्गको अज्ञानकृत कहा है और ११वें श्लोकमें करण नहीं कहा है किन्तु 'अज्ञान-वृत्तयः' कहा है जिसका आशय अज्ञान ही वहां करण है जिसको कारिकाओंसे स्पष्ट करते हैं. आत्मा इत्यादिसे यह अविद्या उस अविद्यासे पृथक् रूपवाली होनेसे भिन्न है अतः उत्तम है. 'महामोहफला' अर्थात् महामोह उसका उत्तम पर्व(अवयव) है. 'परम बाधकं' ये बाधक होते हुए भी भगवद् होनेसे उपयोगी हैं जैसे इन्द्रने यज्ञ भंग किया और पारिजातक वृक्ष भगवान् ले गये तब उसने क्रोध किया उसको महाभोगकी इच्छारूप अज्ञान हुआ वह अज्ञान बाधक होते हुए भी गोवर्धनधारणमें उपयोगी हुआ. इसी तरह बभ्रू और उग्रसेनकी राज्य भोगकी इच्छारूप अन्धतामिस्र भगवान् की लीलामें उपयोगी हुआ(भाग.३।२।२२) ऐसे ही देवकीजीका अज्ञानरूप तम भी भगवान्की लीलामें उपयोगी हुआ ''सद्यो नष्ट स्मृतिः''में स्पष्ट बताया है यह पुष्टिमें उपयोगी होनेसे यहां ही(१०।८।५१)में आचार्यश्रीने सिद्ध किया है. 'प्रकृते' सप्तमी विभक्ति है अग्रिमेयछाया आगे पडनेवाली छाया देखनेमें आती है, जब सूर्य पीछे होता है यों अर्थ न करनेसे बाधक कहते हैं 'अन्यथेत्यादि' नहीं तो इससे लेकर 'अग्रतः' पद व्यर्थ हो जाता है. 'भविष्यति' जैसे वत्सहरणके प्रक्षिप्त अध्यायोंमें कहा है वैसे होगा. यहां ऐसी तामस कायाके त्याग करनेका कहा है, अतः वत्सहरण

कार्य इस कल्पमें नहीं हुआ है. प्रकाश.

ससर्ज च्छाययाऽविद्यां पञ्चपर्वाणम् अग्रतः।

तामिस्रम् अन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः।।१८।।

श्लोकार्थ : प्रारम्भमें अपनी छायासे तामिस्र, अन्धतामिस्र तम, मोह और महातम इन पांच अवयवोंवाली अविद्या उत्पन्न की।।१८।।

व्याख्यार्थ: इस अविद्याके पर्वोंमें(अवयवोंमें) पहला पर्व तामिस्र है, भगवान्से विमुख होनेमें महान् भोगकी इच्छा, परम(बहुत) [१]बाधारूप है इसके बाद भोगेच्छा उससे भी अज्ञान कम बाधक है. इसके निर्बल–सबल पुत्र आदिमें ही निर्बलोंका मूल हूं इस प्रकारका मोहरूप पर्व, उनसे भी अल्प बाधक है यह वैराग्यको पैदा करनेवाला होनेके कारण अज्ञानसे श्रेष्ठ है, इससे भी कम बाधक देह अहंकार है कारणकि यह भगवत्सेवोपयोगी होनेसे उत्तम है.

इस अविद्यामें ही यह क्रम है, यह छाया अग्रिमा आगेकी तरफकी होनेसे देखी जा सकती है, यों न होवे तो प्रथम निरूपण किया हुआ पहला होता ही है ।।१८।।

१.अविद्याके ये अवयव हैं अतः बाधक कहे जाते हैं तो भी भगवत्सम्बन्धमें उपयोगी हैं जैसेकि इन्द्रयज्ञका भंग, स्वर्गसे पारिजात वृक्षका लाना, जिससे क्रोध हुआ जो अज्ञानरूप तामिस्र महाभोगेच्छारूप भक्तिमें बाधक है तो भी भगवल्लीला गोवर्धन केलिए उपयोगी हुआ इस कारणसे ही भगवान्का अनुग्रहरूप हुआ जैसे कहा है, 'मखभङ्गो अनुगृह्णता'.

इसी तरह अन्धतामिस्र, जो भोगकी इच्छारूप है वह बभ्रू और उग्रसेनकी भोगेच्छारूप भगवान्की लीलाके उपयोगी हुआ यद्यपि नारद वाक्यसे स्पष्ट है कि बभ्रू और उग्रसेनको राज्य प्राप्ति अशक्य थी तो भी भगवदिच्छासे भगवल्लीलामें उपयोगी होनेसे हो गई. अविद्याका पर्व 'तम' माता देवकीमें सद्योस्मृतिके अनुसार था किन्तु भगवल्लीलामें उपयोगी था यह(तम) पुष्टि लीलोपयोगी है. प्रकाश.

इससे पहले अपनेमें विद्यमान तमसे उत्पन्न किये हुए पांच प्रकारके तामस कार्य कारिका द्वारा समझाते हैं 'छाययाऽविद्यां' छायासे अविद्या की:

आत्मा देहस्तथा छाया सात्विकादिविभेदजाः।

तामसी तत्र वै छाया तस्यामपि हरिः स्वयम्।।का.१।।

ततश्छाया हि करणम् अविद्यां प्रति नाऽन्यथा।

कारिकार्थ : आत्मा, देह तथा छाया सात्त्विक आदिके भेदसे उत्पन्न हुए

हैं इनमें छाया वस्तुतः तामसी है. तो भी उसमें हरि स्वयं रहे हैं, इस कारणसे छाया अविद्याके उत्पन्न करनेमें शक्तिमान् हुई अर्थात् साधन बन सकी यदि हरि स्वयं इसमें न होते तो अविद्याको उत्पन्न कर सकती होती।।१।।

एतस्याः पञ्च पर्वाणि पूर्वस्मात्तु विशिष्यते।।का.२।।
ससर्जाग्रेन्धतामिस्रम् इति पूर्वप्रकल्पना।
अन्यथेयं समाख्याता महामोहफला मता।।का.३।।

कारिकार्थ : इस अविद्याके पांच पर्व हैं. पहलेसे यह उत्तम है क्योंकि उसमें पृथक् है इसने प्रथम अन्धतामिस्रकी रचना की यह पहलेकी प्रकल्पना थी अतः यह अन्य प्रकारकी कही और महामोह(महामोह इसका उत्तम अवयवरूप है)रूप फल देनेवाली मानी गई है।।३।।

आभास : जिस स्वरूपसे यह छाया उत्पन्न हुई उस स्वरूपका त्याग किया यह इस श्लोकमें कहते हैं:

विससर्जात्मनः कायं नाऽभिनन्दंस्तमोमयम्।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम्।।१९।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माजीको यह अपनी तमोमय काया पसन्द न आई अतः उसको त्याग दिया तब जिससे भूख एवं प्यासकी उत्पत्ति होती है ऐसे उस शक्तिरूप शरीरको यक्ष और राक्षसोंने ग्रहण कर लिया।।१९।।

व्याख्यार्थ: उस कायाका तामसत्व उसके कार्यसे समझमें आ जाता है, वास्तवमें यह काया सृष्टिमें उपयोगिनी थी इसलिए इसका अभिनन्दन करना चाहिए था वह भी न किया जिसका कारण यह है कि यह काया तमोमय थी. इस कायाके होते हुए [1]भगवद्विमुखता होगी, इसलिए उस शरीरका त्याग किया जिनमें प्रकाश नहीं अंधकार है अर्थात् जिनमें ज्ञान नहीं अज्ञान है वे हरिसे सुखपूर्वक विमुख हो सकते हैं अतः ऐसे यक्ष और राक्षसोंने इस(त्याग किये हुए तमोमय शरीर)को ग्रहण किया, वह काया रात्रिकी अभिमानी देवता बनी, उस छोडी हुई कायाने क्या कार्य किया जिसको बताते हैं – 'क्षुत्तृट्समुद्भवां' क्षुधा और तृष्णाको उत्पन्न करनेवाली हुई, यक्ष और राक्षस इससे पहले कल्पमें ही उत्पन्न हुए हैं क्योंकि इनकी गणना आठ देवोंकी उत्पत्तिके मध्यमें की हुई है, अथवा पूर्व कही हुई पञ्चपर्वाके ये देव हैं, अतः पाञ्चपर्वा देवो सहित उत्पन्न हुई है इसमेंसे ही इनकी उत्पत्ति हुई है, इस कारणसे ही अपने उत्पन्न करनेमें कारणरूप उस देहको

ग्रहण किया ।।१९।।

१.इस कथासे सिद्ध है कि वत्सहरणलीला ब्रह्माने इस कल्पमें नहीं की है.

आभास : उस रूपके केवल छूनेसे ही यक्ष और राक्षसोंको भूख और तृष्णा(प्यास) उत्पन्न हुई यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुम् अभिदुद्रुवुः।

मा रक्षतैनं जक्षध्वम् इत्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः।।२०।।

श्लोकार्थ : भूख और प्याससे पीडित यक्ष और राक्षस ब्रह्माजीको खानेकेलिए दौड पडे ओर कहने लगे कि इसको खा जावो, इसकी रक्षा मत करो।।२०।।

व्याख्यार्थ: इससे पहलेके कल्पमें भूख प्यास उत्पन्न नहीं हुई थी. केवल ये दो ही थे वे भी देवाधिष्ठान रहित थे इसलिए कामादिकी तरह पहले जैसे वृक्ष सहन करते हैं वैसे यों ये भी सहन करते थे, अतः अब महती क्षुधा और तृष्णाके उत्पन्न होनेके कारण दूसरा कोई खाद्य पदार्थ न होनेसे ब्रह्माको ही खानेकेलिए दौड पडे, यद्यपि इनको पहले नपुंसक कहा है किन्तु अब ब्रह्माने विशेष बलवान् होनेसे पुल्लिंगमें निर्देश किया है, यहां कोई कहने लगे कि इस ब्रह्माकी रक्षा मत करो,चाहे अब माया व अविद्यासे अपनी(हमारी) क्षुधा एवं तृष्णाकी शान्ति करें तो भी इसकी रक्षा मत करो क्योंकि फिर कोई दूसरा उपद्रव करेगा, ऐसे कहने लगे कि इसको खा जाओ 'यक्ष' धातुका अर्थ यहां भक्षणमें लिया है, ब्रह्मा पिता हैं उनकेलिए इस तरह कैसे कहने लगे इस शंकाका उत्तर देते हैं कि 'क्षुत्तृडर्दिताः' भूख और प्याससे पीडित थे. पीडित(व्यक्ति) धर्म और अधर्म किसीको नहीं जानते हैं ।।२०।।

आभास : अनन्तर,(इसके बाद) क्या हुआ ऐसी आकांक्षा होने पर जो कुछ हुआ वह इस श्लोकमें कहते हैं :

देवस्तान् आह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत।

अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ।।२१।।

श्लोकार्थ : डरे हुए ब्रह्माजीने उनको कहा तुम मेरी सन्तान हो मेरा भक्षण मत करो, मेरी रक्षा करो, इनमेंसे जिन्होंने कहा 'खा जाओ' वे यक्ष हुए और जिन्होंने कहा 'रक्षा मत करो' वे राक्षस हुए।।२१।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्मा देव थे इसलिए इनको वैसा ज्ञान हुआ, तामसोंको

उत्पन्न करनेसे उनको इस प्रकारका भय होने लगा भगवान्‌की इच्छासे ही यों हुआ इसलिए उसके[१] निराकरणकेलिए स्वयंने(बिना भगवान्‌की आज्ञाके) देह छोड दी जिससे भगवान्‌का कोप हुआ है, अतः यों हुआ है, यों समझमें आता है, अन्यथा केवल दीनता करने पर वे छोड न देंगे, ब्रह्माने कहा मुझे खाओ मत मेरी रक्षा को, यों करनेमें उपपत्ति देते हैं कि पुत्र पिताका भक्षण नहीं करते हैं किन्तु उसकी रक्षा करते हैं आश्चर्य है कि तुम मेरी सन्तान हो मुझे खानेकेलिए दौड रहे हो और कह रहे हो इनकी रक्षा मत करो, जिन्होंने खा जाओ कहा इस वचनसे वे यक्ष होंगे और जिन्होंने कहा रक्षा मत करो वे राक्षस बनेंगे. इससे ही इस प्रकारकी मेरी प्रजा हुए हो, प्रजा शब्दसे जाति कही है, तुम सब मेरी प्रजा हो, इसे ही मध्यम पुरुषका एकवचन कहा है, इस तरह प्रार्थना सहित चार श्लोंकोसे पहली सृष्टि निरूपण की है ।।२१।।

१.तामस सृष्टिकी उत्पत्तिके निराकरणकेलिए 'एवंजात' भय मात्र हुआ 'अन्यथा' नहीं तो सर्वथा मारनेकी इच्छामें ही रहते. प्रकाश.

आभास : इस श्लोकमें सात्त्विकी सृष्टिका वर्णन करते हैं :

देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत्।
तेऽहारिषुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः।।२२।।

श्लोकार्थ : जो देव उपासकके सन्मुख क्रीडा करते हैं उनको ब्रह्माजीने अपनी प्रभासे उत्पन्न किया, अनन्तर ब्रह्माजीने जब उस प्रभारूप शरीरका त्याग किया तब उन देवोंने क्रीडा करते उस प्रभारूप दिनको अपना बना लिया।।२२।।

व्याख्यार्थ: जैसी दीपककी, मणिकी व सूर्यकी प्रभा होती है वैसी ब्रह्माजीकी भी प्रभा है, अतः ब्रह्माजीने उस प्रभासे देवताओंको रचा. उस प्रभासे उत्पन्न देवताओंके गुणका वर्णन करते हैं. जो देव उपासकके सन्मुख क्रीडा करते हैं, उपास्य देवताएं सूर्यादिरूप हैं वे ही उपासकके सामने क्रीडा करते हैं इसी तरह इन देवताओंकी रचना कर इस स्वरूपमें दोष न होने पर भी केवल भिन्न भावकी उत्पत्ति होनेके कारणसे, इस स्वरूपका भी त्याग किया उसके बाद ब्रह्माजीके त्यागे हुए उस प्रभारूप शरीरको देवोंने स्त्रीरूपसे दिनरूपमें ग्रहण किया क्योंकि पहले इस प्रभाको स्त्रीरूपसे भी कहा है, 'अहाविषुः' यों पाठ होवे तो भी यही अर्थ समझना चाहिए ।।२२।।

आभास : निम्न श्लोकमें रजोगुणसे रची हुई सृष्टिको कहते हैं :

देवोऽदेवान् जघनतः सृजति स्माऽतिलोलुपान्।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाऽभिपेदिरे।।२३।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माजीने अपने जघन स्थलसे कामासक्त असुरोंको उत्पन्न किया. वे अत्यन्त कामी होनेके कारण मैथुनकेलिए इनके पास दौडकर आ गए।।२३।।

व्याख्यार्थ: पहले जिस प्रकारकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते उस प्रकारके भावको धारण कर वह सृष्टि करते, अब तो दैत्य सृष्टि करनी है किन्तु देवभावको धारण किया है इसलिए 'देव' विशेषण दिया है 'अदेवान्' देव होके देवोंके शत्रु असुरोंसे 'जघनस्थान' अर्थात् गुह्य(गुप्त) स्थानसे व कटि(कमर) स्थानसे अथवा कटिसे लेकर जानुपर्यन्त(घुटने तक) स्थानसे उत्पन्न किया, क्योंकि कामका इन स्थानोंसे ही सम्बन्ध है, कैसे असुरोंको रचा? इस पर कहते हैं 'अतिलोलुपान्' अत्यन्त कामयुक्त 'काम' तो स्त्री सम्भोगरूप मुख्य है, मैथुन तो पुरुषमें भी होता है यों जो करते हैं वे असुर हैं, जैसे मातासे संग करना निषिद्ध है वैसे पितासे संग करना निषिद्ध है, तो भी कामी होनेसे यों करने लगे लोलुपताका तात्पर्य है कामसे मनकी स्थिरताका नाश अतः काम विवेकादिको नाश करनेवाला है ।।२३।।

आभास : उसके बाद क्या हुआ ? जो हुआ इसे बतानेकेलिए यह श्लोक कहते हैं :

ततो हसन् सभगवान् असुरैर्निरपत्रपैः।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत्।।२४।।

श्लोकार्थ : यह असुरोंका कृत्य देखकर पहले तो हंसे, किन्तु फिर उन निर्लज्ज असुरोंको अपने पीछे आते देख, क्रोधित हो डरे हुए जोरसे भागे।।२४।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजी पहले तो यह असुर कृत्य(कार्य) देखकर हंसे, क्यों हंसे? इस पर कहते हैं कि उनको ऐसा कृत्य(काम) करते हुए लज्जा नहीं आती है, इससे हंसे. इसके बाद भगवान् भी इसमें प्रादुर्भूत हुए अतः भगवान्के साथ होनेसे भगवद्धर्म ही इनमें(ब्रह्माजीमें) स्थिर रहा, न कि दैत्यधर्म आया, जो यों न होता तो असुरोंसे क्रीडा करने लग जाते, रसाभाससे प्रवृत्त हुए इसलिए निर्लज्ज कहा, असुर स्वभावसे रजोगुण प्रधान होते हैं अतः वे पीछे पडे थे जिससे शीघ्र ही पहले क्रोधयुक्त हुए. क्रोधके द्वारा असुरोंको, कामसे मुक्त करा दूं किन्तु ऐसा

होता न देखकर कि वे पीछे आ रहे हैं, अतः ब्रह्माजी भयभीत हो भागने लगे ।।२४।।

आभास : वह भागते हुए वैकुण्ठ गए जहां भगवान् विराजते हैं यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम्।

अनुग्रहाय भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम्।।२५।।

श्लोकार्थ : वह(ब्रह्माजी) वरदेनेवाले शरणागतोंकी आर्तिको हरनेवाले, भक्तों पर अनुग्रह करनेकेलिए उनके भावनानुसार दर्शन देनेवाले हरिके पास जाकर कहने लगे।।२५।।

व्याख्यार्थ: लौकिक उपायसे ये शान्त नहीं होंगे, अलौकिक उपाय तो भगवान्से हो सकता है, यों जतानेकेलिए कहते हैं 'वरद' वर शब्दका तात्पर्य है अलौकिक पदार्थोकी प्राप्तिके उपाय. वे वर तो लोकमें जो चाहिए उनकी प्राप्तिरूप होते हैं, किन्तु भगवान्के द्वारा जो वर प्राप्त होते हैं वे शरणागतोंके दुःखोंके हरण करनेवाले हैं, दैत्य भी गये तो उनकी भी आर्तिको हरेंगे? इस पर कहते हैं 'प्रपन्नाः' ये जो शरण आये हैं उनकी आर्ति हरते हैं, दैत्य शरणागत नहीं हैं क्योंकि 'हरि' दुःखहर्ता हैं, किञ्च, भक्तोंका अनुग्रह करनेकेलिए वैकुण्ठमें बिराजे हैं, भक्तोंकी जिस स्वरूपके दर्शनकी भावना हो वैसे ही आप दर्शन देते हैं. 'आत्मा' स्वरूप लोकमें वह देहरूप दीखता है, भगवान्का यह स्वरूप(देह) तो सच्चिदानन्दरूप ही है, इसके सिवाय दूसरा अन्तरात्मा नहीं है, पौराणिक कहते हैं कि दूसरा है ।।२५।।

आभास : इस प्रकार भगवान्के पास जाकर असुरोंसे दुःखी होनेके कारण बिना भगवान्को नमस्कार किए ही प्रार्थना करने लगे:

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेरणेनाऽसृजं प्रजाम्।

ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो।।२६।।

श्लोकार्थ : हे परमात्मन्! मेरी रक्षा कीजिए, आपकी ही प्रेरणासे मैंने प्रजा उत्पन्न की है किन्तु यह पापमें प्रवृत्त होकर मैथुनार्थ मुझे तंग कर रही है।।२६।।

व्याख्यार्थ: आपकी प्रेरणासे मैंने प्रजा बनाई, उसमें दैत्यरूप यह प्रजा मुझ पर ही मैथुनार्थ आक्रमण कर रही है, अतः मेरी रक्षा कीजिए, क्योंकि आपमें

ऐसी सामर्थ्य है, आप प्रेरक हैं मैं प्रेरित किया गया हूं .आप प्रेरक हैं इसमें किसी तरहका संशय नहीं है कारणकि आप परमात्मा हैं अतः आप नियामकरूप आत्मा हैं इस कारणसे ही आपसे मैं प्रेरित हुआ हूं, ये इस प्रकारके उत्पन्न होंगे यों आप ही जानते थे न कि मैं जानता था अतः दोषोंका समाधान भी आपको ही करना चाहिए. इस कुकर्ममें मैथुनदोष शीघ्र होनेवाला दीख रहा है अतः शीघ्र समाधान करना चाहिए, इसमें आप समर्थ हो यों जतानेकेलिए 'प्रभो' विशेषण दिया है ।।२६।।

आभास : प्रजा उत्पन्न की है, आप पिता वे पुत्र हैं अतः एकका हित करना कठिन है यदि कहो कि दोनोंका हित कीजिए तो विरोधमें दोनोंका हित कैसे होगा ? इस पर आप कहते हैं कि दैत्यों पर आपकी कृपा नहीं है अतः एकका ही हित कीजिए ऐसी प्रार्थना निम्न श्लोकमें करते हैं :

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।
त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव।।२७।।

श्लोकार्थ : हे प्रभो ! निश्चयसे आप ही एक दुःखी लोकोंके दुःखका नाश करनेवाले हैं और जिन्होंने आपके चरणोंकी शरण नहीं ली है उनको(सेवकोंको) क्लेश भी आप ही देते हैं।।२७।।

व्याख्यार्थ: 'अनासन्नपदाम्' इसके कहनेसे ही यह आशय निकलता है कि जो शरणागत है उनका आप अकेले ही बिना किसी सहायताके उनका अदृष्ट(प्रारब्ध) भी ध्यानमें न लाकर उन दुःखी लोकोंका क्लेश नाश करते हो यह प्रसिद्ध ही है. क्लेश तो काल आदिका किया हुआ होता है, तब भगवान् दूसरों पर उपेक्षा करते हैं इसकी व्यावृत्तिकेलिए कहते हैं, 'त्वमेकः क्लेशदः' आप एक ही क्लेश देनेवाले हैं, किनको ? इस पर कहते हैं 'अनासन्नपदां' जो शरण नहीं आये हैं उनको ''सुखं दुःखं भवो भावः'' इस शास्त्रके अनुसार यहां यह क्लेश देना नहीं है किन्तु भक्तिकी प्रवृत्ति हो इस विचारसे क्लेशादि भक्तिमें प्रवृत्ति कराते हैं जैसे काल आदि अधिकारी दुःख देनेवाले हैं वैसे भगवान् भी भक्त हितार्थ स्वतन्त्ररूपसे दुःख देनेवाले हैं इसलिए कहा है. 'त्वमेकः क्लेशदः' जो सेवक शरणमें नहीं आते हैं उनको काल आदि दुःख नहीं दे सकते हैं किन्तु आप एक ही दुःख देते हैं शास्त्रार्थ इस तरह कैसे विषमता करते हैं? इस पर कहते हैं 'तव' अर्थात् आपके होकर भी आपकी शरण नहीं लेते हैं, उनकेलिए ही आप एक ही

दुःख दे सकते हैं. कालादि नहीं इससे यह स्पष्ट किया है कि जो आपके हैं उनको दुःख देनेकी सामर्थ्य दूसरोंमें नहीं है यदि कालादि साधारण अधिकारके कारण दुःख दें तो भी उनके उस दुःखको आप मिटानेवाले हैं इससे हमारा दुःख दूर कीजिए और उनका निराकरण कीजिए ।।२७।।

आभास : यों करना भगवान्को बहुत अभीष्ट(इच्छित) नहीं था इसलिए निम्न श्लोकमें दोनोंके समाधानका उपाय कहते हैं :

सोऽवधार्याऽस्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः।
विमुञ्चाऽऽत्मतनुं घोराम् इत्युक्तो विमुमोच ह।।२८।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माजीकी देहमेंके सर्व पदार्थोंके देखनेवाले प्रभुने इनकी दीनता देख कहा कि तुम इस अपनी घोर देहका त्याग कर दो, यों भगवान्के कहने पर ब्रह्माजीने इस देहको त्याग दिया।।२८।।

व्याख्यार्थ: दोषका कारण जाने बिना यदि उसकी यों ही निवृत्ति की जाय तो मर्यादाका नाश हो वह प्रभुको इष्ट नहीं, अतः कहा है कि ''अच्छी तरहसे विचारपूर्वक ब्रह्माजीकी देहमें स्थित पदार्थोंको प्रत्यक्षरूपसे देख लिया जिससे निदान(करण)का ज्ञान हो गया'' अतः कारणज्ञ प्रभुने ब्रह्माजीको कहा अपनी इस देहका त्याग कर दो जिस शरीरसे ये दैत्य रचे. जो शरीर घोर है यदि वह घोर नहीं हो तो कार्य(दैत्योत्पत्ति) भी घोर न हो, इस प्रकार भगवान्के कहने पर ब्रह्माजीने उस देहका त्याग कर दिया 'अथवा' ब्रह्माजी देहका त्याग करें इसलिए 'विविक्ताध्यात्म दर्शनः' ब्रह्माका विशेषण समझना ब्रह्माने अपनी देहमेंके पदार्थ देख लिए जिससे देह त्याग अच्छा समझा 'ह' पद आश्चर्यवाचक है ।।२८।।

आभास : पृथक् स्वभावसे उत्पन्न होनेसे वह देवता भी दैत्योंका हित करनेवाली हुई और देव होनेके कारण भ्रमकारिका हुई यों निम्न तीन श्लोकमें कहते हैं :

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम्।
काञ्चीकलापविलसद् दुकूलच्छन्नरोधसम्।।२९।।
अन्योन्यश्लेषणोत्तुङ्ग–निरन्तरपयोधराम्।
सुनासां सुद्विजां स्निग्ध–हासलीलावलोकनाम्।।३०।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माजीने जिस शरीरका त्याग किया वह उन कामातुरोंको स्त्री रूपमें दिखाई दिया जिसके रूपका वर्णन करते हैं.

हे धर्म ! उसके चरण कमलोंमें पायजेब झंकार कर रहे थे, और नेत्र मदसे भरे होनेसे विह्वल हो रहे थे, एवं उसकी कमर करधनीकी लडोंसे सुशोभित रेशमी सुन्दर साडीसे ढकी हुई थी, स्तन परस्पर मिले हुए थे क्योंकि दोनों उभरे हुए थे नासिका तथा दन्त पंक्ति बडी ही सुन्दर थी, एवं वह मन्द-मन्द मुस्कराती हुई स्नेहयुक्त दृष्टिवाली थी।।२९-३०।।

व्याख्यार्थ: देवताको भक्त जिस भावनासे देखते हैं वह उनको उस रूपमें दर्शन देती है वे(इसके भक्त असुर) कामातुर थे अतः इसको रूपवती स्त्रीरूपमें देखने लगे जो प्रकार(नमूने) उनके मनमें रुचते थे वैसे उसमें उन्होंने देखा जिसका वर्णन किया जाता है क्योंकि वह देवता थी इसलिए उनके भावानुसार दर्शन देती थी. जब तक दैत्योंने स्पर्श नहीं किया तब तक बाहर स्थित हो वैसे ही अपनेको दिखाने लगी, जब वह उनसे छूई गई तब वह उनमें ही मिल गई, वह सन्ध्याभिमानी देवता थी, यों जैसी देखी वैसी स्तुति वर्णन की गई, असुर उसके पास जाने लगे और कामलीलासे प्रश्न पूर्वक वर्णन यों आठ श्लोंकोसे उसकी प्रसंशाका निरूपण किया जाता है, पश्चात् एक श्लोकसे उसके पकडने तथा उसके अनुभवका वर्णन किया है जिसके झंकार करते हुए चरणकमल जैसे हैं. उसके देहमें मुख तथा चरण ये दो ही खुले थे, दूसरे शरीर पर वस्त्र थे वैसे वर्णन किया है अतः उन असुरोंको हीनांग देखनेकी चाहना थी इसलिए पहले चरणोंका वर्णन किया है. नेत्रोंको अम्भोज(कमल) कहा है क्योंकि सुखजनक थे अनन्तर अपनी अभिलाषानुसार मुखका वर्णन है, मदके कारण जिसके नेत्र विह्वल हो रहे थे, करधनीकी लडोंसे सुशोभित सुन्दर साडीसे कमर ढकी हुई थी, इस तरहके वर्णनसे जो आभरण(जेवर) और वस्त्र प्रकट थे निरूपण किये. कलाप शब्दका अर्थ 'कलापति' कलाकी रक्षा करें अर्थात् अधो(नीचेके) वस्त्र ढीले पडे तो उसको गिरने न दे अथवा उसके अंश भी उत्कृष्ट उत्तम होनेसे समूहरूप हैं, अतः उसको भी 'कलाप' कहा है. 'रोध' शब्दका भाव बताते(कहते) हैं कि, कामरूप कुण्डमें स्नान करनेवालोंकेलिए यह तट(किनारा) है. परस्पर मिले हुए स्तन थे दोनोंके मध्यमें कोई(स्थान) खाली नहीं था, क्योंकि वे स्तन बहुत ही उभरे हुए थे[१] ।।२९-३०।।

१.मयूरोंके और उनके समूहरूप उसका शरीर था गूहती-ब्रीडया यहां श्रीधरजीका मत कहा है. 'परिदृश्यमान' यहां भी श्रीधरजीका अथवा अन्योंका मत कहा है. 'केचित' इत्यादिसे इस प्रकारके अर्थमें स्वारस्य नहीं है, यों जतानेकेलिए कहते हैं 'एते' ये गुण

आधिदैविक स्वरूप बतानेवाले हैं, गोणीसे केवल कथन नहीं है, जो यों माना नहीं जावे तो 'स्त्रीरूप' वाक्यका अर्थ असंभव हो जाय अर्थात् असत् हो जाए. वैसे मोह धैर्य ग्रहण करनेका जो आगे वर्णन किया है उन वाक्योंसे विरोध होगा. प्रकाश.

आभास : इस तरह उपर्युक्त २९–३० दो श्लोकोंसे रूप कहकर अब इस ३१वें श्लोकमें स्त्री भावका वर्णन करते हैं :

गूहन्तीं व्रीडयाऽऽत्मानं नीलालकवरूथिनीम्।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे संमुमुहुःस्त्रियम्।।३१।।

श्लोकार्थ : नीली अलकावलीसे सुन्दर वह सुकुमारी लज्जाके कारण अपनेको अपने वस्त्रोंमें ही छिपा देती थी. हे धर्म!(विदुरजी) उस स्त्रीको प्राप्तकर(देखकर) वे सकल असुर उस पर मोहित हो गए।।३१।।

व्याख्यार्थ: लज्जाके कारण शरीरको छिपाती थी, यहां 'आत्मा' स्त्रीभावको प्राप्त हुआ है, वह जिसकी चेष्टासे गुप्त हो जावे लज्जासे उस प्रकारकी चेष्टा कर रही थी, नंगे होनेसे देखनेमें आनेवाले अवयवोंको(अंगोको) वस्त्रसे ढक लेती थी, यों किसीका मत है, जैसे बाहर पदार्थ असुरोंकी बुद्धिसे कल्पित है वैसे लज्जा भी कल्पित है, उसकी नील वर्णवाली अलकें एक नहीं किन्तु समूहरूप(बहुत) थी इससे उसके कैसे लक्षण हैं वे कहे हैं.

कितने ही इस शरीरको आध्यात्मिकरूप मानते हैं(यह श्रीधरजीका मत बताते हैं) जैसेकि पक्षी आदिके जो शब्द हो रहे थे उनको चरणोंकी झंकार मानो(कहो) आधा अस्त हुआ सूर्य और आधा उदय हुआ जो चन्द्र थे उसके नेत्र माने हैं, लाल मेघको करधनी मानी है, आकाशको ही वस्त्र कहा है, दिशाएं ही तट(कमरका भाग माना है). कामवाली स्त्री और कामवाले पुरुष दोनोंके जो मनोरथ हैं वे ही उभरे हुए स्तन माने हैं व चक्रवाक ही स्तन थे. शुक तोतेको ही उत्तम नासिका कही है, श्वेत पुष्पोंको दांत माने हैं, सुन्दर श्वेत पक्षियोंको(व्युत्पत्तिके अनुसार) दांत कहे हैं, स्निग्ध जो हास जिस हाससे पुरुषसे सम्बन्ध(विलास) होनेकी सूचना मिलती है, वहां जो लीला उसके सहित ही जिसका अवलोकन है, उस रूपकको(सन्ध्याके रूपकको) स्त्री कहा है, उस समय कामियोंका अथवा खिले हुए पुष्पों पर बैठे हुए भ्रमरोंके भाव कहे हैं. गूहन व्रीडा(लज्जा)से छिपना, यह प्रशिक्षण सन्ध्याका तिरोभाव है. लज्जा क्या है? उस समयके सत्कर्म लज्जा है, अन्धकारको ही केशपाश माना है, ये धर्म केवल

ज्ञापक(पहचान करनेवाले) हैं न कि ये धर्म ही थे. स्त्री थी ही नहीं यों न समझना चाहिए यदि वह न थी यों माना जायेगा तो वाक्योंका अर्थ झूठा होगा, और समस्त वाक्योंका विरोध होगा, अतः ये केवल ज्ञापक है इसलिए इनका वर्णन उचित है, यदि देवता वैसी न होती तो लोकमें सन्ध्या समय ऐसे भाव न होने चाहिए.

इस तरह उसका वर्णनकर, उसके दर्शन होनेका कार्य ३१वें श्लोकके उत्तरार्धसे कहते हैं, हे धर्म! यह सम्बोधन विदुरजीको इसलिए दिया है कि विदुरजीमें मोहका अभाव है. हे धर्मराज! यों आशय है, हे धर्म! एकदेश(भाग)के सम्बोधन देनेका तात्पर्य यह है कि विदुरजी अब राजा नहीं हैं, उनमें केवल धर्म विद्यमान है इसको दिखानेकेलिए यों सम्बोधन दिया है. सब असुर उस पर मोहित हो गये क्योंकि वह स्त्री थी इसलिए 'स्त्रियम्' अन्तमें कहा है ।।३१।।

आभास : वे असुर उस शरीरको स्त्रीभावसे देखकर मोहित हुए हैं, उनकी ऐसी मनोवृत्तिका वर्णन ब्रह्माजी निम्न श्लोकमें करते हैं :

अहो रूपम् अहो धैर्यम् अहो अस्या नवं वयः।
मध्ये कामयमानानाम् अकामेव प्रसर्पति।।३२।।

श्लोकार्थ : वे असुर मनोवृत्तिको प्रकट करते हैं. अहो ! इसका कैसा विचित्र रूप है, तथा कैसा अलौकिक धैर्य है, फिर इसकी कैसी नयी अवस्था है, इतना होने पर भी हम काम पीडितोंके मध्यमें ऐसे फिर रही है कि उसको किसी प्रकारकी कामना नहीं है।।३२।।

व्याख्यार्थ: इसके रूपका वर्णन कर कहते हैं कि क्या कहा जाय कैसा अनोखा रूप है अतः आश्चर्य है.

आश्चर्य है, इसका केवल रूप अचम्भेमें नहीं डालता है किन्तु 'धैर्य' भी वैसा ही है. इसकी चेष्टा(चाल)से जाना जाता है कि 'काम' तो इसमें भी बहुत है तो भी यह असुरोंकी तरह लोलुप नहीं अर्थात् भोगार्थ पुरुषके पीछे नहीं पडती है अतः इसके धैर्यको देखकर भी आश्चर्य होता है, ये दो(रूप और धैर्य) जो भोगका स्वाद ले चुकी है अथवा जो अधेड हो गई हो उनमें भी रूप और धैर्य होते हैं. इसमें आश्चर्य क्या है? इस पर कहते हैं कि, इसकी अब तक अवस्था नवीन है अर्थात् यह किसीसे भोगी हुई नहीं है, अतः अब तो कमलकी तरह खिल रही है, जिससे इसकी युवावस्था उभर रही है, जिससे वय(उमर) भी आश्चर्यकारक है, इस तरह इसमें जो ये तीन दोष हैं. कामरूप सन्निपातको उत्पन्न करनेवाले हैं,

अतः वह कैसे बिना कामवाली होगी, किन्तु इस पर कहते हैं कि निडर होकर हम लोगोंके मध्यमें घूम-फिर रही है इससे ज्ञात होता है कि यह 'अकामा' है मुख्य तो अकामामें क्रियाका अभाव होना चाहिए, इसमें भाव आदि देखनेमें आते हैं इसलिए यह अकामा नहीं है किन्तु उस जैसी देखनेमें आती है. किञ्च इसमें केवल भीतरके ही दोष हैं किन्तु बाहरके भी दोष हैं 'मध्ये कामयमानानां' हम सब कामी हैं हमारे बीचमें फिर[१] रही है इससे इसमें काम अवश्य है उस कामने इसको अपने लपेटमें लिया है, यदि अकामा हो तो हमारे बीचमें कैसे निर्लज्ज की तरह फिरे? ।।३२।।

१.विशेष सर्पण(फिरना)का तात्पर्य है अपनेको छिपाना. प्रकाश.

आभास: यदि कहा जावे कि पहचान नहीं है अतः अकामाकी तरह फिरा करती है, इस पर कहते हैं कि हम इससे बातचीत कर परिचय प्राप्त कर लेंगे, इस अभिप्रायसे उन्होंने इसके साथ संवाद करनेका प्रयत्न किया, जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम्।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात् पर्यपृच्छन् कुमेधसः।।३३।।

श्लोकार्थ: इन कुबुद्धि दैत्योंने स्त्रीकी आकृतिवाली सन्ध्याके विषयमें अनेक तर्क-वितर्क किये, अनन्तर विश्वास पूर्वक उसका आदर करते हुए उससे प्रेमसे पूछा।।३३।।

व्याख्यार्थ: युवा स्त्रीकी आकृतिवाली सन्ध्याके विषयमें उन असुरोंने अनेक प्रकारके तर्क-वितर्क करते हुए अन्तमें पूछा, यों वाक्यका सम्बन्ध (अन्वय) है. अनेक प्रकार कहनेका तात्पर्य है कि इसके स्वरूप एवं सम्बन्ध आदि जाननेकेलिए बहुत तर्क किये न कि उसके स्त्रीत्वमें और वह संभोगके योग्य है व नहीं? इस विषयमें सन्देह नहीं अतः तर्क-वितर्क भी नहीं, किन्तु किस प्रकारके सन्देह हैं कि आगे पूछेंगे? प्रश्नसे पूर्व स्वतः अपने आपकेलिए वितर्क हुआ, जिसके समीप होनेसे विशेष भय हुआ वह स्त्रीरूप देवता है, उसका सर्व प्रकार आदर कर और स्तुति कर एवं कुशल आदि पूछकर, मनमें यह विश्वास रखा कि यह हम लोगोंके साथ प्रेम करेगी. 'परितः' पदका तात्पर्य है कि नाम गोत्र आदि सर्व भेद इसलिए पूछे कि यह कौन है? कुबुद्धिवाले थे इसलिए यह देवता है, इस प्रकारका ज्ञान नहीं था, देवता भोग्य(प्रेम, विषय करने) योग्य नहीं होती है

वह केवल दर्शन करने योग्य है न कि स्पर्शके योग्य है यों तात्पर्य है ।।३३।।

आभास : इस श्लोकमें इससे तीन प्रश्न किये वे कहते हैं :

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि।

रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे।।३४।।

श्लोकार्थ : हे सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री व पत्नी हो? हे भामिनी! यहां किस अर्थकेलिए आई हो? अपने रूपको बहुत द्रव्यसे बेचना चाहती हो तो हम दरिद्र हैं सो ले न सकेंगें, इस प्रकार हमकों क्यों पीडा दे रही हो।।३४।।

व्याख्यार्थ: तू कौन है? यह जाति और कुल विषयक प्रश्न है, तू किसकी है? यह पिता और पति सम्बन्धी प्रश्न है? यहां किसलिए आई हो? इस प्रकार तीन प्रश्न किये, ये प्रश्न केवल परिचय होनेकेलिए पूछे हैं किन्तु इनके उत्तर जाननेकी कोई आवश्यकता नहीं, हे भामिनि! इस सम्बोधनसे उसकी स्तुति की है, हे उत्तम स्त्री! तू ऊपरसे तो उत्तम दीखती है उत्तम अर्थात् महान्. महान् तो कार्य भी महान् करते हैं अतः तेरा कार्य भी महान् ही है, किन्तु एक ही कार्य तेरा समीचीन(उचित) नहीं है वह यह है जो तुम अपना सौन्दर्यरूपी द्रव्य बेचनेसे हम दरिद्रोंको पीडा करती है, रूप ही द्रविन(सुवर्ण) है वह ही मूल्य है, वह बहुत मूल्य देने पर मिलेगा. हम दरिद्र हैं इतना द्रव्य हमारे पास नहीं अतः पीडित होते हैं. कितने ही तामस(असुर) उपाय क्या है, यह न समझकर यों कहने लगे ।।३४।।

आभास : दूसरे तो इस प्रकार कहने लगे :

या वा कास्वित्त्वम् अबले दिष्ट्या संदर्शनं तव।

उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः।।३५।।

श्लोकार्थ : हे अबला ! तू चाहे कोई भी हो, हमें तुम्हारे दर्शन हुए यह प्रसन्नताकी बात है, तुम गेंदसे ऐसी क्रीडा कर रही हो जिससे हम लोगोंके मनको मथ रही हो।।३५।।

व्याख्यार्थ: तू कोई भी हो, 'वा' शब्द अनादरके अर्थमें है, 'स्वित्' शब्द सम्भावना दर्शक है, अथवा सम्बन्ध एवं सम्भावनामें अनादर द्योतक है. हे अबले! सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि जो निर्बल हो उसकी सेवा करनी चाहिए. तू निर्बल है अतः हम पाद संवाहनादिसे तुम्हारी सेवा करेंगे, हम अभागे नहीं है किन्तु भाग्यशाली हैं यह हमको निश्चय है क्योंकि तुम्हारे दर्शन हो गये हैं

यह प्रसन्नता और बडे सौभाग्यकी बात है.

अपराधी होकर कहते हैं कि, तू तो सर्वथा देवता है देवताकी सेवा और देवताका दर्शन बडे भाग्यसे प्राप्त होते हैं न कि अल्प भाग्यसे मिलते हैं. तू हमारे मनोंको गेंदकी क्रीडासे मथ रही है, जैसे पाषाणसे सोमरस मथा जाता है. जिससे वह तुझसे विराम न पा सके अर्थात् तुझे छोड न सके, गेंदकी क्रीडा शरीरके इधर-उधर फिरानेसे होती है जिससे अवयव कभी वस्त्रसे ढके रहते हैं कभी खुल जाते हैं, अतः जो चित्त उस(शरीर)का दर्शन करना चाहता है वह, क्षण-क्षणमें हार जाता है, जिससे मन दुःखी होता है ।।३५।।

आभास : दूसरे जो सात्त्विक वृत्तिवाले थे उन्होंने कहा कि यह इस तरह उपालम्भ(उल्हाने)के योग्य नहीं है. उससे(उल्हानेसे) प्रसन्न न होगी, अतः इसकी स्तुति करनी चाहिए जिससे यह प्रसन्न होगी इस आशासे निम्न श्लोकमें स्तुति करने लगे:

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं श्रान्तेव दृष्टिरलसा सुशिखासमूहः ।।३६।।

श्लोकार्थ : हे मनोहारिणी ! तुम जब गेंदसे खेलती हो तब बीचमें जो भ्रमर आके रुकावट डालते हैं तब तुम उनको अपनी हथेलीसे प्रहार कर भगाती हो जिससे आपके चरण कमल एक जगह नहीं ठहरते हैं, अतः उनकी सर्वत्र जय होती है, तुम्हारा कटिभाग बडे स्तनोंके भारसे भयभीत होनेसे दुःखी है, तुम्हारी दृष्टि थकी हुई जैसी आलस्य भरी है, केशपाश कैसा सुन्दर है[१]।।३६।।

१. 'न' शब्दके साथ 'एकत्र'का समास ऐसे अभिप्रायसे यह कहा है. प्रकाश.

व्याख्यार्थ: कामशास्त्रमें कामिनीको यों ही देवता माना है 'ताः स्तुमः' उनकी स्तुति करते हैं इस वाक्यानुसार हम भी स्तुति करते हैं, अलौकिकरूपका वर्णन ही अर्थात् उसका महत्वसे कथन ही स्तुति है, वह कहते हैं, हे शालिनी! मनोहारिणि! अथवा विनययुक्त! तुम्हारे चरणकमल एक जगह जम नहीं पाते हैं बल्कि सर्वत्र जम पा रहे हैं. प्रसिद्ध कमल तो जलमें ही शोभता है तुम्हारे चरणकमल सर्वत्र शोभा दे रहे हैं. चरणकमल यह पद भक्तिका सूचक है अतः सर्वत्र जय एवं शोभा पा रहे हैं चरणकमलोंके चलित होनेका कारण बताते हैं कि, गेंदसे क्रीडा करते हुए जब मध्यमें भ्रमर पडते हैं तो उनको भगानेकेलिए हथेलीसे प्रहारकर इधर-उधर चलना पडता है, जातिकी अपेक्षा एकवचन दिया है, ये

असुर सात्त्विक थे अतः सूर्यको ही यों मानते हैं क्योंकि अस्त होनेवाले सूर्यको सन्ध्याकी किरणें प्रहार करती हैं.

बडे स्तनोंके भारसे तुम्हारी कटिको पीडा होती है, उस पीडाकी निवृत्तिकेलिए हम इन दोनों कलशों(स्तनों)को पकड रखेंगे, कटि पतली होनेसे पीडित(दुःखी) होती है किन्तु कृश कटि उत्तम स्त्रीका लक्षण है, यों न होवे तो कामशास्त्रमें कहे हुए बन्ध बन न सके, बडे स्तनोंके भारसे केवल विषाद(दुःख) नहीं हुआ किन्तु कटि टूटनेका भय भी होने लगा, यों कहनेका भाव यह था कि तुम्हे(इसको) सो जाना चाहिए, और विशेष यह है कि तुम्हारी दृष्टि भी श्रमित सी(थकी) हुई है, और रससे पूर्ण होनेसे आलस्ययुक्त हो गई है. 'श्रम' बाहरके कार्यसे शरीरको होता है, आलस्य मनको होता है, तुम सुन्दर केश समूहवाली हो, यों कहनेका भावार्थ है कि तुम्हें हम लोगोंकी गोदमें शयन करना चाहिए ।।३६।।

आभास : असुरोंकी इस प्रकारकी स्तुति सुनकर भी वह चुप रही कुछ उत्तर न दिया जिससे उन्होंने समझा कि हमारी इच्छाओंको इसने माननेसे निषेध नहीं किया है जिसका तात्पर्य यह है कि, यह हमारी कामनाओंको स्वीकार करती है यों समझकर सर्वने उसको पकड लिया यों इस निम्न डेढ श्लोकसे कहते हैं :

इति सायन्तनीं सन्ध्याम् असुराः प्रमदायतीम्।
प्रलोभयन्तीं जगृहुः मत्वा मूढधियः स्त्रियम्।।३७।।
प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना।

इस तरह स्त्री सदृश(जैसे) आचरण करनेवाली और अपनेको मोहित करनेवाली सायंकालकी सन्ध्याको मूढ बुद्धिवालोंने स्त्री समझकर पकड लिया और चित्त प्रसन्न हो वैसे हंसकर(मुस्करा कर) अपनेको आप ही सूंघने लगे ।।३७।।

व्याख्यार्थ: सायंकालकी सन्ध्या स्त्रीकी तरह आचरण करनेवाली और असुरोंको मोहित करती हुई अर्थात् उनमें वह काम उत्पन्न करती थी यों देखा. वह जब इस प्रकार करने लगी तब असुरोंको निश्चय हुआ यह कोई स्त्री है, यों समझकर उसको आलिंगन करने लगे, क्योंकि ये मूढ बुद्धि हैं, ब्रह्माके पुत्र होते हुए भी तत्त्वको नहीं समझते हैं. इसके बाद क्या हुआ ? इस शंकाके उत्तरमें कहा है कि वे सब उसको आलिंगनकर भूतावेशकी तरह उसको अपनेमें प्रविष्ट देखा बादमें अपनेसे ही अपनेको सूंघने लगे,पहले तो उससे अपनेको आलिंगित समझ

बहुत प्रसन्न जैसे हो गये, क्षण गुजरने पर वह देखनेमें ही नहीं आई तब जाना कि यह कोई हमको ठगनेकेलिए आई हुई दीखती है, अतः छिप गई है, भावकी गम्भीरता जैसे समझमें आवे उसी तरह मुस्कुराये फिर अपनेको ही स्त्री समझ, नियामकरूप आदि न देखकर उसको कमल जैसी गन्धवाली मान, गन्धसे पहचाननेकेलिए सूंघने लगे ।।३७।।

आभास : इस तरह [१]एकप्रकारसे पहले तीन प्रकारकी सृष्टि कहकर अब दूसरे[२] प्रकारसे तीन प्रकारकी सृष्टि निम्न श्लोकसे कहते हैं :

१.एक प्रकार(१)तामस–तामस,(२)तामस–सात्त्विक(३) तामस–राजस.

२.दूसरा प्रकार(१)सात्त्विक–सात्त्विक(२)सात्त्विक–तामस(३)सात्त्विक–राजस.

एक प्रकारेणका भावार्थ है, तामस–तामस, तामस–सात्त्विक, तामस–राजस, प्रकारसे सृष्टि की. सात्त्विक–सात्त्विक, सात्त्विक–तामस और सात्त्विक–राजस प्रकारसे कहा है. सात्त्विकसे उत्पन्न शरीर प्रकाशक और प्रिय होनेसे उसका कार्यभूत भी सात्त्विकी है. प्रकाश.

कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान्।।३८।।
विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमयीं प्रियाम्।
त एव चाऽऽददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः।।३९।।

श्लोकार्थ : इसके बाद भगवान्(ब्रह्माजी)ने अपनी कान्तिमयी मूर्तिसे गन्धर्व और अप्सराओंके गणोंकी रचनाकी इस रचनाके अनन्तर उस अपने प्रिय ज्योत्स्ना(चांदनी)रूप प्रिय कान्तिमय शरीरका भी त्याग कर दिया, जिसको विश्वावसु आदि गन्धर्वोंने प्रेमसे ग्रहण किया।।३८–३९।।

व्याख्यार्थ: 'कान्ति' पदका अर्थ है लावण्य अर्थात् सौन्दर्य, यह सृष्टि सात्त्विकी इसलिए हुई है कि इसको उत्पन्न करनेवाला शरीर प्रकाशक तथा प्रियरूप था कोई कहते हैं कि राजस[३] थी, साध्य और पितृगण सात्त्विक कहे जाते हैं. किन्तु यह मत शंकावाला है क्योंकि इसके सात्त्विकतामें कोई तर्क नहीं है, अतः यह मत दोषयुक्त है, आचार्यश्री इस मतकेलिए कहते हैं कि इस पर विचार करना चाहिए, ब्रह्माकेलिए भगवान् शब्द देकर यह सूचित किया है कि ब्रह्मामें भगवान्ने फिर मूलरूपसे प्रवेश किया है, पहले आरम्भ किये हुए गुणोंके समाप्त हो जानेसे गन्धर्व और अप्सराओंका गण शब्दसे इनकी अवान्तर जातियां भी कहीं हैं ।।३८।।

३.राजसी इत्यादि यह श्रीधरजीका मत नहीं है, दूसरे मत विचारणीय हैं क्योंकि उन मतोंमें युक्तिका अभाव है. प्रकाश.

उस शरीरको भी ब्रह्माजीने त्याग दिया वह शरीर चांदनीरूप हुआ क्योंकि वह(चांदनी) कान्तिवाली है, यदि 'कान्तिमतीं' पाठ होवे तो भी यही अर्थ समझना, वह ब्रह्माजीको प्रिय है, अथवा गन्धर्व और अप्सराओंको प्रिय है, यह निश्चय है कि वे चांदनीमें ही रमण करते हैं, इसलिए उन गुणोंने ही उसको ग्रहण किया 'च' पदसे भौतिक चांदनीको भी उनने ग्रहण किया. 'विश्वावसु'को वेदमें मुख्य कहा गया है जैसेकि ''विश्वावसुः पर्यमुष्णात् इतिश्रुतेः'' गन्धर्व और अप्सराओंमें विश्वावसु और पूर्वचित्ति हूं, इस तरह विभूति वर्णनमें कहा है अतः विश्वावसु मुख्य है ।।३९।।

आभास : तामसी सृष्टिका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं :

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवान् आत्मतन्द्रिणा।
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद् दृशौ।।४०।।

श्लोकार्थ : इसके अनन्तर भगवान् ब्रह्माजीने अपनी तन्द्रासे भूत एवं पिशाचोंकी सृष्टि की, उनको नग्न तथा बिखरे हुए बालोंवाला देख आंखे मूंद ली।।४०।।

व्याख्यार्थ: 'तन्द्री' आलस्य तथा निद्रा उससे भूत पिशाच रचे, यह सृष्टि इतनी ही नहीं है, किन्तु इससे अधिक प्रकारकी भी है यों जतानेकेलिए 'सृष्ट्वा' यह ''क्त्वा'' प्रत्ययान्त पद दिया है, आंखे बंद करना आलस्य और निद्राका अवान्तर साधन है, रचे हुए पिशाच नग्न तथा बिखरे हुए बालोंवाले थे उनका यह रूप अमंगल जान ब्रह्माजीने नेत्र मूंद लिए, नेत्र मूंदनेसे उन्माद गण उत्पन्न हुआ, बादमें दोनों शरीर(आलस्यवाला तथा नेत्र मूंदे ये दोनों शरीर) त्यागे[१] ।।४०।।

१.नेत्र बंद किये थे उस स्थितिका त्याग किया, अर्थात् आलस्य एवं नेत्र मूंदे थे इन दोनों शरीरों(स्थितियों)का त्याग किया. प्रकाश.

आभास : उनमेंसे एक शरीरका जिस प्रकार विनियोग हुआ वह निम्न श्लोकमें कहते हैं :

जगृहुस्तद् विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः।
निद्राम् इन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते।
येनोच्छिष्टान् धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते।।४१।।

श्लोकार्थ:प्रभुके त्याग किये हुए उस जम्भाईरूप शरीरको भूत पिशाचोंने ग्रहण किया, इसीको निद्राका रूप भी कहते हैं, जिससे भूतोंकी इन्द्रियोंमें शिथिलता आती देखी जाती है, उच्छिष्ट(झूठे) मूंह होते हुए जो सो जाते हैं उन पर भूत पिशाचादि आक्रमण करते हैं उसीको 'उन्माद' कहा जाता है।।४१।।

व्याख्यार्थ: भूत और पिशाचोंने ही उस त्यागे हुए शरीरको ग्रहण किया, विसृष्टा विशेष प्रकारसे ग्रहण किया इससे यह भी सूचित किया है कि पूर्वकी तरह यह शरीर ग्रहण किया था, अब फिर छोड दिया, उन दोनों शरीरोंका भेद दिखानेकेलिए पहलेका 'जृम्भणा'(जम्भाई) नाम कहा है, आलस्य व निद्रा जब आने लगती है तब जम्भाई आती है. यद्यपि यह समीचीन नहीं है अर्थात् अशुभ है तो भी ग्रहण करनेका कारण यह है कि प्रभुका शरीर है, पहले जिसके सम्बन्धमें संशय होता था उसको निवृत्त करनेकेलिए उसका नाम 'निद्रा' कहा है. निद्रा ही दूसरा शरीर था.

पहला शरीर 'जम्भाई' था जिससे इन्द्रियोंमें शिथिलता होती है, अब देवतारूप निद्राका कार्य द्वारा लक्षण कहते हैं. १.निद्रासे सकल इन्द्रियां लीन हो जाती हैं और २.निद्रासे ही उनका स्रवण(नाश) होता है, ३.यदि निद्रा आधिदैविक होती है तो आंखोंसे आंसू बहने लगते हैं. इन तीन प्रकारके कार्योंको इन्द्रियोंका 'विक्लेद' कहा जाता है, उसको जिन्होंने ग्रहण किया उनको उन्माद गण कहते हैं, नहीं तो निरूपणकी व्यर्थता हो जाती, उनकी 'उन्माद' संज्ञा कैसे हुई? इस शंकाका समाधान करते हैं कि, जो प्राणी, भोजन आदिके बाद कुल्ला वगेरे अर्थात् मुंह जलसे साफ नहीं करते हैं उच्छिष्ट ही रहते हैं तथा मल त्यागके बाद मुख शुद्धि न कर, अपवित्र ही रहते है उन पर वे आक्रमण करते हैं, इसलिए उस समूहको 'उन्माद' कहते हैं. उन्माद शब्दका तात्पर्य है जिनमें पागलपन बढ गया है वे उन्मादवाले पागल कहे जाते हैं. उन्मत्त ही उन पर आक्रमण करते हैं जो सावधान नहीं रहते हैं, अथवा भूत-पिशाचोंने ही जम्भाई(उबासी) और निद्रा (नींद)को ग्रहण किया, निद्रासे ही दूसरे शरीरसे उत्पन्न किये हुए गणको आक्रमण करनेकेलिए साधनरूपसे ग्रहण किया, यों होने पर वह गण पिशाचोंमें ही अन्तर्भूत समझना चाहिए पिशाच आक्रमण करते हैं. जाननेवाले उनको 'उन्माद' कहते हैं ।।४१।।

आभास : निम्न श्लोकसे राजसी सृष्टि कहते हैं :

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः।

साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणाऽसृजत्प्रभुः।।४२।।

श्लोकार्थ : अपनेको [१]बलवान माननेवाले भगवान् ब्रह्माने साध्योंके समूहोंको और पितृओंके समूहोंको परोक्षसे रचा।।४२।।

१.'ऊर्जस्वन्त' श्लोकमें अतएव इत्यादिसे इन्द्रियोंकी सामर्थ्यका सम्पादकपन तथा उसकी अभिवृद्धिका कर्तृत्व इन दोनोंसे ही इन्द्रियोंके वीर्यरूपपनसे उस तन्त्रमें पवित्र होनेकेलिए ''इषेत्वेति शाखाम् आच्छिनत्ति'' इससे शाखा छेदन करने पर वैसे हुए दोनों जगह प्रतिष्ठितपनमें प्रमाण कहते हैं 'ऊर्ग्वेत्यादि'. प्रकाश.

व्याख्यार्थ: 'इट्' और 'ऊर्ज' विशेष शक्तिको बतानेवाले शब्द हैं, इन दोनों शब्दोंमें 'ऊर्ज' शब्दको समझाते हैं. विषयोंको ग्रहण करनेकेलिए सामर्थ्यका विशेष सम्पादन करनेवाली आत्मामें रहनेवाली विचारोंकी कारणभूता शक्ति 'ऊर्ज' शक्ति कही जाती है. भूख और प्यासको बढानेवाली शक्ति इट् नामसे कही जाती है, अतः इन दोनों शक्तियोंकी प्राप्ति करनेसे शाखाका छेदन करनेमें आता है, ये दोनों शक्तियां भगवान्की हैं जो जीवमें तथा औषधि और वनस्पतियोंमें स्थित हुई हैं जैसेकि श्रुति कहती है ''**ऊर्ग्वा अन्नाद्यं दधि ऊर्ग्वा उदुम्बरम् इति च इषे प्राणाय ऊर्जेऽपानाय इतिच**'' अर्थात् अन्नमें(खाद्य पदार्थमें) आद्य दही ऊर्ज है, और वनस्पतियोंमें उदुम्बर ऊर्ज(बल) है अतः जो ऊर्जयुक्त है वह ऊर्जावाला अर्थात् बलवान् है इसलिए ब्रह्मा मैं बलवान् हूं ऐसे अभिमानी हुए थे उस समय ब्रह्माका भगवान्से सम्बन्ध था. भगवान् तो ऊर्जोंका मूल हैं इसलिए भगवत्सम्बन्धसे ब्रह्माने अपनेको बलवान् समझा ब्रह्मा अज थे यह अभिमानमें कारण है अन्यथा(नहीं तो) सर्वरूप भगवान् अपनेको ऐसा न मानते, ऐसा समझकर ही परोक्षभावसे(अदृष्टसे) ही साध्य और पितृगणोंकी सृष्टि की, सब जो परोक्ष वह 'अदृष्ट' है, इस कारणसे साध्य जो भाग बढनेसे शेष रह जाता है उसके भागवाले होते हैं और पितर 'न्युब्ज'के भागवाले होते हैं अर्थात् श्राद्धमें एक प्रकारके भाजनमें(बरतनमें) रखे हुए भागको लेते हैं. ''**परोक्ष भागिनश्च ह्रीकाः**'' लज्जित परोक्षके भागवाले हैं, अतः दोनों(साध्य और पितरों) की सृष्टि न देखकर अर्थात् परोक्ष ही की है, इस तरह सृष्टि करनेमें सामर्थ्य है क्योंकि 'प्रभु' सर्वसमर्थ हैं ।।४२।।

आभास : उस शरीरको भी ब्रह्माने त्याग दिया, यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

तं त्वात्मसर्गं तत्कायं पितरः प्रतिपेदिरे।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद् वितन्वते।।४३।।

श्लोकार्थ : पितरोंने अपनी उत्पत्तिके कारणरूप उस शरीरको ग्रहण कर लिया, इसीको ध्यानमें रखकर पंडितगण श्राद्धादिमें पितरोंको पिण्ड और साध्योंको हव्य देते हैं।।४३।।

व्याख्यार्थ: इस कारणसे ही उन दोनोंसे अपनेको पैदा करनेवाले ब्रह्माके उस शरीरको ग्रहण किया, मुख्यरूपसे पितरोंने प्राप्त किया, लोकमें पितर ही विशेष प्रसिद्ध हैं. उस शरीरसे दोनोंको क्या प्राप्त होता है वह बताते हैं कि लोक पितरोंको श्राद्ध द्वारा और साध्योंको हव्य द्वारा देते हैं, जिसको वे ग्रहण करते हैं ।।४३।।

आभास : फिर तीसरे[१] प्रकारकी गुण सृष्टि कहते हैं :

१.राजसराजस, राजससात्विक, राजसतामस इस तरह रजोगुणसे तीन प्रकारकी सृष्टि हुई.

सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत्।
तेभ्योऽददात् तम् आत्मानम् अन्तर्धानाख्यम् अद्भुतम्।।४४।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माजीने अपने तिरोधानसे 'सिद्ध' और 'विद्याधरों'की सृष्टि की और उनको अपना वह अन्तर्धान नामक अद्भुत शरीर दे दिया।।४४।।

व्याख्यार्थ: यह सृष्टि सात्त्विकी है, 'सिद्ध' ज्ञानसे सिद्ध(ज्ञानी) थे, और 'विद्याधर' कर्मसे सिद्ध(कर्मनिष्ठ) थे, दोनोंको तिरोधानसे रचा, अर्थात् तिरोधान विद्यारूप जो भाव(शक्ति) उससे रचा; उस तिरोधानरूप शरीरको पूर्व शरीरकी तरह त्यागा नहीं, किन्तु उनको दे दिया. इसलिए 'तेभ्यः' पद दिया उनकेलिए अर्थात् उनको अपना वह शरीर दिया इसमें संशय न होवे इस वास्ते उसका नाम बताते हैं 'अन्तर्धान' जिसका नाम था. 'अद्भुत' विशेषणसे सूचित किया है कि पूर्व शरीरसे यह अद्भुत(अजीब) था इसलिए त्याग न कर इनको दिया ।।४४।।

आभास : राजसी सृष्टि कहते हैं :

स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनाऽसृजत् प्रभुः।
मानयन्नात्मनात्मानम् आत्माभासं विलोकयन्।।४५।।

श्लोकार्थ : उस समर्थने अपने प्रतिबिम्बरूप सुन्दर शरीरका आदर करते हुए उससे किन्नर और किम्पुरुषोंको उत्पन्न किया।।४५।।

व्याख्यार्थ: किन्नर और किम्पुरुष देवोंके गवैय्ये हैं, उनको अपने प्रतिबिम्बरूपसे उत्पन्न किया, 'प्रभु' शब्दका अर्थ(समर्थ) पहले किया हुआ है वैसा ही है, केवल प्रतिबिम्बसे सृष्टि कर दी यों नहीं है किन्तु आदरपूर्वक प्रतिबिम्बको अपना ही रूप मानकर यह सृष्टि उत्पन्न की. लोक भी दर्पण आदिमें अपना रूप देखकर अपनेको सुन्दर भाग्यशाली मानते हैं. किञ्च केवल सम्मानसे सृष्टि नहीं की किन्तु आत्माके आभासको देखते रहते ही उनको रचा, उस दर्शनसे सम्मान सहित प्रतिबिम्बसे रचना की यह अर्थ है ।।४५।।

आभास : उससे कार्यमें तीन प्रकार हुए वह निम्न श्लोकमें कहते हैं :

ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत् परमेष्ठिना।
मिथुनीभूय गायन्तः तमेवोषसि कर्मभिः।।४६।।

श्लोकार्थ : जिस प्रतिबिम्ब शरीरको ब्रह्माजीने त्यागा उसको उन्होंने ग्रहण कर लिया, अतः ये सब उषा(प्रातः) कालमें अपनी पत्नियोंके साथ मिलकर ब्रह्माजीके गुण एवं कर्मोका गान करते रहते हैं।।४६।।

व्याख्यार्थ : यह शरीर ब्रह्माने त्याग ही दिया कारणकि आप परमेष्ठी हैं इसलिए आपने "**तेन सः परमां काष्ठाम् अगच्छत्**" इस श्रुतिके अनुसार अपनी वह उत्तम स्थिति प्राप्त कर ली, उसके बाद जो कुछ हुआ वह कहते हैं. 'मिथुनीभूय' वे दोनों स्त्री और पुरुषरूप हो गये यह प्रतिबिम्बका[१] गुण है. प्रातःकालमें, ब्रह्माजीने उत्कर्षकेलिए कर्म किये उनको स्त्री-पुरुष मिलाकर रस प्रकट करनेकेलिए गाते हुए उस शरीरको ग्रहण किया यों सम्बन्ध है, गान दर्शनसे हुआ ।।४६।।

१.स्त्री और पुरुषरूप होना वह दर्शनसे होना यह दर्शनका धर्म(गुण) है प्रतिबिम्ब धर्म तो किन्नर है. किम्पुरुष और मिथुनीभाव ये अपने प्रतिबिम्ब नहीं हैं, इस तरह १.स्त्री-पुरुष होना, २.स्त्री-पुरुषोंमें रस उत्पन्न हो तदर्थ युगल होना, ३.ब्रह्माजीके गुणोंका ज्ञान ये तीन कार्य हुए. प्रकाश.

आभास : इस श्लोकसे तामसी सृष्टिका वर्णन करते हैं :

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधाद् उत्ससर्ज ह तद्वपुः।।४७।।

श्लोकार्थ : किसी बार सृष्टि न हो सकनेके कारण ब्रह्माजी बहुत चिन्तित हुए तब स्थूल देहसे सो गए किन्तु सोते ही क्रोध आ जानेसे उस देहको त्याग दिया।।४७।।

व्याख्यार्थ: 'भोगवता देहेन' स्थूल देहसे, जिस देहसे विषयभोग किया जाता है वह स्थूल ही होती है, निश्चयसे यह बात प्रसिद्ध ही है, सृष्टि न हो सकनेके कारण बहुत चिन्ता हुई सो वे सो गये अर्थात् लम्बे होकर लेट गये, जो कार्य करना था वह पूर्ण न हुआ अर्थात् सृष्टि करनी थी वह न हो सकी जिससे क्रोधित हुए, क्रोध होनेसे उस शरीरको त्याग दिया ।।४७।।

आभास : इस त्यागे हुए शरीरसे सृष्टि होने लगी यों कहते हैं :

येऽहीयन्ताऽमुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे।

सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः।।४८।।

श्लोकार्थ : उस त्यागे हुए शरीरसे जो केश गिरे वे अहि हुए वे चलने-फिरने लगे तो उनसे क्रूर सर्प हो गए और बडे फन तथा बडी गर्दनवाले नाग हुए।।४८।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजीके इससे(शरीरसे) जो केश झडकर गिरे वे 'अहि' हुए, इससे जाना जाता है कि ब्रह्माजीने क्रोधमें आकर केशोंको खेंचा है जिससे वे झडकर गिरे हैं. 'अहि' सर्प और नाग ये सर्पोकी जातिमें अवान्तर भेद हैं.

क्रियावन्तोऽफणाद्याश्च सफणास्तु था परे.

नागा अजगराः प्रोक्ता मध्यमाः सविषाः स्मृता ।।कारि.१।।

कारिकार्थ : जो बिना फनके आद्य(पहले) हुवे हैं वे क्रियावान हैं, और जो अन्तिम फनवाले कहे हैं वे 'नाग' हैं वे अजगर कहलाते हैं. एवं जो मध्यमें उत्पन्न हुए वे विषवाले होते हैं. झडे हुए बालोंसे जो हुए थे 'अहि' कहलाए, जो क्रोधकर दौडने लगे उनकी चलती हुई देहसे जो उत्पन्न हुए वे सर्प कहलाए गिर जानेसे क्रिया रहित हुई देहसे जो उत्पन्न हुए वे 'नाग' कहलाए, इस प्रकार उत्पन्न होनेसे महान् फन और गर्दनवाले हुए 'गर्दन'(कन्धा) फन धारण करनेका स्थान है, मध्यमें 'उरु' शब्द होनेका आशय है कि इसका फन और गर्दन दोनोंसे सम्बन्ध है, अथवा भोगकेलिए महान् गर्दन(कन्धा) है एवं उसको अपेक्षा होनेसे महान् है।।१।।

आभास : इस तरह नौ प्रकारकी सृष्टि कहकर अब अपनी गुणातीत

भावनासे किसी सृष्टिको किया वह इस श्लोकमें कहते हैं :

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः।

तदा मनून् ससर्जाऽन्ते मनसा लोकभावनान्।।४९।।

श्लोकार्थ : इसके बाद भगवान्से उत्पन्न ब्रह्माजीने लोकोंका धर्मादिसे उत्कर्ष करनेवाले मनुओंको मनसे उत्पन्न किया।।४९।।

यदैव पुरुषः स्वस्मिन् गुणातीतेऽवतिष्ठते।

तदैव कृतकृत्योऽहम् इत्यात्मानं स मन्यते।।कारि.१।।

कारिकार्थ : जब पुरुष गुणोंसे ऊपर(निर्गुण) अपनी स्थिति करता है अर्थात् निर्गुण बन जाता हैं तब ही अपनेको कृतकृत्य मानता है।।१।।

व्याख्यार्थ: 'इव' पदसे यह सूचित किया है कि(निर्गुण) भावनासे वैसे (कृतकृत्य) हो गये ऐसे भाव होनेका कारण बताते हैं 'आत्मभूः' भगवान्से उत्पन्न हुए हैं ऐसी अवस्थाका अनुभव हो जाने पर ब्रह्माजीने मनसे मनुओंकी सृष्टि की यहां मुख्य मनु १४(चौदह) हैं दूसरे भी अनेक उसी प्रकारके हैं. इन मनुओंको अपनी समग्र सृष्टिके अन्तमें रचे, इसके अनन्तर ब्रह्माजीने सृष्टि नहीं रची. ऋषियोंकी सृष्टि तो वेदरूप भगवान्से हुई है. इनका(मनुओंका) उत्कर्ष बताते हैं. 'लोक भावनात्' ये मनु लोकोंकी धर्म आदिसे उन्नति कराके उनको आनन्दित व सुखी करते हैं ।।४९।।

आभास : तब ब्रह्माजीने अपना सामर्थ्य उनको(मनुओंको) दे दीया यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

तेभ्यः सोऽत्यसृजत् स्वीयं पुरं पुरुष आत्मवान्।

तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम्।।५०।।

श्लोकार्थ : उस आत्मवान्(मनस्वी ब्रह्माजी)ने यह ब्रह्माण्डात्मक अपना पुर जिनको पहले उत्पन्न किया था उनको दे दिया, वे ब्रह्माजीको देख उनकी प्रशंसा करने लगे।।५०।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजीका जो यह ब्रह्माण्डात्मक पुर है वह ही उनको कालसे विभागकर दे दिया क्योंकि वह पुरुष है अतः आप शयन(आराम) करेंगे एवं मनु पुरकी पालना करेंगे. तब ब्रह्माजीके स्थान पर बहुत मनु हुए जिन्होंने पहले उत्पन्न किये हुओंको आनन्द, सुख दिया, मनुओंकी अपेक्षा पहले रचे थे वे प्रजापतिकी प्रशंसा करने लगे ।।५०।।

आभास : इस श्लोकमें प्रशंसा कहते हैं :

अहो एतज्जगत्स्रष्टुः सुकृतं बत ते कृतम्।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकम् अन्नम् अदामहे।।५१।।

उन्होंने कहा हे जगत् स्रष्टा ब्रह्माजी ! प्रसन्नताकी बात है कि आपने जो यह मनुओंकी सृष्टि की है वह बडी सुन्दर है, जिसमें अग्निहोत्र आदि कर्मोंकी स्थापना की है, इसकी सहायतासे हम भी अपना हवि भाग ग्रहण करेंगे।।५१।।

व्याख्यार्थ: यह सृष्टि बहुत आश्चर्यरूप है, हमको भी ब्रह्माजीने ही रचा है, उन(मनुओं)को भी उनने उत्पन्न किये हैं, तो भी अर्थात् कारण समान होते हुए भी ये उत्तम हुए, इसलिए यह कार्य ही जगत् स्रष्टाका सुन्दर पुण्यरूप है. 'बत' यह प्रसन्नताकी बात है, क्योंकि अपने कारणसे भी कार्य उत्तम हुआ है, दूसरा हेतु कहते हैं कि 'प्रतिष्ठिताः क्रियाः यस्मिन्' जिस इस मनुरूप सृष्टिमें धर्म आदि क्रियाएं स्थापित की हैं, इससे धर्म और मोक्ष सिद्ध होंगे. 'साकम् अन्नम् अदामहे' हम भी साथमें अन्नका भोजन करेंगे जिससे अर्थ और काम पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जायेंगे, इस तरह आपके इस उत्तमकृतिसे चारों पुरुषार्थ सिद्ध हुए हैं ।।५१।।

आभास : इस श्लोकसे भगवान्के उत्कृष्ट भावसे उत्पन्न सृष्टिका वर्णन करते हैं :

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना।
ऋषीनृषिहृषीकेशः ससर्जाऽभिमताः प्रजाः।।५२।।

श्लोकार्थ : तप, विद्या और उत्तम समाधि पर्यन्त योगसे ऋषि हृषीकेशने अपनेको प्रिय ऋषिरूप प्रजाओंकी सृष्टि बनाई।।५२।।

व्याख्यार्थ: ज्ञान, कर्म और भक्तिसे हृषिकेश भगवान्ने, सर्व वेदोंके प्रवर्तक जो प्रिय प्रजा है ऐसे ऋषियोंकी सृष्टि की. यहां तपका अर्थ ज्ञान है और विद्या भक्ति है, योगसे युक्तका आशय, भगवान्के भावको प्राप्त हुआ है अथवा समाधि पर्यन्त योगसे युक्त है, इन्द्रियोंके पति होनेसे भगवान्ने इन सब साधनोंसे यह सृष्टि रची, 'ऋषि' अर्थात् जो जितेन्द्रिय हैं, वे तीन प्रकारके हैं. १.ज्ञाननिष्ठ, २.कर्मनिष्ठ और ३.भक्तिनिष्ठ हैं – ऋषि और हृषिकेश दोनों पदोंका आशय है कि शब्द तथा उसका अर्थ दोनों ब्रह्मस्वरूप हैं ।।५२।।

आभास : भगवान्के ऐश्वर्यादि छः गुण इकठ्ठे होके कर्त्ताके विशेषण हानेसे, जो उत्पन्न हुए उनको एक–एक अंश दिया यों इस श्लोकमें कहते हैं :

तेभ्यो ह्येकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत्।।५३।।

श्लोकार्थ : अजन्माने अपने शरीरका एक-एक अंश समाधि, योग, तप, ऐश्वर्य, विद्या, वैराग्य रूप थे वे उनको दिए।।५३।।

व्याख्यार्थः 'हि' पदका भावार्थ है यह अर्थ(यों करना) योग्य ही है, अर्थात् जिस अंशके पुरस्कारसे जिनको रचा वह अंश उनको ही देना चाहिए. अपनेलिए तो किसीकी अपेक्षा नहीं है क्योंकि यह अजन्मा होनेसे फिर पुत्रादिरूपसे होनेवाले नहीं हैं जो अंश दिये वे बताते हैं. कि जो अंश जिसका उत्पादक था उसको वह ही अंश दिया, ऐश्वर्य आदि छः गुणोंमें समाधि आदिका समावेश कर लेना, अथवा प्रत्येकका एक-एक गुणानुसार अर्थ करना अथवा प्रकृत विषयमें उपयोगी 'भग' शब्दसे पहचाननेमें आनेसे भिन्न समझना.

१.समाधि-चित्तकी एकाग्रता, २.योग-उसका(एकाग्रताका) उपाय, ३.ऋद्धिः उसका जो फल मिलता है इन तीनकी एक कोटि है, ४.तप(ज्ञान), ५.विद्या(भक्ति) और ६.वैराग्य इन तीनकी दूसरी कोटि है. विद्या ही 'यश' है, ऋद्धि ही 'श्री' है, योगबल है और समाधि ऐश्वर्य है समाधि शब्दकी व्युत्पत्ति है ''सम्यग् आधिः शत्रूणां यस्मात् इति योगश्च'' जिससे शत्रुओंको मनकी पीडा होती है उसको समाधि व योग कहते हैं, ऋषि ही भगवान्के एक-एक अंशको प्राप्त करते हैं यों तात्पर्य है ।।५३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २० वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २१

कर्दमजीकी तपस्या और भगवान्‌का वरदान

एकविंशे तु सफलो धर्ममार्गो निरूप्यते।
भूतसंस्कारकर्तृत्वाद् भूतसर्गोऽयम् उच्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : इक्कीसवें अध्यायमें तो फल सहित धर्ममार्गका निरूपण किया जाता है. महाभूतोंका संस्कार करनेवाला होनेसे यह(धर्ममार्ग) 'भूतसर्ग' कहा जाता है।।१।।

षड्विधं रूपम् अस्याऽपि तपोदर्शनसंस्तवाः।
त्रिविधाः कारणे युक्ता वाक्यागमसमृद्धयः।।
फलेऽपि त्रिविधाः प्रोक्ता ऋषिवाक्यं समृद्धये।।का.२।।

कारिकार्थ : इसके भी छः प्रकार हैं तप, दर्शन और स्तुति इन तीन प्रकारोंके कारणमें(महाभूतोंके संस्कारमें)[१] कारणरूप धर्ममें उपयोग है इस तरह 'वाक्य', 'आगम' और 'समृद्धि' इन तीनोंका महाभूतोंके संस्काररूप फलके अन्दर समावेश है, ऋषिवाक्य अर्थात् कर्दमने जो मनुको कहा वह(वाक्य) समृद्धि केलिए है।।२।।

१.इस इक्कीसवें अध्यायका विवरण करनेकी इच्छावाले आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि संगति तो पहले कही गई है. इस प्रकरणका दो प्रकारसे विभाग होनेसे प्रत्येक अध्याय दो अर्थवाले हैं, उनमें(अध्यायोंमें) भेद न होवे इसलिए अर्थोंका ही, हेतु-हेतुमद्भाव है यों जताते हुवे प्रस्तुत अध्यायके अर्थको 'एकविंशे' उपरोक्त कारिका १से समझाते हैं. 'अयं' पदसे धर्ममार्ग कहा है. दोनोंसे इस अध्यायमें जो अर्थ है उसका विभाग करते हैं. 'षड्विधं' कारिकासे 'कारणे'का भावार्थ कहा है.भूत संस्कार कारणरूप धर्ममें 'फले' पदका आशय है कि भूत संस्काररूप फलमें 'ऋषिवाक्यां' अर्थात् मनुको जो कर्दम ऋषिने कहा यों सकल अध्यायका अर्थ समझाया है.वहां विदुरजीके प्रश्नकी संगति प्रसंगके अनुरूप है यों समझ लेना चाहिए. प्रकाश.

आभास : इस तरह समग्र ब्रह्माजीकी सृष्टि पूर्व अध्यायमें श्रवणकर मनुके वंशकी विशेषता सुननेकेलिए 'स्वायंभुवस्य' श्लोकसे पांच श्लोकोंमें मनुके विषयमें विदुरजी पूछते हैं:

विदुरः उवाच

स्वायंभुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः।

कथ्यतां भगवन्! यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः।।१।।

श्लोकार्थ : विदुरजीने कहा कि हे भगवन् ! स्वायंभुव मनुके वंशकी बडी प्रशंसा है.जिसमें मैथुनधर्मसे प्रजावृद्धि हुई उसकी कथा अब कहिए।।१।।

व्याख्यार्थः इस वंशकी विशेषता मैथुनक्रियासे उत्पन्न होना ही है, ब्रह्माका वंश सुना, अब स्वायंभुवका वंश सुनना है. क्योंकि वह बहुत प्रशंसित है.जो सर्वत्र प्रशंसित हो उसकी कथा सुननी चाहिए कारणकि, इस समयकी सृष्टि इस प्रकारकी ही है. वह कहते हैं कि 'मैथुनेनैधिरे प्रजाः' मैथुनसे प्रजाएं बढती हैं.भगवन्! सम्बोधनसे सूचित किया है, कि मैत्रेयजीको इसका पूर्णज्ञान है ।।१।।

आभास : यों सामान्यरूपसे पूछकर पुत्रोंकी(प्रियव्रत और उत्तानपादकी) कथा विशेषरूपसे पूछते हैं :

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायंभुवस्य वै।

यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम्।।२।।

श्लोकार्थ : स्वायंभुव मनुके जो प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे उन दोनोंने निश्चयसे सात द्वीपवाली पृथ्वीका धर्मानुसार पालन किया।।२।।

व्याख्यार्थः स्वायंभुवमनुके जो प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे, उन्होंने धर्मानुसार सात द्वीपवाली पृथ्वीकी पालना की, उनका केवल जन्म सुना है, जिसकी युक्तिसे रक्षा निर्द्धारित की है. अब उनका वंश कहिए यह भाव है ।।२।।

आभास : इस श्लोकसे कन्याओंका वंश पूछते हैं:

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन् देवहूतीति विश्रुता।

पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयाऽनघ!।।३।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन् ! उसकी पुत्री देवहूती नामसे जो प्रसिद्ध है.हे अनघ ! वह आपने कर्दम प्रजापतिकी पत्नी कही है।।३।।

व्याख्यार्थः मध्यमें उत्पन्न इस देवहूतिकी दो श्लोकोंसे और अन्योंकी एक श्लोकसे कथा पूछते हैं, मध्यमा सब जगह मूलरूप मानी जाती है. इसलिए उसकी प्रशंसा होती है. उसका सर्ग मोक्ष पर्यन्त ही है, हे ब्रह्मन्! यह सम्बोधन विकार रहितपन बताता है, देवहूतिकी व्युत्पत्ति ''देवानां हूतिर्यस्या इति सर्व देवमयी सर्व देवाधिष्टता वा'' अर्थात् जिसको देवोंका आमन्त्रण(बुलाना) हुवा

है. वह 'देवहूति' सकल देवरूप अथवा सर्वदेव जिसमें रहते हैं आनन्दकेलिए अथवा उपभोगके वास्ते देवोंने आमन्त्रण जिसका किया है. मोह प्राप्त देवोंको जिसका रूप आकर्षण कर रहा है. वह 'देवहूति' अतः सर्वथा विशेष प्रकारसे सुनी हुई प्रसिद्ध है, उसका विवाह भी हुआ है.यों सुना है.वह प्रजापति कर्दमकी पत्नी है, यों आपने ही कहा है, हे अनघ! सम्बोधनसे यों सूचित किया है, कि उसके हृदयमें स्त्रीकृत भाव उत्पन्न नहीं होता है.पापियोंका ही वैसा काम पैदा होता है, जो लौकिकसे क्षुब्ध होते हैं ।।३।।

आभास : इस प्रकार कहकर अनन्तर उसके सम्बन्धवाला प्रश्न इस श्लोकसे करते हैं:

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद।।४।।

श्लोकार्थ : उस महायोगीने योगके लक्षणयुक्त उसमें(देवहूतिमें) कितने प्रकार(बार) निश्चयसे वीर्यका आधान किया. यह कहिए, मैं श्रवण करना चाहता हूं अतः मुझे बताईए।।४।।

व्याख्यार्थ: वह महान् योगी है, अतः उसकेलिए वीर्य आधान करना योगमें प्रतिबन्ध करनेवाला होगा, ऐसेको बहुत सन्तति होना आश्चर्यकारक है. यों प्रश्न है, फिर वह(देवहूति) भी योगके लक्षणोंवाली है. जिसमें ३२ लक्षण होते हैं वह ही योगके रहनेका स्थान होता है.कर्दमको तो योग सिद्ध था. उसमें केवल योगके लक्षण थे योग तो आगे सिद्ध होगा, अतः दोनों सृष्टि होनेके योग नहीं हैं. इसलिए प्रश्न किया है, महायोगी होनेसे सृष्टि होने पर भी निश्चयसे कोई हानि नहीं है. उसमें कितने प्रकार(बार) वीर्यका आधान किया यह प्रश्न है, कृपया उत्तर दीजिए कारणकि मैं सुनना चाहता हूं ।।४।।

आभास : इस श्लोकसे शेष दो कन्याओंके वंश सम्बन्धी प्रश्न करते हैं:

रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन् दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम्।।५।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! इस तरह ब्रह्माके पुत्र भगवान् रुचि तथा दक्ष प्रजापतिने मनुकी कन्याओंसे विवाह कर जिस प्रकार सन्तान उत्पन्न की, वह प्रकार भी बताईए।।५।।

व्याख्यार्थ: रुचि ज्ञानपूर्ण होनेसे पूर्वकल्पोंसे जीवित था, मैत्रेयजीको

ब्रह्मन्! सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि वे सब जानते हैं, दक्ष तीसरी कन्याका पति था. 'भूतानि' बहुवचनसे कन्याएं अनेक प्रकारकी उत्पन्न हुईं बताई हैं, 'मानवी' मनुकी कन्या प्राप्त कर जिस प्रकार सन्तान उत्पन्न की वह कहिए ।।५।।

आभास : इन कारिकाओंसे बताते हैं कि सर्गमें कर्दमके ही उपयोगसे देवहूति द्वारा उत्पन्न[1] सृष्टि चार अध्यायोंमें कही है:

१.मैत्रेयजीके वाक्यका तात्पर्य कहनेमें 'साधनं च' कारिका कही है. जिसके आधे भागमें चार अध्यायोंका अर्थ कहा है, वहां दो प्रकारकी सृष्टिमेंसे तीसरे अध्यायमें कन्या सृष्टि कही है, और चोथे अध्यायमें पुत्र सृष्टि कही है.

दो प्रकारके भी अध्यायार्थ कहते हुवे जिन वाक्योंके अर्थोंका जहां उपयोग हो उसको वहां करना चाहिए वह 'विसर्ग' इत्यादि हैं. 'तु' पद शंकाके निरास करने केलिए है, इस कारणसे समस्त वस्तुओंका सर्गमें निरूपण किया है अतः निश्चयसे सर्व सर्गकेलिए ही है, उसमें युक्ति यह है कि प्रकरण ही इसका हैं. इसको दूसरे 'हि' शब्दसे कहा है, मैत्रेयजीके वाक्यका विचार करने पर सर्व विसर्गकेलिए ही है, विदुरजीके प्रश्नसे उसका अवान्तर प्रकरणका प्रकरण होने पर उपयोगी पदार्थोंका निरूपण धर्म आदिकेलिए है. यों विभागमें समझ लेना, उसके हेतुका स्वरूप 'न केवलं' पदसे कहते हैं कि भगवान् केवल तपसे प्रसन्न नहीं होते हैं. प्रकाश.

साधनं च विवाहश्च सृष्टिर्द्वेधा विभेदतः।
विसर्गे सर्ववस्तूनां धर्मादावुपयोगिनाम्।
निरूपणं हि सर्गे तु सर्वं सर्गार्थमेव हि।।कारि.१।।

कारिकार्थ : उनमेंसे 'साधन' इस अर्धकारिकामें कहा कि पहले अध्यायमें साधन, दूसरे अध्यायमें विवाह, तीसरे और चौथे अध्यायोंमें दो प्रकारकी सृष्टि कही है. दो प्रकारके अध्यायार्थ होते हुए भी जिन वाक्योंका जहां उपयोग होता है, उसको 'विसर्गे' कारिकामें स्पष्ट करते हैं कि विसर्गमें धर्म आदि सकल उपयोगी वस्तुओंका धमार्थ निरूपण किया है और सर्गमें तो सर्व ही सर्गकेलिए निरूपण करनेमें आता है।।१।।

मैत्रेयः उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणि समा दश।।६।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजीने कहा कि ब्रह्माने जब कर्दमजीको कहा कि 'प्रजा

उत्पन्न करो' तब भगवान् कर्दमजीने दसहजार वर्ष सरस्वतीके(नदीके) किनारे पर तपस्या की।।६।।

व्याख्यार्थ : ब्रह्मा तथा कर्दम दोनों भगवद्रूप थे अतः अपनी सृष्टिकी उत्पत्तिकेलिए कर्दमको ही प्रेरणा की, क्योंकि वह अपने समान था, ब्रह्मा जिसका देव है, अर्थात् ब्रह्मा देववाली सरस्वती सृष्टिके कार्यमें उपयोगवाली है, अतः उसके किनारे पर सृष्टिकी उत्पत्ति करनेकेलिए 'दिव्य' दसहजार वर्ष पर्यन्त तपस्या की इतने समयमें चार युगोंकी आवृत्ति हो गई स्वतन्त्र ब्रह्माकी सृष्टिकेलिए भी केवल एकहजार वर्ष तपस्या हुई यह तो उससे भी अधिक हुई, जिसका कारण कहेंगे ।।६।।

आभास : भगवान् केवल तपस्यासे प्रसन्न नहीं होते हैं किन्तु भक्तिसे प्रसन्न होते हैं. जो निम्न श्लोकोंमें भगवद्भजन कहते हैं:

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ।।७।।

श्लोकार्थ : अनन्तर समाधिसे युक्त क्रियायोगसे, पूजनादिसे एवं भक्तिसे कर्दमने शरणागतोंको वर देनेवाले हरिको प्राप्त किया।।७।।

व्याख्यार्थ: समाधिसे भगवान्को प्रकट कराए वहां क्रियायोग करना अर्थात् परिचर्या(सेवा) इसलिए कहा है कि समाधिसे युक्त क्रियायोगसे इसी तरह परिचर्यासे प्रभुको सम्यक् प्रकारसे प्राप्त किया. भजन करनेके योग्य भगवान्के गुणोंसे भजनके क्लेशकी निवृत्ति हुई, वह बताते हैं. 'हरि' प्रेमभक्तिसे हरिको पाया अथवा इस प्रेमभक्तिसे भगवान् शरणागतोंको वर देनेवाले हुए ।।७।।

आभास : बादमें भगवान्के साक्षात् दर्शन हुए, यों इस श्लोकमें कहते हैं:

तावत् प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद् वपुः।।८।।

श्लोकार्थ : हे संयमी !(विदुरजी) तब सतयुगमें उनकी तपस्या भक्तिसे प्रसन्न हुए भगवान्ने उन्हें अपने शब्दब्रह्ममय स्वरूपसे मूर्तिमान होकर दर्शन कराए।।८।।

व्याख्यार्थ : इतने समयमें भगवान् प्रसन्न हुए अथवा जब शरणागतोंको वर देनेवाले हरिकी प्रेमसे सेवा आरम्भ की किन्तु जब तक मनको सन्तोष हो इतनी सेवा भी नहीं हुई तो भी मध्यमें ही भगवान् प्रसन्न हो गए, सेवाके सन्तोष

होनेमें विलम्बका कारण 'कृतयुग' शब्दसे कहा है. कारणकि सतयुगमें ही तपस्या करनेकेलिए बैठा, सतयुगमें तपस्या करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हुआ, अनन्तर त्रेतामें योगकी सिद्धि हुई. तप तो सबमें होता ही रहता था, बादमें भगवान्का आविर्भाव हुआ. पश्चात् द्वापरमें परिचर्या(पूजा-सेवा) की, अनन्तर कलियुगमें प्रेम उत्पन्न हुआ, यदि कलिमें प्रभुका आविर्भाव होवे तो उससे कलिमें उत्पन्न सृष्टि उद्धत हो जावे, इसलिए भगवान् स्वयं रूपसे प्रकट न होकर उनने प्रेम उत्पन्न किया, यों होते हुए भी भगवान् शरणागतोंको वरदान देनेवाले हुए तो कर्दमको दिये हुए वरका नाश न हो इसलिए कृतयुगमें ही प्रकट हो गये, वहां विलम्ब नहीं किया यों प्रकाशित कर दिखाया. 'पुष्कराक्ष' नामसे यह सूचित किया है कि आप(हरि) दृष्टिसे ही अनुग्रह करनेवाले हैं, अर्थात् दृष्टिसे ही अनुग्रह करते हैं, वेदसे ग्रहण किया हुआ छन्दोमय शरीर वेदपुरुष भगवान् हैं, वैसा स्वरूप धारण कर प्रकट हो दर्शन दिये, भगवान्के इस तरहके रूपमें सन्देह न रहे इसलिए 'हे क्षत्तः!' सम्बोधन विदुरजीको दिया है, अन्तःपुरसे बहुत प्रकारसे प्रभु प्रकट होते हैं, इससे भगवान्के इस रूप विशेषमें विदुरको सन्देह नहीं होगा, यह इस सम्बोधनसे सिद्ध किया है, यद्यपि वह स्वरूप इन्द्रियातीत अर्थात् इन्द्रियोंसे देखनेमें नहीं आता है, तो भी भगवान्ने स्वेच्छासे ही दर्शन दिया है, भगवान्केलिए कुछ भी करना अशक्य नहीं है, स्वरूपको ही बाहर अनेक प्रकारका किया ।।८।।

आभास : इस तरह देखे हुए भगवत् स्वरूपका वर्णन करते हैं :

[१]स तं विरजम् अर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम्।
स्निग्धनीलालकव्रात-वक्राब्जं विरजाम्बरम्।।९।।

१.'स तं' इस श्लोकसे भगवान्के १४ विशेषणोंका 'सृष्ट्यर्थं' कारिकाओंसे तात्पर्य कहते हैं. आधी कारिकासे समुदायकी संख्या कहकर आगे विभागकर वर्णन करते हैं, उस कर्दमसे सगुण और निर्गुण भेदसे तथा स्त्री-पुरुष भेदसे दो प्रकारकी सृष्टि कही हुई है. इस कारणसे दो श्लोकोंसे वर्णन है तो फिर पांच प्रकारकी कही है, प्रत्येकमें पांच-पांच विशेषण दिए हैं पुरुषके एकत्वमें बीज कहते हैं, कि ''एकएव प्रमान् यतः'' क्योंकि यहां एक ही पुरुष है सांख्यान्तरकी तरह बहुत नहीं हैं, तीसरी कारिकामें कहे हुए विशेषणोंकी संख्याका तात्पर्य कहते हैं, 'सर्गे च' इत्यादि अर्थात्, सर्गमें पुरुषार्थोंमें दोष निवृत्ति स्वयं होती है. सत्पुरुषोंका हित करनेवाली आद्या(स्त्री) सृष्टि समान सृष्टि करनेवाली हुई है यों जाना जाता है, इसलिए संख्यासे और सृष्टि

प्रकारसे सांख्यान्तरसे इसमें विलक्षणता है यह हृदय(भावार्थ) है. 'विशेषण द्वयं इति' यहां स्निग्ध शब्दसे एवं समुदाय शक्तिसे तीनों रूपोंमें ऐहिक सुख कहा जाता है, 'नील' शब्दसे निकृष्ट इलाका(पृथ्वी) जिससे उत्पन्न हुई, इस योगसे आमुष्मिक यह है, यों कहा जाता है, यों भाव समझानेकेलिए ये दो विशेषण दिये हैं. प्रकाश.

श्लोकार्थ : भगवान्का यह स्वरूप सूर्यके समान रज रहित कान्तिवाला था. इनके गलेमें श्वेत कमल और कुमुदके फुलोंकी माला पडी थी, श्याम तथा चिकनी अलकावलीसे मुख कमल आवृत था, श्वेत वस्त्रोंसे सुशोभित थे.(ऐसे प्रभुको देख दण्डवत् प्रणाम किया)।।९।।

व्याख्यार्थ : पहले स्वरूप तथा आभरणोंके विशेषणों सहित रूपका वर्णन करते हैं. 'सः' उस कर्दमने 'तम्' उन प्रसिद्ध प्रभुको देखकर हर्षित होनेसे दण्डवत् प्रणाम किया. पहले 'विरजं' विशेषणसे सूचित करते हैं, इस स्वरूपमें कोई दोष नहीं, अर्थात् रजोगुण, राग(मोह-आसक्ति आदि) एवं कलुषता नहीं है, 'अर्काभं' विशेषणसे बताते हैं कि अज्ञानरूपा अन्धकार तथा मूर्खता भी इसमें नहीं है. अर्कका तात्पर्य है देवता मण्डल श्रीनारायण, जिस स्वरूपकी सूर्यके समान कान्ति है, जिनके श्वेत कमल और कुमुदोंकी माला है, जिससे सूचन किया कि दिन-रात विकासवाले प्रभु हैं, चिकने और नील अलकावलीसे जिनका मुख कमल आवृत्त सा शोभा दे रहा है. इससे यह जताया है, कि इस स्वरूपमें सकल सुखके साथ भक्ति प्रकाशित है, 'अलकें'के दो विशेषणोंसे यह प्रकट किया है, कि इस लोक और परलोकके सुख इनसे प्राप्त हैं. सफेद वस्त्र धारण करनेसे यह बताया है कि शुद्ध वेदके भाग उनने ग्रहण किये हैं, इससे यह सूचित किया है कि इनमें पूर्णज्ञान शक्ति विद्यमान है, इस प्रकार यों कहनेसे दोषोंका अभाव और तीन प्रकारके गुण इसमें(स्वरूपमें) हैं, यह सिद्ध किया है ।।९।।

सृष्ट्यर्थं पुरुषार्थार्थं चतुर्दशविधो हरिः।
सृष्टिश्च द्विविधा तस्माद् अतो द्वाभ्यां तु पञ्चधा।।का.१।।

कारिकार्थ : हरि सृष्टिकेलिए दस और पुरुषार्थके वास्ते चार, यों मिलाकर चौदह हुए, उस(कर्दम)से सृष्टि दो प्रकारकी(स्त्री और पुरुष भेदसे एवं सगुण तथा निर्गुण भेदसे) हुई है, इससे दो श्लोकोंसे पांच- पांच प्रकार(विशेषण) कहे हैं।।१।।

दशापत्यानि तस्माद् हि एक एव पुमान् यतः।

सर्गे च दोषव्यावृत्तिः पुरुषार्थेषु च स्वयम्।।कारि.२।।

शुक्लो हरिः प्रादुरासीद् आद्या नव हिताः सताम्।।कारि.२,१/२।।

कारिकार्थ : दस सन्तान जिनमेंसे एक पुत्र हुआ, अन्य प्रकारसे सांख्यमें पुरुष बहुत होते हैं, सृष्टिमें दोष मिटानेकेलिए और पुरुषार्थमें दोष दूर करनेकेलिए तेजस्वी हरि स्वयं प्रकट हुए हैं. पहले उत्पन्न सन्तान नव हैं नौ कन्याए सत्पुरुषों का हित करनेवाली हैं, अर्थात् समान सृष्टि करनेवाली थीं, अतः संख्यासे एवं सृष्टि प्रकारसे अन्य सांख्योंसे भेद दिखाया है।।२,१/२।।

आभास : फिर इस दूसरे श्लोकसे राजस गुणोंको और दोषोंके अभावको कहते हैं :

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्ख–चक्रगदाधरम्।

श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम्।।१०।।

श्लोकार्थ : १. किरीट मुकुटवाले[१], २. कुण्डलोंवाले, ३. शंखचक्र और ४. गदा धारण करनेवाले, ५. श्वेत कमलरूप खिलौनेवाले[२], मनका स्पर्श करते हुए स्मित एवं दृष्टिवाले(प्रभुको देख दण्डवत् प्रणाम किया)।।१०।।

१.पहले और पांचवे विशेषण मुकुटवाले और श्वेत कमलरूप खिलौनेवालेसे दोषाभाव दिखाया है शेष तीन विशेषणों शंख,चक्र और गदा धारण करनेवालेसे गुण कहते हैं.

२.उत्पलमें तो अज्ञान है उसके भ्रमण करानेसे अज्ञान दूर किया.

व्याख्यार्थ: किरीट मुकुटयुक्त कुण्डल और शंख चक्र एवं गदायुक्त प्रभुके दर्शन किए.

व्याख्यार्थ : पृथ्वी पर प्रकट होकर लीला करनेसे भगवान्में पृथ्वीके दोष आ जायेंगे उसके निराकरणकेलिए अपनी चतुर्थ आयुध कमलको छोडकर श्वेत व उत्पलको(रात्रिकमल–कुमुदको) अपना खिलौना बनाकर उसको फिराते हुए अज्ञानका नाश कर रहे हैं. कमल फिरानेसे जगत् भ्रमित होता है, और उत्पलके भ्रमणसे अज्ञान भ्रमित(नाश) होता है, अतः लीला भी अज्ञानका नाश करनेवाली है. मनको ही स्पर्श करनेवाला जो मनोहर स्मित(मुसकान) उसके सहित जिसकी दृष्टि है अर्थात् जब आप भक्तजनों पर दृष्टि डालते हैं तब वह दृष्टि मन्द मुसकान सहित हो मनका मंथन करती है क्योंकि यह स्मितरूप माया सृष्टिका यही कार्य है, इसलिए इससे देह आदिमें विकार नहीं होता है, इस कारणसे यह पुत्र(कपिल) योग भक्ति और ज्ञान प्राप्त करायेंगे यह भी सूचित किया है ।।१०।।

वेदान्ते परमं वेद्यं प्रमेयबलमीरितम्।
साङ्ख्ययौगौ प्रमाणं च तत्त्वानां कार्यतो बलम्।
त्रिविधान्यपि तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिभिरायुधैः।।का.१।।

कारिकार्थ : वेदान्तमें जाननेके योग्य प्रमेयबल[१] उत्तम कहा है, सांख्य और योग प्रमाणबल[२] कहे हैं, तत्त्वोंका बल उनके कार्योसे कहा है तीन आयुधोंसे तीनों प्रकारके तत्त्व[३] कहे हैं।।१।।

१.मुकुटसे प्रमेयबल कहा है.

२.सांख्य और योग दो कुण्डल हैं, इनमें प्रमाणबल कहा है.

३.भूमि, जल और तेज तत्त्वोंका कार्यरूप गदा, शंख और चक्रसे तत्त्वोंका बल प्रदर्शित किया है.

आभास : पुरुषार्थोंमें रहे हुए दोषोंका निराकरण करते हुए कहते हैं :

विन्यस्तचरणाम्भोजम् अंसदेशे गरुत्मतः।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम्।।११।।

श्लोकार्थ : उनके चरणकमल गरुडके कन्धों पर धरे हुए थे एवं आपने वक्षःस्थल पर श्रीलक्ष्मीजी और कण्ठमें कौस्तुभमणिको धारण किया था, तथा आप आकाशमें स्थित थे, (ऐसे प्रभुको दण्डवत् प्रणाम किया)।।११।।

व्याख्यार्थ : मृत्यु श्रमरूप[४] है, और उसका निमित्त बना हुआ काल, धर्ममें विघ्न करता है, उसके निराकरणकेलिए गरुडरूप काल पर अपना भक्तिरूप चरणकमल धर कर स्थित थे. 'अंसदेशे' कन्धे पर धरनेका तात्पर्य है कि यह काल अब भक्तोंको मोक्ष पर्यन्त रुकावट नहीं कर सकेगा. 'अंसदेश' शब्दसे मोक्ष पर्यन्त तककी भक्ति कही गई है क्योंकि कन्धेके उपरका सिर शरीरका चौथा भाग है. आप आकाशमें स्थित थे, इस स्थितिसे यह सूचित किया है कि आपकी प्राप्तिमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है. वक्षःस्थल पर लक्ष्मीके विराजमान होनेसे यह बताया है कि अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं, कंठमें कौस्तुभमणि धारण करनेका यह भाव है, कि समस्त जीवोंको सुखसे अपने पास लानेमें रुकावट न होवे, यों सर्व प्रकारकी मुक्ति कही है ।।११।।

४.''तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा उपयेमे'' इस श्रुत्यनुसार मृत्यु श्रमरूप है 'यथेच्छ' कर्दमकी इच्छाके अनुरूप है.

जातहर्षोऽपतन् मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः।

गीर्भिस्त्वभ्यगृणात् प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः।।१२।।

श्लोकार्थ : भगवान्के इस प्रकारके स्वरूपका दर्शनकर कर्दमजीको बहुत हर्ष हुआ, तब अपने सब मनोरथ पूर्ण समझकर आनन्द हृदयसे पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम किया फिर प्रेमपूर्ण वाणीसे हाथ जोडकर स्तुति करने लगे।।१२।।

व्याख्यार्थ : इस प्रकारके दर्शनसे कर्दमजीको हर्ष उत्पन्न हुआ, जिससे भूमि पर मस्तकसे दण्डवत् प्रणाम किया खडे होकर ही उपर स्थित भगवान्के चरण स्पर्श नहीं किये अर्थात् मस्तक चरणोंमें नहीं रखा कारणकि यों करनेसे दर्शन नहीं अतः दर्शन चाहनेवालेको सिर नमाना नहीं चाहिए, यों करनेसे दोष निवृत्त किया, अर्थात् मस्तक नमानेसे भगवद्दर्शन न होनेका जो दोष लगता, वह अपनेको लगने न दिया दण्डवत् प्रणाम करनेसे प्रणाम भी हो जाय तथा भगवद्दर्शन भी होता रहता है. भगवान् मेरेलिए ही पधारे हैं अतः अपने मनोरथ(भगवद्दर्शन) सिद्ध हुआ जाना, इस तरह कार्य किया. मानसिक भजन कहकर अब वाचनिक भजन कहते हैं, 'गीर्भिस्त्वभ्य[१] गृणात् इति' सर्व प्रकारसे सिद्धान्त जानकर वाणीसे स्तुति करने लगे, भगवान्से प्रेम इत्यादि करना जिसका जीव तथा अन्तःकरण सहित स्वभाव ही है, इस कारणसे यों न कहना. भक्ति स्तुति नहीं की उनका तो सफल कर्मोंमें भक्तिका उपयोग होता रहता है, कारणकि ऐसा ही स्वभाव है, इस प्रकारका जीव तथा स्वभाव होनेसे देहके कार्यमें व दासके कार्यमें इसका स्नेह अन्वच्छिन्व ही रहता है, कभी भी टूटता नहीं, प्रार्थनाकेलिए इस प्रकार अंजली बांधी जैसे हाथोंमें कुछ लेना हो क्योंकि इसको(कर्दमजीको) भगवत्कृपारूप प्रसाद लेना है ।।१२।।

१. 'गीर्भिः' यहां जीव और अन्तःकरणका स्वभाव बताया है.

नवधा वर्णयामास सृष्ट्यर्थं गुणभावतः।
आद्यास्तु रजसा सत्वे तमसाऽप्यत्र योजितम्।।का.१।।

कारिकार्थ : सृष्टिकेलिए गुण भावसे(प्रकारसे) नौ तरहसे वर्णन किया है, पहले[२] चार श्लोकोंमेंसे तीन श्लोकोंमें अर्थात्(१३वेंसे १५वें तक) सत्त्वरज, रजोरज और तमोरजसे स्तुति की है, चौथे श्लोक(अर्थात् १६वें)में सत्त्वतमसे स्तुति की है।।१।।

१.आद्याका तात्पर्य 'जुष्टं' अर्थात् १३वें श्लोकसे लेकर १६वें तक चार श्लोक समझने.

द्वाभ्यां सत्वं रजःसत्वात् त्रिभिरन्तिम ईर्यते।
सत्वमिश्रं रजः पूर्वं तमोमिश्रं तथा परम्।।का.२।।

कारिकार्थ : दो[१] श्लोकों पांचवें, छठे श्लोकोंसे(अर्थात् १७वें और १८वें) सत्त्व-सत्त्व और रज-सत्त्वके गुणोंवाली स्तुति की है. इसके बाद अर्थात् छठे श्लोक अर्थात् १८वें के बाद तीन श्लोक सातवें, आठवें, नवमें अर्थात् १९से २१से शेष गुणोंसे स्तुति की है, जिसमें अंतिम श्लोकमें रजसत्त्व गुणवाली स्तुति की है।।२।।

१.पहले तीन श्लोकोंसे सतो-रजोगुण, रजो-रजोगुण और तमो-रजोगुणसे सृष्टि कही है, अन्तिम अर्थात् नवममें रज और सत्त्वकी अवधि तक है, पहले सातवेंमें सत्त्वसे मिश्र रजसे सृष्टिकी है, किन्तु आठवेमें तमसे मिश्र रजोगुणसे सृष्टि हुई है, वैसे उस प्रकारसे कहा जाता है. पहलेके चारोंका अर्थ कहते हैं, फलसे लेकर दोसे, उसमें पहले अर्धसे प्रथमका, दूसरे अर्धसे दूसरेका 'दोषज्ञान' दोष जानकर वेसे यहांसे लेकर तीसरे अर्धसे तीसरेका आगे चौथेका यों जानना चाहिए,.'विचार्य इति' मध्यमपन अपनेमें विचारकर समझना. प्रकाश.

फलं तु भगवानेव सर्वोत्कृष्टम् इति स्थितिः।
तं परित्यज्य तस्माद्धि प्राप्यं प्रथमम् उच्यते ।।का.३।।

कारिकार्थ : सर्वसे उत्कृष्ट(उत्तम) फल तो भगवान् ही हैं, उनको छोडकर उनसे पहले प्राप्त पदार्थको कहते हैं।।३।।

दोषज्ञाने तथा कामे विद्यमाने तु मध्यमः।
विचार्य भगवान् दातेत्यस्य वै शरणं गतः।।का.४।।

कारिकार्थ : अपने दोषके ज्ञान तथा कामना विद्यमान होनेसे 'कर्दम' मध्यम(अधिकारी) थे, भगवान् कामनाकी पूर्णता करनेवाले दाता हैं, इसलिए विचार कर उनकी शरणमें गए।।४।।

आभास : पहले सत्त्वसे मिले हुए रजोभावसे भगवान् ही पुरुषार्थ हैं, यों निरूपण करते हैं :

ऋषिः उवाच

जुष्टं बताऽद्याऽखिलसत्वराशेः सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनाद् नः।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भिः आशासते योगिनो रूढयोगाः ।।१३।।

श्लोकार्थ : कर्दमऋषिने कहा-हे स्तुति करने योग्य प्रभु! आप सत्त्वगुणके भण्डार हैं, योगीजन जब योगस्थ होते हैं, तब आपके जिस स्वरूपके

दर्शनकी इच्छा करते हैं आज उस स्वरूपके दर्शन पाकर नेत्रोंके उत्पन्न होनेका फल मिल गया यह प्रसन्नताकी बात है।।१३।।

व्याख्यार्थ: हमारे नेत्रोंने अपने होनेकी आज आपके दर्शनसे सफलता प्राप्त कर ली है, सर्वफलोंसे उत्तम फल सिद्धि है क्योंकि सर्वफल, सिद्धिके आधीन होते हैं, वह सिद्धि हमको प्राप्त हुई है. कहनेका सारांश यह है कि सर्वप्रकारसे होगी, यों जाना जाता है, क्योंकि पहले हमने समझा कि नेत्रोंकी सिद्धि प्राप्त हुई जिस दृष्टिको सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है, वह दृष्टि, भगवद्दर्शन नहीं कर सकती है, इससे जाना जाता है कि दोनों नेत्रोंने आधिदैविकी सिद्धि प्राप्त कर ली है, इस कारणसे आज प्रसन्नता है क्योंकि आज जो लाभ हुआ है वह अलभ्य था. सब सिद्धियां सत्त्वगुणके कार्य हैं सम्पूर्ण सत्त्व आपमें इकठ्ठे हुवे हैं वे जब निकट देखे तब कौनसी सिद्धि बाकी रह सकेगी, इसलिए प्रभुको सम्पूर्ण सत्त्वका भण्डार कहा है. 'नः' बहुवचनसे यह सूचित किया है कि समस्त सिद्ध अपने ही हैं, इस प्रकार चक्षुओंको सिद्धि प्राप्त हुए बिना भगवान्के दर्शन दूसरी तरह हो नहीं सकते. अब भगवान्के दर्शन ही सर्व सिद्धिओंका फल है, यों 'यद्दर्शनं' पदसे कहा है. 'ईड्यः' इस सम्बोधनसे जताया है कि यह स्तुति नहीं की जाती है, क्योंकि आप तो प्रथम स्तुत्य हैं, न केवल इतना ही किञ्च वस्तु स्वरूप ही वैसा है, भगवान्की स्तुति तो नित्य सिद्ध है, कारणकि समस्त नित्य कर रहे हैं, अतः स्तोत्र करना कोई आश्चर्यजनक नहीं है, अतः यह स्तुति पारायण नहीं है, रूढयोग, योगी भी बहुत जन्मोंसे कायव्यूह कर भी देह, देश और काल द्वारा होनेवाले संदेहोंको मिटानेकेलिए उत्तम जन्म प्राप्तकर भी जिसके दर्शनकी इच्छा करते हैं, उनकेलिए सिद्धियां स्वतः सिद्ध ही हैं, किन्तु दर्शन है जिससे उसकी आकांक्षाएं करते ही रहते हैं ।।१३।।

आभास : इस तरह भगवान्के दर्शन सिद्धि सूचक तथा फलरूप हैं, यों निरूपण कर भगवान्के दर्शन होनेके बाद उन दर्शनदाता प्रभुसे जो लोक दूसरी कुछ प्राप्त करनेकी कामना करते हैं, उनको इसी लोकमें निन्दते हैं :

ये मायया ते हतचेतसस्त्वत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्।
उपासते कामलवाय तेषां रासीश कामाद् निरयेऽपि ये स्युः।।१४।।

श्लोकार्थ : आपके चरणारविन्द संसारसे पार जानेकेलिए जहाज हैं, तो भी जिनकी बुद्धि मायासे नष्ट हो गई है, वे ही तुच्छ विषयके सुखोंकेलिए जिनकी

प्राप्ति नरकमें भी हो सकती है, उन चरणोंकी उपासना करते हैं, किन्तु आप परमदयालु होनेसे उनको वे भी दे देते हैं।।१४।।

व्याख्यार्थ: जो आपके चरणारविन्दोकी उपासना तुच्छ कामनाओं केलिए करते हैं, उनकी[१] बुद्धि मायाने नष्ट कर दी है, जैसे बुद्धिहीन छोटा बालक सोना देकर चनोंकी मुठ्ठि ले लेता है, उसी तरह यह भी है, यों ग्रहण करनेका कारण बुद्धिका नष्ट हो जाना है, 'चरणकमल' पदसे सूचित किया है, कि सेवा सरलतासे हो सकती है जो भी सेवा करते हैं, वे अपने कार्य सिद्धिकेलिए ही करते हैं, अतः वरकी प्रार्थना करना उचित ही है, यह शंका होने पर कहते हैं, कि 'भवसिन्धुपोत' भगवान्का चरणारविन्द संसार सिन्धुसे पार होनेकेलिए जहाज है, जहाज बडी नदीसे पार जानेकेलिए ही बनाया जाता है, न कि ग्रामकी तरह वहांके सुखोंको भोगनेकेलिए अतः जो जहाज में बैठकर भी पार जाना नहीं चाहते हैं उन पर नाविक अप्रसन्न होता है फिर नावमें बैठकर भी पार जाना न चाहकर वहां ही यदि भोग भोगते हैं, तो वे बासी भोग भोगते हैं, ऐसे भोग तो नरकमें भी मिलते रहते हैं बन्धन आदिके विद्यमान होनेसे यों होता है. अतः उचित तो यह है, कि जो नावमें बैठे हो वे पार ही जानेकी इच्छा करें न कि फिर नगरके विषय भोगोंको भोगनेकी इच्छा करें, वहां तो सहज(स्वाभाविक) निरोध मौजूद है, किन्तु वह क्षणमात्र प्राप्त होता है वहां भोगसे कामकी नाम मात्र अभिलाषा पूर्ण होती है भगवान् परम दयालु हैं, अतः वह भी देते हैं, जैसे महान् कष्टसे बैठे हुएको नौकावाला केवल पेट भरनेकेलिए कुछ खाद्य दे देता है, महान् नगरमें जो कुछ अन्नादि भक्ष्य मिलता है, उससे यह खाद्य अपकृष्ट(हलका) ही होता है ।।१४।।

१. 'ते' जो मायासे अपहृत चित्तवाले हैं वे 'तत्र' उस जहाजमें यो अर्थ है. प्रकाश.

आभास : यों गुण और दोष जानकर भी दूसरे मार्गके अभावसे, तथा आरम्भ हुए कामका कोई प्रतिकार(उपाय) न होनेसे निम्न श्लोकमें अपनेलिए भी भगवान्की ही प्रार्थना करते हैं :

तथा स चाऽहं परिवोढुकामः समानशीलां गृहमेधिधेनुम्।
उपेयिवान् मूलम् अशेषमूलं दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य।।१५।।

श्लोकार्थ : वैसा मैं काम कलुषित होनेसे, अपने समान स्वभाववाली, गृहस्थीकी धेनुरूपसे(पत्नीसे) विवाह करना चाहता हूं अतः कामनाओंको पूर्ण करनेवाले आपके चरणकमलोंका आश्रय लिया।।१५।।

व्याख्यार्थ: वह मैं ऐसा हूं, जानकर भी अब प्रकट कामवाला हो गया हूं, इस कारणसे विवाह करना चाहता हूं, अपने योगबलसे कामिनियोंका निर्माण कर उनसे भोग करना नहीं चाहता हूं, कारणकि इस तरह उत्पन्न की हुई स्त्रियां ब्रह्माके कार्यमें उपयोगी नहीं होगीं, क्योंकि वे[१] हीन होती हैं, इनकी मुझे आवश्यकता नहीं है इसलिए कहते हैं, 'समानशीला' मेरे समान जिसका शील हो वैसी पत्नी चाहिए, क्योंकि वैसी पत्नीसे ही पूर्ण सन्तति उत्पन्न होती है, यों कहनेसे यह आशय प्रकट होता है कि, सदानन्द भगवान्ने ही वह स्त्री रची है, किञ्च वह केवल कामकी इच्छावाली हो वैसी नहीं चाहिए किन्तु धर्म आदि पुरुषार्थ भी सिद्ध करनेवाली हो उसकी भी अपेक्षा है.

अतः जो गृहस्थ बुद्धिवाले धर्म, अर्थ और कामके परायण हैं, उनको वह धेनुरूप होनी चाहिए जिससे कामादि पुरुषार्थरूप दूध दुहा जा सके, ऐसी पत्नीसे विवाह करनेकी इच्छावाला, मैं आपके सर्वकामपूरक चरणकमलोंके आश्रयमें आया हूं. कल्पवृक्षका आश्रय करनेवाला उससे इतनी सिद्धि प्राप्त कर सकता है जितनी भगवान्ने उसको दी है, भगवान्के चरणकमल तो उससे उत्तम हैं, क्योंकि 'अशेषमूलं' सकल सिद्धियोंके मूल हैं, कल्पवृक्ष सर्वका मूल नहीं है, अतः वह देवहूतिको देनेमें समर्थ नहीं है. भगवान्को चित्त शुद्धिकेलिए प्रार्थना कर अथवा वह प्राप्त कर, इस देवहूतिसे कौनसा लाभ होगा? इस शंका पर कहते हैं, कि 'दुराशय' मेरा अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अतः यों नहीं हो सकता है, अर्थात् यह पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता है. जैसे आप संसारसे पार पहुंचानेवाले जहाज हैं, वैसे कल्पवृक्ष भी आप हैं अतः पत्नीकेलिए भी भजन करना उचित है, यों भाव है ।।१५।।

१. 'ते' अपनेलिए योगबलसे बनाये हुए पदार्थ(स्त्रियां) यों अर्थ है. प्रकाश.

आभास : वरदानसे अन्तःकरणकी शुद्धि ही हो यों क्यों नहीं मांगते काम पूर्ति होनेसे कौनसा लाभ है ? इस शंकाके निवारणकेलिए यह श्लोक कहते हैं:

प्रजापतेस्ते वचसाऽधीश तन्त्या लोकः किलाऽयं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम्।।१६।।

श्लोकार्थ : हे सर्वेश्वर ! निश्चित अनेक कामनाओंमें फंसा हुआ यह लोक आपकी वेदवाणीरूप डोरीमें बन्धा हुआ है, हे शुक्ल ! उसीका अनुगमन करनेवाला मैं भी कालरूप आपको बलि(पूजा) देता हूं।।१६।।

व्याख्यार्थ: केवल कामकेलिए स्त्री प्राप्तिका वर नहीं मांगता हूं, किन्तु पिताकी भी ऐसी आज्ञा है, वह आपका पुत्र वैष्णव है, इससे आपका जो प्रजापति है उसकी वाणीसे बंधा है. अथवा लोकोंके विचारानुसार वैसे वह आप ही हैं, जैसे ग्रामवासियोंकेलिए ग्रामका अधिपति ही महाराजा होता है, वैसे आप भी, लोकोंको ब्रह्माके वाक्य उल्लंघन नहीं करने चाहिए इसलिए कहते हैं कि '' आपकी वेदरूप वाणीकी डोरमें कामहत यह समग्र लोक बंधा हुआ है'' जैसा कि कहा है, ''**ऋणत्रयम् अपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्**'' तीन ऋण(देव, ऋषि और पितरोंके) उतारनेके बाद मनको मोक्षमें लगावे और ''**जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिः ऋणैर्वा जायते**'' उत्पन्न हुआ ब्राह्मण अपने साथ तीन ऋणोंको ले आया है, इस प्रकारके 'श्रुति' तथा 'स्मृति'के सकाम मनुष्योंकेलिए वाक्य है, अतः जो सकाम होते हुए भी यह आज्ञा न मानकर अन्यथा करता है उसका पतन ही होता है.

हे अधीश! आपकी सामर्थ्यका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता है अतः समग्र लोक कामाधीन हो बंधा है, इस तरह सामान्यरूपसे सकामको तीन ऋण उतारने ही चाहिए, यों कहकर यद्यपि मुझमें लोकत्व नहीं है, फिर भी जो सकाम दीखता है वह लोकका अनुकरण मात्र है, यों कहते हैं कि ''हे प्रभो! आप सर्वथा शुद्ध हैं, अतः आपकेलिए पूजा समर्पण करता हूं''. यह मुझमें अधिक है क्योंकि मैं भी भक्त हूं इस कारणसे तीनों कार्योंको सिद्ध करनेकेलिए मुझे स्त्री देनी चाहिए कहनेका वैसा भाव है. शुक्ल! सम्बोधनसे यों सूचित किया है, कि संसार सम्बन्धी कोई कष्ट न होगा ।।१६।।

आभास : इस तरह अपनेको लोकानुसारी सकाम भक्त निरूपण कर मुख्य भक्तोंके निरूपणकेलिए इस श्लोकमें उनका धर्म कहते हैं :

लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणातपत्रम्।
परस्परं त्वद् गुणवादसिन्धु–पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः।।१७।।

श्लोकार्थ : जिन्होंने लोगोंको और लोकानुसरण करनेवाले कर्मजड पशुओंको त्याग कर आपकी चरणरूप छत्रछायाका आश्रय लिया है, एवं आपसमें(परस्पर) गाए हुए गुणगान सिन्धुसे उत्पन्न अमृतका पान कर देह धर्मोंको शान्त कर दिया है, वे ही आपके भक्त हैं।।१७।।

व्याख्यार्थ: मुख्य भगवद्भक्तोंमें तीन धर्म होते हैं. १.लोकका त्याग करते हैं, २.भगवान्के चरण छत्रछायाके आश्रित होते हैं, ३.सदैव तादृशी

भगवद्भक्तोंके साथ गुणगान करते रहते हैं, जिसे देह आदिका स्मरण ही न रहे. यदि इन धर्मोंमेंसे एक भी धर्म कम है तो मुख्य वैष्णव नहीं है, जिसे लोगोंका त्याग किया जाता है, यदि भगवद्भक्त लोगोंका अनुसरण करनेवाले हों तो उनका भी वैसा ही त्याग करना चाहिए, लोगोंकी अपेक्षा भी ये विशेष प्रकारसे त्याग करने योग्य हैं. इसमें हेतु कहते हैं, 'पशून्' वे पशुओं जैसे हैं अर्थात् मूर्ख हैं यदि अन्धा कूएमें गिर जावे वह तो न दीखनेसे गिरता है, अतः उसका गिरना उचित है, यदि नेत्र होते हुए जो गिरता है, वह महान् अन्धा है, यों जानना चाहिए. लोकानुसरण को त्यागकर अनन्तर जो भक्त भगवच्चरणकी छत्रछायाकी शरण लेता है उस भक्त पर आपकी तरह(कपिलके समान) भगवान् प्रसन्न होते हैं. प्रसन्नता होने पर यदि वह भक्त प्रभुकी शरण त्यागता नहीं है, तब मुख्य भक्त ही गिना जाता है, अकेले आप ही यदि गुणगान किया जाता है तो रसका आविर्भाव नहीं होता है और साथमें अभिमान भी आ जाता है, अतः जो समान होवे परस्पर मिलकर गुणोंको कहे अर्थात् गुणगान करे, उसमें भी आपके गुणानुवाद जहां होते हैं ऐसे गुण वाणीरूप समुद्रसे ही मंथनकी तरह जो अमृत उद्धृत हुआ(निकला) उससे क्षुधा-तृष्णादि देहधर्म जिन्होंने मिटा दिये हैं(वे मुख्य भक्त कहे जाते हैं). जो भक्त भगवत्कथारूप अमृतपानसे देहधर्म भूल जाते हैं वे ही भगवद्भक्त हैं और जो देहधर्मको मिटा देता है, वह ही अमृत है, इससे जिनका देहधर्म निवृत्त हो जाता है, उन्होंने ही लोकका त्याग किया है, जिन्होंने देहधर्ममें स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की है, उनको लोककी अपेक्षा रहती है, भगवद्गुणानुवाद तब ही भीतरका ताप मिटाता है, जब भगवच्चरण छायाका आश्रय लिया हुआ हो जो भगवच्चरण छत्रछायाके सिवाय दूसरी छायासे देहधर्मकी निवृत्ति करते हैं और अन्नादिसे क्षुधाकी निवृत्ति करते हैं, और वे यदि लोकानुयायी होके रहते हैं तो वे गिरे हुवे ही हैं क्योंकि दोनों तरफसे भ्रष्ट हैं अतः मुख्य भक्तके तीन लक्षण कहे ।।१७।।

आभास : वैसे मुख्य भक्तोंके फलको कहते हुए इस श्लोकमें कहते हैं, कि उनको कालादि बाध नहीं करते हैं :

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ।।१८।।

श्लोकार्थ : यह आपका कालचक्र, जरारहित अक्षररूप अक्ष पर(धुरी पर) घूमता है, तेरह अरेवाला है, तीन सौ साठ दिन इसके जोड हैं, छः इसके नेमि

हैं, इसके अनेक पत्र हैं, तीन नाभि हैं, भयंकर प्रवाहवाला यह संवत्सररूप कालचक्र चराचर जगत्की आयुका छेदन करता हुआ फिर रहा है, किन्तु यह चक्र इन भक्तोंकी आयुका नाश नहीं करता है।।१८।।

व्याख्यार्थ: आपका यह तीन नाभिवाला संवत्सररूप काल चक्र सबसे बलवान् होने पर भी इन मुख्य भक्तोंके आयुका ह्रास(नाश) नहीं करता है उसका स्वरूप प्रवाहरूप है, क्योंकि इसका प्रेरक अन्य कोई नहीं है साधारणतः चक्रका प्रेरक दूसरा होता है, अथवा चक्रके समान विशेष गतिको प्रवाह कहा जाता है, यह संवत्सरात्मक कालचक्र अविकारी अक्षररूपमें लगा हुआ घूम रहा है, अर्थात् इसकी अक्षर धुरी है, उस पर फिरता हुआ जगत्का नाश करनेवाला होता है. मलमास(अधिकमास) सहित १३ मास इसके अरे हैं, यह चक्र अखण्ड है, मध्यमें टूटा हुआ नहीं है एक-एक अरेके तीस दिन सांधे(जोड) यों होनेसे तीन सौ साठ दिन संवत्सरके सांधे होते हैं. यह आधिदैविक चक्र समान ही रहता है, यदि यों न होता तो फिर न आवे. आधिभौतिकमें ही क्षयवृद्धि होती है, इसलिए उस आधिदैविकके ही ३६० दिन सांधे कहे हैं वे अनुचित नहीं हैं, छः ऋतु ही जिसकी नेमि हैं, अरे तो नेमि और नाभिमें प्रवेश करते हैं, और इसकी सर्पकी कुण्डलिकावत् तीन 'नाभि' हैं, किन्तु चार ही अरे नाभिमें प्रविष्ट हो सकते हैं, इस कारण ही यह कराल(भयानक) है, अतः वर्षा, गर्मी और सर्दीकी मौसममें इनकी नाभिके स्थान पर हैं और फिर वह अनेक पत्रोंवाला है, तथा यह संवत्सर अंकुरवाला है, जिससे इसमें पत्र होते हैं, इसलिए यह प्राकृतचक्रके समान सूखे काठसे नहीं बना है, इस कारणसे इसका कभी भी नाश नहीं होता है, इसका स्रोत(वेग) भयानक है, इस कारणसे ही जगत्को ग्रसता हुवा दौडता जाता है, जो वे(भक्त) लोकके भीतर रहें तो काल उनकी आयुको हरण कर ले, यदि किनारे पर छायाका आश्रय कर रहें, तो भी काल गिरा दे, गिरनेसे विकलता उत्पन्न होती है, उसकी अपेक्षा उसके निकट जानेसे गिरा देवे, कथामें जब देहधर्मकी निवृत्ति हो, तब ही इच्छा पूर्ण होती है, यों इन दो श्लोकोंमें भक्तिमार्गका सार कहा है ।।१८।।

आभास: यहां तामसभावसे भगवान् जगत्कर्ता हैं, यों कहकर वह आकृति लीलासे धारण की है यों मानकर तीन श्लोकोंसे उनसे वर मांगते हैं:

एकः स्वयं सन् जगतः सिसृक्षया द्वितीययात्मन्यधियोगमायया ।

सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे यथोर्णनाभिः भगवान् स्वशक्तिभिः।।१९।।

श्लोकार्थ : हे प्रभो ! आप स्वयं अकेले ही हैं, जगत् रचनेकी इच्छासे अपने भीतर उत्पन्न हुई अभिन्न योगमायासे, ज्यों मकडी स्वयं ही जालेको फैलाती है, उसकी रक्षा करती है, और अन्तमें उसको निगल जाती है, त्यों आप अपनी शक्तियोंसे जगत् उत्पन्न करते हैं, पालते हैं और संहार करते हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ: आप स्वयं अकेले ही हैं, जहां जगत्के रचनेकी इच्छा हुई, वैसे होते हुए भी आपने अपने भीतर अधिक योगमायाका आविर्भाव किया है, तहां वह दूसरी साधनरूपसे प्राप्त हुई. तब यह समग्र जगत् अव्यक्त(अप्रकट) रूप है, तो भी आप उसको उत्पन्न करते हैं, पालते हैं और फिर निगलेंगे, कोई सहायक नहीं फिर इतना कार्य कैसे हुआ ? केवल साधनकी अपेक्षामें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मकडी बिना किसी भी अन्य साधन व सहायक स्वयं जालेको प्रकट कर फैलाती है, और अन्तमें निगल जाती है वैसे ही आप भी स्वयं अकेले ही ये सब कार्य करते हैं, कारणकि आप अनेक शक्तियोंवाले भगवान् हैं, जैसे मकडीमें उर्णांश(तांतेके अंश) अपनी शक्तियां हैं वैसे प्रभुमें सत्त्वादि शक्तियां हैं ।।१९।।

आभास : भगवान्के सर्वकर्ता होनेसे एवं पालक होनेसे तथा स्त्री आदिके दानसे सृष्टिका कारण होना आश्चर्य नहीं है, तो भी भक्तिमार्गमें वैसे करना उसकेलिए भी आश्चर्य करनेवाला है, यों इस श्लोकमें कहते हैं :

नैतद् बताऽधीश पदं तवेप्सितं यन् मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम्।
अनुग्रहायाऽस्त्वयि यर्हि मायया लसत् तुलस्या तनुवा विलक्षितः।।२०।।

श्लोकार्थ : हे अधीश ! आप हम भक्तोंकेलिए जो मायासे विषय सुखका विस्तार करते हैं वह खेद है कि आपको भी इच्छित नहीं है. हे प्रभु ! आपने जब मायासे प्रकाशित तुलसीकी मालाओंसे विभूषित देहसे दर्शन दिए हैं, तब इससे हमारा जैसे कल्याण हो वैसी कृपा कीजिए अर्थात् गृहस्थ करते हुए भी इसमें आसक्त न होवें।।२०।।

व्याख्यार्थ: यह विवाह आदि लक्षणवाली स्थिति आपको इच्छित नहीं है. 'बत' पद खेदके अर्थमें दिया है क्योंकि आप अधीश्वर हैं, आप अन्य प्रकारसे भी सृष्टि करनेकेलिए समर्थ हैं, भक्तोंको संसारमें पटकनेवाला, भूत सूक्ष्म अर्थात् अहंकार अथवा तन्मात्राएं जिनका हमारेलिए विस्तार हो वह आपको अभीष्ट(पसन्द) नहीं हैं, स्वाभाविक जगत् निर्माण करते हुए आपने विषयोंको

भक्तोंकेलिए नहीं बनाया है, यदि यों है, तो दूसरोंकेलिए बने हुए विषयोंको आप क्यों मांगते हैं, इस पर कहत हैं, कि 'अनुग्रहायाऽस्त्विति' दूसरोंकेलिए बनायी हुई भी अनुग्रहकर दूसरोंको दीजिए, इस कारणसे वह दान अनुग्रहकेलिए हो, अर्थात् आपके इस प्रकार किये हुए दानसे हम पर अनुग्रह होनेसे हमारा हित ही होगा. अयि! यह सम्बोधन स्नेहसूचक है, और यह 'अव्यय' भी है, अनुग्रहसे अन्यथा कैसे किया जा सकेगा? इस पर कहते हैं कि जब मायाके कारण प्रकाशमान तुलसी युक्त देहसे आपने उत्तम प्रकारसे दर्शन दिये हैं. आपने जो कुछ रचा है, वह दूसरोंकेलिए रचा है न कि भक्तोंकेलिए और न अपनेलिए रचा है, अतः पदार्थ रचे हुए सत्त्वके कार्योंसे अपनी आकृति(साकार स्वरूप) आविर्भाव कर उसको तुलसी आदि आभरणोंसे सुशोभित कर 'यह विष्णु' हैं यों यदि अपनेको प्रकाशित करते हो तब भक्तोंको भी अभिलषित विषयोंसे युक्त कर, तामसभाव होने पर भी ऐसी ही सृष्टि होती है, अर्थात् दूसरोंकेलिए रचे सत्त्वके कार्यसे निर्मित होती है ।।२०।।

आभास: इस प्रकार अपनी इच्छा प्रकट कर उसके दानकेलिए इस श्लोकमें प्रणाम करते हैं :

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं स्वमाययाऽऽवर्तितलोकतन्त्रम्।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपादसरोजमल्पीयसि कामवर्षम्।।२१।।

श्लोकार्थ: अनुभूतिसे जिसका क्रियाके अर्थसे कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् जो स्वरूपसे सर्वदा निष्क्रिय है, तो भी अपनी मायासे बार-बार लोक रचनाका व्यवहार कर रहे हैं, अर्थात् जो माया प्रभुके अधीन है, उसको आप प्रभु करण बताकर सृष्टि रच रहे हैं. जिनके चरणकमल नमन करनेके योग्य हैं, और जो साधारणको भी इच्छित देते हैं, उन आपको बार-बार प्रणाम करता हूं।।२१।।

व्याख्यार्थ: सकल प्रकारोंसे वर्णित आपको नमस्कार करता हूं, यों अन्वय(सम्बन्ध) है, भगवान् स्वतः अनुभव किए हुए आनन्दसे पूर्ण हैं अतः अपनेलिए कुछ भी क्रिया नहीं करते हैं, जिससे अनुभूतिके कारण ही क्रिया करनेसे उपराम पाये हुवे हैं, क्रियाके दो आशय हैं, दुःखका अभाव और अपना सुख. जगत् बनानेका पसारा भी उनका स्वतः नहीं है, किन्तु मायासे यों कहते हैं. 'स्वमायया' अपने अधीन माया द्वारा प्रायः सृष्टि करते हैं इस तरह बार-बार लोक रचनाका चक्र फिरा रहे हैं, अतः वैसे आप भगवान्को मैं बार-बार प्रणाम

करता हूं, यह कोई नवीन विषय नहीं है, क्योंकि जिनके चरणकमल सबकेलिए प्रणामके योग्य हैं, अथवा सब सर्वदा जिनके चरणकमलको नमते आये हैं, प्रकृत(चालू) विषयमें उपयोगी हो इसकेलिए 'अल्पियसि कामवर्षं' विशेषण दिया है, तुच्छ कार्यकेलिए एवं साधारण मनुष्य पर भी यथेष्ट वर्षा करते हैं, अर्थात् उनका कार्य पूर्ण करते हैं, मैं तो केवल गृहस्थ करनेकी प्रार्थना करता हूं, अलौकिक तो आप स्वयं देंगे यह भाव है ।।२१।।

आभास : प्रार्थना करने पर अद्भुतकर्मा भगवान्ने क्या किया ? इस आकांक्षाका उत्तर निम्न श्लोकमें देते हैं :

मैत्रेयः उवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभः तमाबभाषे वचसाऽमृतेन।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः।।२२।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजीने कहा–भगवान्की भौहें प्रेमयुक्त मुस्कान भरी चितवनसे चंचल हो रहीं थीं, प्रभु गरुडजीकी पांखे(कन्धे) पर सुशोभित हो रहे थे, कर्दमजीने आपको निष्कपट भावसे जब प्रणाम किया तब कमलनाभ भगवान् अमृतवाणीसे कर्दमजीको निम्न प्रकारसे कहने लगे।।२२।।

व्याख्यार्थ: हृदयका स्पष्ट आशय कहनेसे कर्दमजीकी सरलता एवं निष्कपटता प्रकट होती है, यों उसका(कर्दमका) स्वरूप वर्णन किया. कर्दमजीने भगवान्को सप्रेम सादर नमन किया, इनके तप और भक्ति आदिका फल तो आगे प्राप्त होगा अब तो यह स्तुतिका ही फल है.'अब्जनाभः' विशेषणसे यह जताया है, कि हम जब जगत्कर्त्ता हैं तब यह करना भी हमको अभीष्ट ही है.विषय-दानसे कदाचित् कर्दमकी मृत्यु हो जाय ? इस शंकाका समाधान 'अमृतेन वचसा' कहकर किया है, अर्थात् भगवान्ने अमृत वचन कहके मृत्यु निवारण कर दी है.मृत्यु निवृत्तिकी सिद्धि हो तदर्थ आप गरुडजीके पक्ष(पांख) कन्धे पर सुशोभित होकर ये वचन कह रहे हैं, 'पक्ष' पदसे यह भी लक्षित होता है, कि कालका पक्षपात भी है, जिससे परित्याग आदिके साधन(अमृतत्व) भी किये, यदि भगवान्के साथ संवाद होवे तो इसकी माया नष्ट न हो अतः भगवान्ने स्मितपूर्वक दर्शन दिये, संवाद भावकी प्राप्ति न हो इसलिए प्रेमदृष्टिसे देखा, यह देखना उत्कर्ष करनेवाला है इसलिए भगवान्की भौहें भ्रमरवत् चञ्चल होकर फिर रहीं थीं, अर्थात् इस(कर्दम)के उपर कृपावृष्टि कर रहीं थीं, इससे मोक्षमें देहका त्याग

उत्कर्ष करनेवाला होता है, यों यह सर्व ही भगवान्ने भावी अर्थका सूचन करते हुए कहा ।।२२।।

स्वसिद्धान्तं कामनायाः पूरणं द्विविधं तथा।
तव च त्वत्पितुश्चैव मदाज्ञा न्यास एव च।
एवं कृते त्वहं तुष्टः पुत्रस्ते भविता शुभः।।कारि.१।

कारिकार्थ : अपना सिद्धान्त और तुम्हारी और तुम्हारे पिताकी दोनों ही कामनाओंको पूर्ण करना तथा संन्यास लेनेकी मेरी आज्ञा पालन आदि करनेका समझ कर प्रसन्न हुआ मैं तुम्हारे यहां पुत्ररूपसे प्रकट होउंगा।।१।।

आभास : निम्न दो श्लोकोंसे शास्त्रका सिद्धान्त कहते हैं :

श्रीभगवान् उवाच
विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत्।
यदर्थम् आत्मनियमैः त्वयैवाऽहं समर्चितः।।२३।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने कहा कि तुम्हारे चित्तका भाव जानकर, जिसलिए तुमने देहको वशमें रखकर मेरी पूजा की, वह मैंने पहले से ही तैयार कर रखा था।।२३।।

व्याख्यार्थ: तुम्हारे चित्तका भाव(अभिप्राय) जानकर ही मैंने तुम्हारी याचनाके पहलेसे ही वह तैयार कर रखा था, आपने क्या तैयार कर रखा था? यदि कर्दम ऐसी शंका करें तो उसकी भय निवृत्तिकेलिए 'यदर्थ' आदि कहते हैं. जिस कामनाकेलिए तुमने आत्मा(देह) आदिका नियम पालन न कर तपस्यादिके साथ भक्तिसे तुमने ही मेरा अर्चन किया, यदि मैं ऐसा न करता अर्थात् कामनापूर्ति करनी है, ऐसी तैयारी न कर रखता तो तुम्हें मेरी (अन्तर्यामी की) पूजनकेलिए प्रेरणा ही न होती, बिना उस प्रेरणाके तुम मेरा पूजन कैसे कर सकते थे? एवं वह सफल कैसे होती? अतः मैंने मेरी अर्चनासे तुम्हारी कामना (पूजन) सफल हो, इसलिए पहले ही प्रबन्ध(तैयारी) कर रखा था ।।२३।।

भक्तस्य हृदये कामः तदैव स्याद् यदा पुरा।
भगवान् पूरकं कुर्यात् सिद्ध एव हि साधनम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ : जब भगवान्की इच्छा भक्तकी कामना पूर्ण करनेकी होती है, तब ही भक्तके हृदयमें कामना उत्पन्न होती है, जब कार्य सिद्ध हुआ होता है, तब ही भगवान् साधन कराते हैं।।१।।

अतो हि सर्वमार्गाणां भगवन्मार्ग उत्तमः।
सफलान्येव सर्वाणि साधनान्यत्र सर्वदा।।कारि. २।।

कारिकार्थ : इस कारणसे सकल मार्गोंमें भगवन्मार्ग उत्तम है.क्योंकि इस मार्गमें सब साधन सफल ही होते हैं, अर्थात् साधन निष्फल नहीं होते हैं।।२।।

आभास : पूजनके अनन्तर क्यों न फल देवें ? इस शंका पर निम्न श्लोक कहते हैं :

न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम्।
भवद् विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मसु।।२४।।

श्लोकार्थ : हे प्रजाध्यक्ष ! मेरा पूजन तो किसीका भी निष्फल नहीं होता है, तो फिर जिनका चित्त मुझमें आसक्त होनेसे प्रसन्न रहता है, वैसे तुम्हारे समान भक्तोंका अर्चन कैसे निष्फल होगा ? प्रत्युत उनको अधिक ही फल मिलेगा।।२४।।

व्याख्यार्थ : मेरा पूजन कभी भी निष्फल नहीं होता है, यदि मेरे भजनमें कालभेदसे अर्थात् अकाल-सुकाल आदिमें कभी[१] भी किया जाता है, तो भी भजनका फल मिलता ही है, भगवच्छास्त्रोंमें(भक्तिमार्गमें) अदृष्ट आदि कुछ नहीं है तथा भगवान्में कोई व्यापार(क्रिया) नहीं है, भजन करना बन्द किया जावे, तो तब फल भी प्राप्त न होवे, कामना की हुई सामग्री पूर्व सिद्ध है इसलिए समान कालमें फलकी उत्पत्ति नहीं होती है यदि पहले ही तैयार न की हुई हो तो सर्व पक्षोंमें फलके एक अंशका बाध हो, अतः मेरे भजनका स्वभाव ही वैसा है इसलिए पहले ही फल तैयार हुआ होता है, जो भक्त नहीं उन्होंमें मेरा पूजन(व पूजनका फल) अन्यथा भी(उलटा भी)हो जाय क्योंकि भक्तिसे विरोधवाला होनेसे. परन्तु आप जैसोंमें तो अन्यथा भावकी(उलटा होनेकी) शंका ही नहीं है यों कहते हैं. 'भवद्विधेष्वतितराम्' आप जैसे भक्तोंमें किसी तरह व किसी अंशसे भी फलकी निष्फलता नहीं हो सकती है, उस प्रकारको कहते हैं. 'मयि संगृभितात्मसु' मुझमें आसक्त चित्त होनेसे उनकी आत्मा सदैव प्रसन्न रहती है अतः उनका भजन आदि व कामना निष्फल नहीं होती है ।।२४।।

१.जीव जो कुछ मांगता है उसका(भजनका) फल साधन करनेसे पहले ही सिद्ध है साधन नाम मात्र है. प्रकाश.

आभास : इस प्रकार सिद्धान्तके कहनेसे सामान्य प्रकारसे उसकी

कामनाको पूर्ण कर अब विशेष प्रकारसे पूर्ण करते हैं यों 'प्रजापतेः' इन निम्न चार श्लोकोंसे कहते हैं:

प्रजापतेः सुतः सम्राट् मनुर्विख्यातमङ्गलः।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम्।।२५।।

श्लोकार्थ : प्रजापतिके पुत्र प्रसिद्ध यशवाले सम्राट् स्वायंभुव मनु ब्रह्मावर्तमें रहकर सात समुद्रोंवाली पृथ्वीका शासन कर रहे हैं।।२५।।

श्वशुराधिक्यकथनं तत्समागमएव च।
कन्यादानं ततः कन्यारुचिस्त्वयि च वर्ण्यते।।कारि.१।।

कारिकार्थ : श्वशुरकी उत्तमता कहना, उनके साथ मिलाप, कन्याका दान, अनन्तर तुममें कन्याकी रुचि और तुम्हारा(कर्दमका) प्रेम कन्यामें होना यों क्रमशः वर्णन है।।१।।

व्याख्यार्थ : पहले मनुका उत्कर्ष(बडाई) कहते हैं, प्रजापति ब्रह्माका पुत्र है इससे जताया है कि मनुका वंश उत्तम है, सम्राट् है, इससे सम्पत्तिवाले चक्रवर्ती राजा हैं यों बताया. 'मनु' शब्दसे कहा कि धर्मरूप है, जिसका सदाचार प्रसिद्ध है, इससे कीर्ति बताई है, देश तथा स्वधर्मका वर्णन करते हैं, ब्रह्मावर्त देशमें सर्वत्र स्थिति करते हुए सात समुद्रोंवाली पृथ्वीका शासन कर रहे हैं, ब्रह्मावर्त देश जो प्रदेश सरस्वती तथा दृषद्वती देव नदियोंके बीचमें है, जिसको देवीने बनाया है उस देशको ब्रह्मावर्त कहते हैं, अब वह प्रदेश कुरुक्षेत्र नामसे प्रख्यात है, इस तरह मनु सर्वसे उत्तम है ।।२५।।

आभास : उनका स्वयं आना, श्लोकमें कहते हैं :

स चेह विप्र राजर्षिः महिष्या शतरूपया।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः।।२६।।

श्लोकार्थ : हे विप्र ! वह धर्मज्ञराजर्षि महाराज शतरूपा महिषीके साथ आपको देखनेकेलिए परसों आयेंगे।।२६।।

व्याख्यार्थ: भक्त स्वयं कुछ मांगते नहीं हैं. हे विप्र! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि आपको आनेवालेका स्वागत करना चाहिए वह तो किया ही जाता है फिर कहते क्यों हो? ''विप्रा हि पश्चिमबुद्धयः'' ब्राह्मणोंकी पीछेकी बुद्धि होती है, अर्थात् समय पर स्मरण नहीं आता है, अतः यदि आप सम्मान न करोगे तो आपको दोष लगेगा, अर्थात् आपकी निन्दा होगी कि यह अभिमानी है,

वह न हो इसलिए यह उपदेश किया है. 'राजर्षि' पदसे उनकी योग्यता प्रकट की गई है, स्त्रीको साथमें लानेका कारण यह है कि उसकी भी सम्मति लेनी है, वह रुकावट न करे इसलिए उसकी सम्मति आवश्यक है. 'शतरूपा' नामसे सूचित किया है कि वह 'विलक्षण' अर्थात् चतुर विचारोंवाली है विवाह होने ही वाला है उसका मनुको ज्ञान नहीं था तुम्हें देखनेकेलिए ही आवेगा और यह आपका मनोरथ पूर्ण होना भी बहुत दूर नहीं है, 'परष्वः' परसों ही आयेंगे, और मनु 'धर्म कोविदः' है, अर्थात् धर्मको पूर्ण रीतिसे जानता है, स्वयं जाकर कन्याको आभूषण आदिसे सुशोभित कर शास्त्रविधिके अनुसार जो श्रेष्ठवरको कन्या देता है, उसको 'कूकुद' नामसे स्मरण किया गया है, अतः यह मनु, कन्यादान कैसे किया जाय और किस वरको दी जाय इस कन्यादान धर्मको जानता है ।।२६।।

आभास : आकर कन्यादान करेगा यों इस श्लोकमें कहते हैं :

आत्मजाम् असितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम्।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो! ।।२७।।

श्लोकार्थ : हे प्रभो ! श्याम नेत्रोंवाली, वय, शील और गुणवाली, पतिको ढूंढती हुई कन्याको तुमको देंगे क्योंकि तुम ही उसके समान हो।।२७।।

व्याख्यार्थ: कन्यादान करनेमें मुख्य अधिकारी पिता है, स्वभावसे नेत्र प्रान्तोंका श्याम होना, कन्यामें सर्व लक्षण अच्छे हैं, यों सूचन करता है. 'वयः' पदसे कन्या युवा है, यों सूचित करते हैं. 'शीलं' पदसे पतिव्रत धर्मकी जाननेवाली है यों बताया है. 'गुणाः' पदसे यह सिद्ध किया है कि स्त्रियोंके लक्षणोंवाली है, यदि कन्या विरक्त हो तो वह विवाहके योग्य नहीं है. वह तो 'पतिं मृगयन्तीं' पतिको ढूंढ रही है, अर्थात् मनमें पति प्राप्तिकी इच्छा कर रही है, तुम भी उसके समान हो, पत्नी चाहते हो, इसलिए उसके अनुरूप होनेसे तुम्हें ही देंगे, प्रभो! सम्बोधनसे यह सूचित किया है, स्त्रीको भोगार्थ जिन पदार्थोंकी जैसी आवशयकता है, वह आवश्यकता मैंने पूर्ण कर दी है ।।२७।।

आभास : इसका ज्ञान न होने पर भी वह तुम्हारी सेवा करेगी यों इस श्लोकमें कहते हैं :

समाहितं ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान्।
सा त्वां ब्रह्मन् नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ।।२८।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन् ! तुम्हारा चित्त जैसी पत्नीका इतने वर्षो चिन्तन कर

रहा था(मिलनेकी इच्छा करता था) वैसी ही वह राजकन्या तुम्हारी पत्नी होकर शीघ्र ही आकर तुम्हारी सेवा करेगी।।२८।।

व्याख्यार्थ: जिस देवहूतिमें तुम्हारा हृदय सम्यक् प्रकार लगा हुआ था, जैसे तुमने इतने वर्ष उसका चिन्तन किया वैसी यह(देवहूति) भी दश सहस्र वर्ष तक तुम्हारी सेवा करेगी, द्वितिया विभक्ति बहुत संयोग होनेमें दी जाती है अतः यहां द्वितिया विभक्ति दी है, यद्यपि राजकन्याको ऋषि पसन्द नहीं आता है, तो भी मेरी इच्छासे वह तुम्हारी सेवा करेगी, हे ब्रह्मन्! यह सम्बोधन निरूपित किये हुए विषयकी सम्मतिकेलिए दिया है. 'नृपवधूः'का अर्थ यहां बहु नहीं है, किन्तु कन्या है, 'वधु' शब्द केवल इसलिए दिया है, कि इसको पितृगृहमें जो चंचलता होती है, वह रहने नहीं दी थी, घरमें बहुओंके समान विनयादिकी शिक्षा दी गई थी. 'कामम्' जैसे सुख आनन्द हो वैसे सेवा करेगी, किन्तु आपकी उपेक्षा (परवाह) न कर उच्छृंखल नहीं रहेगी, क्योंकि वह प्रेम आनन्दकेलिए नहीं होता है, यों दोनोंमें 'रति' कही है ।।२८।।

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यत्यञ्जसात्मनः।।२९।।

श्लोकार्थ : जो(देवहूति)अपने भीतर धारण किये हुए आपके वीर्यको नव(नौ) प्रकार प्रकट करेगी ऋषिलोग उस संततिमें सरलतासे पुत्र उत्पन्न करेंगे।।२९।।

व्याख्यार्थ: पश्चात् सर्व प्रकारसे उसका भोग करना पृथक्-पृथक् भावसे स्थापित किये हुवे बीजोंको अपनी समर्थतासे एक ही भाववाले बताके नौ प्रकारसे उत्पन्न करेगी वे नौ होगीं, कन्याएं होगीं, अनन्तर तुम्हारे उन वीर्योंसत्त कन्याओंमें मरीचि आदि ऋषि पुत्र उत्पन्न करेंगे अतः उनको ये कन्याए देनी, यों भाव है ।।२९।।

आभास : इसके बाद तुम संन्यास ले लेना यों इस श्लोकमें कहते हैं :

त्वं च सम्यग् अनुष्ठाय निदेशं म उशत्तम।
मयि तीर्थीकृताशेष-क्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे।।३०।।

श्लोकार्थ : हे सुन्दर ! तुम तो मेरी आज्ञाका अच्छे प्रकारसे पालन कर तीर्थरूप मुझमें सर्व कर्म और उनके फल अर्पण कर मुझे ही पाओगे।।३०।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकके कहनेका भावार्थ व सारांश यह है कि

सत्पुरुषको जीवन पर्यन्त गृहस्थमें ही श्रुतिके अनुरोधसे स्थिति नहीं करनी चाहिए, मेरी आज्ञा तो पहले कही हुई है, कि तुम मुझे प्राप्त करोगे. 'च' पदका अर्थ 'तु' अर्थात् 'तो' है, वह देवहूति भी मुझे प्राप्त करेगी यों जताया है, मेरी आज्ञा पूर्णरीतिसे पालन करनेसे मुझे प्राप्त होवेंगे यों सम्बन्ध है, उशत्तम! सम्बोधनसे सूचित किया है कि तुम मुझमें प्रविष्ट होनेके योग्य हो, कर्मोके होते हुए भगवान्में प्रवेश कैसे होगा? इस पर कहते हैं कि 'मयि तीर्थीकृताः अशेषक्रियार्थाः' मुझ तीर्थरूपमें तुमने सकल क्रियाके फल अर्पण कर दिये हैं, अतः तुमको कर्म बन्धन है ही नहीं वैसे तुम मुझे प्राप्त करोगे, यों आशय है ।।३०।।

आभास : मुझमें प्राप्त होनेसे पहले तुम्हें ब्रह्मज्ञान होगा, यों कहते हैं :

कृत्वा दयां च जीवेषु दत्वा चाभयम् आत्मवान्।
मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम्।।३१।।

श्लोकार्थ : जीवों पर दया करनेसे और उनको अभय देनेसे आत्मज्ञानी हो जाओगे जिससे मुझमें अपने साथ समग्र देखोगे और अपनी आत्मामें भी मुझे तथा समग्र जगत्को देखोगे।।३१।।

व्याख्यार्थ: सबका साक्षात्कार हो जाय वह ही उसका(ब्रह्मका) ज्ञान है, ब्रह्मको जो जानता है, उसको ही भगवान्की प्राप्ति होती है. ''यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवति'' जिसके जाननेसे यह सब जाननेमें आ जाता है, यह ही ज्ञानका स्वरूप है, उनका भी स्वरूप कहते हैं, जीवों पर दया कर और उनको अभय देकर और स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त हुए हैं, दूसरे जो ऐसी दशासे रहित हैं, वे दीन, दयाके पात्र होते हैं, सब आत्मा है, ऐसा भाव हो जानेपर अभयदान देना, आत्मज्ञानीका ही कर्त्तव्य है, वह कहते हैं. 'आत्मवान्'[१] अर्थात् आत्मवेत्ता वह है, जिसने मूल चित्स्वरूपको अपनेमें प्रकट किया है, वहां इन्द्रियोंके जीतनेका उपयोग नहीं क्योंकि वह पहले ही सिद्ध हो गया है, जब यह स्थिति होगी, तब मैं सबका अधिष्ठान हूं, मेरे ऐसे स्वरूपका दर्शन करोगे यों बताते हैं. ''मय्यात्मानं सह जगत्'' भगवान्में अपनी आत्माको तथा जगत्को देखोगे और अपनेमें तथा जगत्में मुझे ही देखोगे, इस प्रकार भगवान् आधार तथा आधेय दोनों हैं, यों जानोगे और अपना आधार इस तरह उसके पूर्ण ब्रह्मज्ञानका वर्णन किया है ।।३१।।

१.आत्मवान्(आत्मवेत्ता) वह है, जिसने अन्तःकरण जीत लिया है, जब उसमें इन्द्रियां

बाधक होती हैं. वह पहले ही हो गया है, अर्थात् अन्तःकरण जीत लिया गया है. प्रकाश.

आभास : यों उसको आज्ञा दी, उसके स्वीकार करने पर मेरी कृपा होगी, यों इस श्लोकमें कहते हैं :

सहाऽहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम्।।३२।।

श्लोकार्थ : हे महामुने ! तुम्हारे वीर्यके साथ मैं अपने अंश कला सहित तुम्हारी पत्नी देवहूतिके गर्भसे अवतार लेकर तत्त्वसंहिता रचूंगा।।३२।।

व्याख्यार्थ: अपने अंश एवं कला सहित भगवान्के अंश आनन्दरूप हैं जो आनन्दरूप अंश हैं, वे ही भगवान्के अंश हैं, जीव भगवान्के चिद्रूपके अंश हैं जो, कलाएं हैं, वे ज्ञान और क्रियाकी शक्तियां हैं, उसमें आनन्दांश ज्ञानकला सहित है, तुम्हारे वीर्यके साथ तुम्हारे क्षेत्र देवहूतिमें सांख्य सिद्धान्तको सिद्ध करनेवाली तत्त्वसंहिता कहूंगा, यहां वीर्य एवं क्षेत्रका केवल सम्बन्ध ही है कि जीवकी तरह(जीवके देहके समान) उत्पत्ति नहीं है, पुराणोंमें देवकी तरह चार संहिता कही हैं, १.सांख्य, २.योग, ३.पशुपत, ४.वैष्णव. सिद्धान्तके प्रतिपादन करनेवाले मन्त्ररूप समस्त पुराण, उनके आवश्यक अंगरूप काल आदिके प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थोंकी तरह है, उनमेंसे मूल संहिताएं कालने ग्रस ली हैं, अर्थात् नष्ट हो गई हैं, उनमेंसे पहली सांख्य संहिता, मैं प्रकट करूंगा, अपने अंश और कर्दमके वीर्यका अभेद है यों प्रतिपादन(सिद्ध करनेकेलिए प्रथम ही श्लोकके आरम्भमें 'सह' पद दिया है, हे महामुने! सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि कर्दमका इस प्रकारका अधिकार है ।।३२।।

आभास : यों कर्दमकी कामना पूर्णकर अर्थात् वरदान देकर पधार गए, क्योंकि प्रभु सन्निधिमें जीवकी कामना पूर्ण नहीं होती है, यों कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

एवं तमनुभाष्याऽथ भगवान् प्रत्यगक्षजः।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात्।।३३।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजी कहने लगे कि हे विदुरजी ! कर्दमजीसे इस प्रकार सम्भाषण कर अन्तर्मुख इन्द्रियोंसे दर्शन देनेवाले भगवान् सरस्वतीसे घिरे हुए बिंदुसरसे अपने धामको पधार गए।।३३।।

व्याख्यार्थ: उस कर्दमको जो कहना था वह कह दिया, करेगा तो सर्व आप(कर्दम) ही. भगवान्को तो केवल कर्दमको कहना था.

'अथ'से यह सूचित किया है कि अब दूसरा प्रकार आरम्भ हुआ, भगवान् दयायुक्त होके पधारे थे अब भक्तके उद्धार करनेसे मनोरथ पूर्ण होना समझ पधार गये इसलिए आरम्भ नवीन है, कर्दममें जो ब्रह्मभाव धरा था वह लेकर पधार गये जिससे 'भगवान्' विशेषण या नाम दिया है, भगवान् फिर कब दर्शन देंगे इसके उत्तरमें वह स्थिति कहते हुए भगवान्की विशेषता दिखाते हैं, 'प्रत्यगक्षजः' लोगोंके नेत्रोंसे आपके दर्शन नहीं होते हैं, अतः जब नेत्र अन्तर्मुखी होंगे तब दर्शन स्वतः होंगे अर्थात् भगवान् उसको प्रत्यक्ष होंगे. सारांश यह है कि तब ही भगवान् प्रकट होंगे, जो बिन्दुसर तीर्थ स्वयं भगवान्ने प्रकट किया है, और सरस्वतीकी देवता ब्रह्म है सरस्वतीसे यह सरोवर घिरा हुआ है, अतः वहां सृष्टि और ब्रह्मभाव दोनों सिद्ध होते हैं, इसलिए कर्दमके दोनों मनोरथ स्थानसे ही सिद्ध हो जायेंगे यों निश्चय जान भगवान् सरस्वतीसे घिरे हुए बिन्दुसरसे पधार गये, यों कहा ।।३३।।

आभास:यदि कर्दमका चित्त अन्यमें आसक्त होवे तो देशकी उपयोगिता भी न रहे, इसलिए हृदयमें भगवान्को स्थापन करनेकेलिए भगवान्को देखते रहे, उसके देखते हुए ही भगवान् पधार गए यों इस श्लोकमें कहते हैं:

निरीक्षतस्तस्य ययावशेष–सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः।
आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षैः उच्चारितस्तोममुदीर्णसाम।।३४।।

श्लोकार्थ:सकल सिद्धेश्वर, सिद्धमार्ग(वैकुण्ठमार्ग)की स्तुति कर रहे हैं, वे भगवान् उसके(कर्दम)के देखते हुए उस मार्गको पधार गए गरुडजी जो 'साम' को अपने पंखोंसे गान कर रहे थे, उस गानको सुनते हुए जा रहे थे।।३४।।

व्याख्यार्थ: सकल सिद्धेश्वरोंसे चारों तरफ स्तुति किया हुआ, स्वतः सिद्ध मार्गवाले अथवा वैकुण्ठ मार्गवाले, एवं जिस मार्गको सिद्ध ढूंढ रहे हैं, इससे यह सूचित किया कि यहांसे भगवान्के आने–जानेमें सिद्धोंकी भी सम्मति है, इस कारणसे भगवान्के पधार जानेसे उसकी(कर्दमकी) किसी प्रकारकी अप्रतिष्ठा नहीं हुई, क्योंकि फिर पधारनेकी सम्भावना है सिद्धोंके साथ भगवान्का व्यवहार ही इस प्रकारका है, यहां 'अशेष' पदसे सबकी सम्मति है, यों सूचित किया है, जिनको सिद्धि प्राप्त हुई है, वे सिद्ध हैं और जो स्वयं सिद्धि देनेवाले हैं वे सिद्धेश्वर

इन सबको भगवन्मार्ग इच्छित फल देनेवाला तो है किन्तु वे इससे भी विशेष फल चाहते हैं.

सिद्धेश्वर तो भगवान्की निरन्तर(लगातार) स्तुति करते हैं, उनके स्तोत्र सुनते हुए छोडकर कैसे पधार गए? इस शंकाका समाधान करनेकेलिए कहते हैं, कि गरुडजीके [१]पृष्ठरूप पाखोंसे रथन्तर आदि मन्त्रोंके उच्चारित 'स्तोम' अर्थात् बृहत् आदि स्तुतिके मन्त्रोंका समूह जिसमें, इस प्रकारका गाया हुआ 'साम' जो ऋग्वेदके मन्त्रोंका आधारवाला है, उसका श्रवण करते हुए पधारे त्रिवृत्त आदि चार स्तोम हैं, बृहत् आदि भी सामवेदके मन्त्र हैं, उनमें ऋग्वेदके मन्त्र मुख्य हैं, (पाखोंसे गाया हुआ साम वह सुनाते हुए पधारे, यों सम्बन्ध है) उच्चारित स्तोत्र जिसमें स्तुतियोंके समूहोंका उच्चारण हो रहा था, यह विशेषण है अतः वेद साक्षात् भगवान्की ही स्तुति करते हैं, और वह ही सुनते हैं दूसरे तो मार्गोकी स्तुति करते हैं इस प्रकारका भाव है ।।३४।।

१."**अभित्वाशूरनो नुम इति. कयानश्चित्रेति, तं वोदस्ममृतिषहमिति, तिरोभिर्वावदद् वस्तुम् इति सूक्तचतुष्टयानि**" ये चार सामके सूत्र हैं जो मध्याह्न(दोपहरके समय) सोमरस निकालते हुए गाये जाते हैं, उनको पृष्ठ शब्दसे कहा जाता है अर्थात् उसके रूप हैं, जिसका स्पर्श हो वह पृष्ठ अर्थात् भगवान् गरुडके पीठ पर बिराजमान हुवे हैं, इसलिए उसका स्पर्श हुआ जिससे वह 'पृष्ठ' कहलाया 'स्तोत्रि समुदाय' पृष्ठमें सत्तर स्तोम हैं उसकी विशेष स्तुति यों कहते हैं. "**पंचभ्यो हिंकरोति, स एकया तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हिंकरोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः इति. हिंकरोति गायति**" यहां पहली आवृत्तिमें प्रथमाकी तीन आवृत्ति, दूसरी आवृत्तिमें मध्यमाकी, तृतीय आवृत्तिमें मध्यमा और उत्तमा दोनोंकी आवृत्ति करनेसे ७० स्तोम होते हैं, ऐसा गाया हुआ मन्त्रोंका समुदाय है, यों अर्थ(तात्पर्य) है. 'त्रिवृदादयः' अर्थात् 'त्रिवृत्' पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश(२१) ये चार हैं विस्तारके भयसे उनके लक्षण नहीं लिखे जाते हैं, बृहदादि सब सामवेदके मन्त्र हैं. प्रकाश.

आभास : इस तरह भगवान्ने जो कुछ जैसा किया वह कहकर वैसे ही हुआ, यह निम्न श्लोकोंमें कहते हैं :

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवान् ऋषिः।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन्।।३५।।

हे विदुरजी ! भगवान्के वहांसे पधारजानेके बाद भगवान् कर्दम उनके बताए हुवे कालकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु सरोवर पर ही ठहर गए।।३५।।

व्याख्यार्थ : नारायण भगवान्के पधारजानेके अनन्तर उसी ही समय मनु अपने घरसे निकले. कर्दम भी ऋषि होनेसे इनको जाननेमें चिन्ता नहीं की क्योंकि भगवान् हैं, अतः केवल उस कालको व्यतीत कर रहे थे ये दो दिन कब पूरे होंगे? यदि चिन्तित होवे तो प्रयत्न कर, इन्होंने प्रयत्न नहीं किया जो भगवद्भावको प्राप्त हुआ हो उसको ही कामनासे भी भगवान्का वाक्य महान् है, ऐसा विश्वास होता है ।।३५।।

आभास : मनु अकेले नहीं आए किन्तु पत्नीको भी साथमें लाए यों इस श्लोकमें हैं :

मनुः स्यन्दनम् आस्थाय शातकौम्भपरिच्छदम्।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यो व्यचरन् महीम्।।३६।।

श्लोकार्थ : हे उत्तम धनुषवाले ! मनुजी पत्नी सहित सुवर्ण जटित रथ पर बैठकर अपनी कन्याको भी बिठाकर पृथ्वी पर घूमने लगे।।३६।।

व्याख्यार्थ: सुवर्ण जटित रथमें विवाहकी सूचना है, अपनी पुत्रीको बिठाकर लाये यह कथन प्रकट करता है विवाह करनेका निश्चय है, अन्तर्यामीकी प्रेरणासे वह वैसा होगा(कर्दमसे ही किया जायेगा) यों निश्चय कर अपनी कन्याके सिवाय दूसरेसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं है, स्त्री-पुरुष(माता-पिता)की ही कन्या देनेमें प्रधानता है, इसलिए मनु स्त्री सहित आये हैं, कन्या देनी हैं, अर्थात् इसका विवाह करना है यह भाव कन्याके आगे अब प्रकट किया क्योंकि विवाहके बाद रमणीय स्थानोंको देखना न हो सकेगा इसलिए पृथ्वी पर घूमते हुवे सर्व जो भी उत्तम स्थान थे, वे दिखाये यों अर्थ है ।।३६।।

आभास : यों घूमते हुए दो दिन पूरे हो गए, कुरुक्षेत्रसे निकल तीसरे दिन बिन्दु सरोवर पहुंचे यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत् समादिशत्।
उपायाद् आश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ।।३७।।

श्लोकार्थ : हे वीरश्रेष्ठ ! जो दिन भगवान्ने बताया था उसी दिन शान्तव्रत मुनिके आश्रम पर पहुंचे।।३७।।

व्याख्यार्थ: हे सुधन्वन्! यह सम्बोधन देकर विदुरजीको प्रतीति कराई है, कि इससे तुम अपना पौरुष(वीरता) प्रकट कर रहे हो, और अपनी जितेन्द्रियता बता रहे हो. भगवान्की आज्ञा बदलती नहीं है, अतः उसी ही दिन आ गये, जो

भगवान्ने कहा था, न कि काकतालीयन्यायसे अचानक वहां पहुंचे, इसको जतानेकेलिए भगवदाज्ञा कही है, जिस प्रदेशमें मुनिका आश्रम था, उसके निकट आ गये, ऋषि अपनी तपस्याके तेजसे तप्त हो रहे होंगे, उसके समीप कैसे गये, इस पर कहते हैं, 'शान्तव्रतस्य' उस कालमें मुनिने तपस्यासे जो चिह्न प्रकट होते हैं, उनका त्याग कर शान्तिका व्रत(स्वरूप) धारण किया था, वह प्रसिद्ध है इसलिए ये जाननेकेलिए प्रश्न करनेकी आवश्यकता नहीं थी ।।३७।।

आभास : भगवान्का कहा हुआ समय वह ही था यों कहकर अब निम्न श्लोकमें कहते हैं कि देश भी भगवान्का किया हुआ है:

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम्।।३८।।

श्लोकार्थ : यह बिन्दु सरोवर वह स्थान हैं, जहां अपने शरणागत भक्त कर्दमके प्रति अत्यन्त करुणा उत्पन्न होनेमें भगवान्के नेत्रसे अश्रुबिन्दु गिरे थे।।३८।।

व्याख्यार्थ: बिन्दु सरोवर पदकी व्युत्पत्ति(भावार्थ) कहते हैं कि जिस सरोवरमें बिन्दुएं पडी हैं, वह बिन्दु सरोवर है, वे बिन्दु कहांसे आईं, इस पर कहते हैं, कि भगवान्के नेत्रसे ये बिन्दु गिरे जो कि सरोवरमें पडे, भगवान्के नेत्रसे बिन्दुएं क्यों गिरे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि दयायुक्त होनेसे बिन्दु गिरे, दया(कृपा) क्यों हुई जिसकेलिए कहते हैं कि कर्दम शरण आये उसको दुःखी देख दया उत्पन्न हुई. कृपासे जो ओत-प्रोत होता है, वह अपने स्थानसे गिर पडता है तब नेत्रसे बिन्दु गिरने लगती हैं, भगवान्ने अपनी कृपा शरणागतोंकेलिए ही अर्पण कर दी है, अतः दीन मात्रकेलिए दया नहीं है, क्योंकि शरणागतको दे दी है, 'अर्पितया' पदका यह भावार्थ है. 'भृशं' पदसे सूचित किया है कि वह अर्पण भी साधारण नहीं, किन्तु सर्वभावसे है ।।३८।।

आभास : इस तरह देश और काल दोनों भगवान्के बताए हुए हैं यों निरूपण कर अब भगवान्का सिद्ध किया हुआ कार्य उस देशमें सम्पन्न हुआ वह निश्चित् बिन्दु सरोवर है जहां कन्याके सुखसे स्थितिकेलिए ६ श्लोकोंसे वर्णन करते हैं :

तद् वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिश्रितम्।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम्।।३९।।

श्लोकार्थ : सरस्वतीके जलसे भरा हुआ बिन्दुसर नामवाला पवित्र तीर्थ तथा जल अमृतके समान मिष्ट एवं कल्याणकारी है बडे-बडे महर्षि इस स्थलका सेवन करते हैं।।३९।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के गुणसे बननेके कारण इसका बिन्दु सरोवर नाम प्रसिद्ध हुआ है सरस्वतीके जलसे पूर्ण है इसलिए वहां धर्मकी(श्राद्ध आदि कर्मकी) सिद्धि होती है. यदि 'परिश्रितं'के स्थान पर 'परिप्लुत' पद होवे तो इसका आशय यह है कि यमुनाजीमें कालीय ह्रद है वैसे यह सरस्वती नदीके मध्यमें कुण्ड है. पहले इसके जलका वर्णन करते हैं 'पुण्यं शिवममृतं' पुण्यरूप होनेसे कल्याण करनेवाला है. 'शिवं' पदसे बताया है कि आरोग्य करनेवाला है. 'अमृत' पदसे कहा है कि स्वादिष्ट मधुर है इसमें प्रमाण कहते हैं कि इसलिए बडे-बडे महर्षिगण इसका सेवन करते रहते हैं. अतः यह जल उत्तम फलरूप है ।।३९।।

आभास : जलके तटका भाग ऋषिगण सेवन कर रहे हैं यों कहकर अब उसको भी घेरे हुए जो वन है उसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं :

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम्।।४०।।

श्लोकार्थ : (वह बिन्दु सरोवर) पवित्र वृक्ष और लताओंसे घिरा हुआ था जिसमें अनेक प्रकारकी मीठी एवं शुद्ध बोली बोलनेवाले पशु-पक्षी रहते थे सर्व ऋतुओंके फलों और पुष्पोंसे सदैव युक्त था उस सुन्दर वनकी सुन्दर श्रेणियां शोभा बढा रहीं थीं।।४०।।

व्याख्यार्थ: स्वभावसे स्वयं पवित्र और दूसरोंको भी शुद्ध करनेवाले आम्र(आम) आदि वृक्ष तथा बेलें वहां मौजूद थीं उनके फलोंको भक्षण करनेवाले पवित्र तथा कूजनकर्ता हिरन आदि पशु एवं मयूर आदि पक्षी रहते थे. वहां ऐसे वृक्ष एवं बेलोंके समूह थे जिनसे वह स्थान सब ऋतुओंमें फल और पुष्पोंसे भरपूर रहता था. वन पंक्ति चारों तरफ सुशोभित थी ।।४०।।

आभास : यों वनका धर्मजनकत्व वर्णन कर अब रसालपन निरूपण करते हैं :

मत्तद्विजगणैर्जुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम्।
मत्तबर्हिनटाटोपम् आह्वयन् मत्तकोकिलम्।।४१।।

श्लोकार्थ : जहां झुण्डके झुण्ड पक्षी चहचहा रहे थे, एवं मदमत्त भ्रमर

मण्डरा रहे थे उन्मत्त मयूर नर्त्तकोंके अभिमानवाले हो नाच रहे थे, इसी तरह कोयल भी अपनी कूहू-कूहू वाणीसे परस्पर आलाप कर रही थी ऐसा वह स्थान था।।४१।।

व्याख्यार्थ: सब पक्षीगण वहांके रसपानसे मस्त हो रहे थे, इस कारणसे ही लोभसे वे यहां रहते हैं, जिससे उनसे सेवित हैं, जैसे मत्त भ्रमरोंका विलास अर्थात् मधुर गुंजार हो रहा है, अथवा विशेष प्रकारकी गति(उडना) हो रही है, इसी तरह उन्मत्त वे ही नाचनेवाले नर्त्तक हैं उनका अभिमान जिनमें है वैसा वह वन है, वहां कोई हिंसक(शिकारी) न होनेसे मयूर निश्चिन्त हैं, जिस वनमें कोयल अपनी कूहू-कूहू वाणीसे परस्पर बुला रही है ।।४१।।

आभास : इस तरह रसालताका निरूपण कर निम्न श्लोकमें पुष्प प्रधान वृक्षोंका वर्णन करते हैं :

कदम्ब-चम्पकाशोक-करञ्ज-बकुलासनैः।
कुन्द-मन्दार-कुटजैश्चूत-पोतैर् अलङ्कृतम्।।४२।।

श्लोकार्थ : कदम्ब, चम्पक, अशोक, करंज, बकुल, आसन, कुन्द, मन्दार, कुटज और नवीन आमके वृक्षोंसे यह आश्रम अलंकृत था।।४२।।

व्याख्यार्थ: आसन वृक्ष भी पुष्प प्रधान है, अर्थात् जिसमें पुष्प ही मुख्य है, फल पत्र मुख्य नहीं है. 'चूतपोताः' छोटे आमोंवाले(आमके) वृक्ष उनसे भी सुशोभित हैं ।।४२।।

कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम्।।४३।।

श्लोकार्थ : वहां जलकाग, बतख, हंस, कुदर, जलमुर्ग, सारस, चकवा और चकोर मधुर स्वरसे कूजन(कलरव) कर रहे थे।।४३।।

व्याख्यार्थ: जलकाग, बतख आदि विशेष पक्षी हैं, उनसे जिस प्रकार हुवे मनको हरनेवाला कूजन(मधुर स्वर गाना) उसमें गुंजित वह था ।।४३।।

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्-गवय-कुञ्जरैः।।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैः नकुलैर्नाभिभिर्वृतम्।।४४।।

श्लोकार्थ : वैसे ही हरिन सूअर स्याही नीलगाय हस्ती लंगूर सिंह बन्दर नेवले तथा कस्तूरी मृग आदि पशुओंसे वह आश्रम घिरा हुआ था।।४४।।

व्याख्यार्थ: हरिन आदि विशेष मृगोंसे घिरा हुआ, तथा सूअर, स्याही,

नीलगाय, लंगूर, सिंह, बंदर और कस्तूरी मृग आदिसे भी वन घिरा हुआ था ।।४४।।

आभास : ऐसे वनमें निःशंक प्रवेश कर मनुने वहां विद्यमान(स्थित) मुनिको देखा :

प्रविश्य तत्तीर्थवरम् आदिराजः सहानुगः।
ददर्श मुनिम् आसीनं तस्मिन् हुतहुताशनम्।।४५।।

श्लोकार्थ : सेवक सहित आदिराज मनुने आश्रममें प्रवेश कर वहां देखा कि अग्निहोत्र कर्म पूर्ण कर कर्दम मुनिजी बैठे हुए हैं।।४५।।

व्याख्यार्थ: बिन्दुसरके समीप उसकी पर्णशाला(कुटिया) थी, इस कारणसे ही कहा है कि तीर्थश्रेष्ठमें 'प्रविश्य'(प्रवेश कर) पदसे ऐसा समझमें आता है, कि नदीको पार कर आश्रममें पहुंचे हैं तीर्थकी श्रेष्ठताका परिज्ञान है, इसलिए मनुको 'आदिराज' कहा है, मनु पहला नृपति है, और जिसके साथ परिचारक भी है.सेवक क्यों? इसलिए कहते हैं कि यह राजा है, ऐसा पूर्णज्ञान होवे, दूरसे ही देखा कि अग्निहोत्रादि हो गये हैं, इससे कर्म समाप्तिकी सूचना है ।।४५।।

आभास : यह कन्यादानके योग्य वर है यह वर्णन करते हैं :

विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम्।
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात्।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ।।४६।।

श्लोकार्थ : बहुत दिन तक उग्र तपस्या करनेसे जिसका शरीर तेजस्वी देहवाला दीखता था एवं भगवान्की स्नेहयुक्त कटाक्ष चितवनवाली दृष्टिके कारण तथा भगवान्के वचनरूप चन्द्रमासे उत्पन्न अमृतके श्रवण(पान)से जिसका शरीर, तप करते हुए भी विशेष दुर्बल नहीं हुआ है ऐसे मुनिको देखा।।४६।।

व्याख्यार्थ: उग्रतपके सम्बन्धसे अर्थात् उसने उग्रतप बहुत दिन तक किया था, जिससे उसकी देह प्रकाशयुक्त(तेजस्वी) हो गई थी, तपस्या करनेमें उसका विशेष योग(सम्बन्ध) था, तपस्या परमधर्म होनेसे बहुत समयतक करने पर भी शरीर चमक ही रहा था, इससे कर्दमके वर्णकी उत्तमता दिखाई है शरीरमें दुर्बलता नहीं थी यों बतानेकेलिए 'नातिक्षामं' पद दिया है, भगवान्की स्नेहयुक्त चितवनके देखनेसे अत्यन्त कृश नहीं हुवे हैं. 'दुरन्तसर्गो यदपांगमोक्षः'. जिनके

कटाक्ष पडनेसे अनन्त सृष्टि होती है, इस वाक्यानुसार भगवान् कटाक्षसे सर्गों सबकुछ उत्पन्न करनेवाले हैं अतः इन कटाक्षोंने ऋषिमें साधारणतः पुष्टि भी उत्पन्न की थी, जिससे तपके कारण अति दुर्बलता नहीं आई थी, अत्यन्तता निवृत्तिकेलिए शरीरमें स्निग्धताका निरूपण किया है, देहमें स्थूलता प्रदर्शित करनेवाले जो अवयव थे वे भगवान्की स्नेह सहित दृष्टिने बनाये थे अतः वे सदैव वैसे ही रहेंगे, वे अवयव कितने(स्वल्प) थे, इसलिए बहुत दुर्बलता नहीं आई थी, साक्षात् दृष्टिसे उत्पन्न होनेके कारण एवं उस दृष्टिका सम्बन्ध समस्त अवयवोंसे हुआ था इसलिए बहुवचन दिया है,

यों होने पर भी आसन्य(मुख्य प्राण) तृप्त होता है इसलिए दूसरा कारण कहते हैं. 'तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन' भगवत्कार्यत वाक्य ही चन्द्रमा है उसके पीयूषके श्रवण(पान)से भी पुष्टि मिलती है, भगवान्के वचन सदैव अमृतको उत्पन्न करनेवाले हैं, वाक्य(वचन)के श्रवणसे पुष्टि होती है यों प्रतिपादन करनेवाले हैं, श्रवणसे भी पुष्टि होती है, यह सिद्ध करनेकेलिए उसको अमृतकला(चन्द्र) कहा है. अतः इस कारणसे वह ''द्रविडमण्डकवत्'' धोखा नहीं है.वहां भी कुछ उपयोगी कार्यमें आनेवाले होनेसे 'अमृतकला'(चन्द्र) पद दिया है. उसको केवल सुना जाता है.जिससे अति क्षमता न हुई तो पुष्टि ही हुई यों कहे. 'च' पदसे सूचित किया है कि यह भगवान्की अलौकिक कृपा है ।।४६।।

आभास : यों दोषोंका अभाव वर्णन कर इस श्लोकमें गुण कहते हैं :

प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् ।
उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणम् असंस्कृतम्।।४७।।

श्लोकार्थ : वे शरीरसे लम्बे थे, कमल दलके समान नेत्रवाले थे, जटाधारी थे, चीर वस्त्रयुक्त थे जैसे सान पर न चढी हुई मणि मलीन होती है वैसे वे भी मलीन थे यों निकट जाने पर राजाको मालूम हुआ।।४७।।

व्याख्यार्थ: जिसके अवयव बडे थे जिसकी भुजाएं घुटनों तक लम्बी थीं और यज्ञियता निरूपण की(इससे पूज्यता प्रकट की). कमलदलके समान नेत्रवाले थे इससे प्रकृत प्रसंगमें यह सौन्दर्य उपयोगी था, इसी तरह जटा धारण, चीर वस्त्र युक्त होना ये दो गुण सत्त्वके होनेसे ऋषित्वको जताते हैं. उपसंसृत्य अर्थात् निकट जाकर दर्शन दिये यों पूर्वसे ही सम्बन्ध है अथवा निकट ही संसारमें प्राप्त होनेसे मलीनसे हैं क्योंकि कामसे प्राणी मलीन होता है जैसा कि गीतामें

कहा है कि ''धूमेनाव्रियते वह्निः'' धूम अग्निको घेर लेता है. इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे सहज दोषत्वके अभावकेलिए 'यथार्हणम् असंस्कृतम्' मणि आदि सान पर न चढी हो तो भी स्वभावसे गुणवती है किन्तु वह सुवर्ण पर चढनेके योग्य नहीं, जब सान पर चढे तब सोने पर चढाई जाती है. वैसे प्रकृत विषयमें भी समझना चाहिए कि कर्दमजी मुनि होनेसे प्रकाशते थे किन्तु संसारमें आनेसे मुनि मलीन कहाते हैं. यह मलीनता ऋषिकेलिए क्षतिकारक ही है यों नहीं. यहां दूसरा पक्ष लिया है मणि सहज प्रकाशवती होने पर पृथ्वीके संसर्गसे मलीन होती है वह मलीनता मणिकेलिए क्षतिकारक नहीं होती है ।।४७।।

आभास : दूरसे देखे हुए कर्दमका यों वर्णन कर अब इस श्लोकमें उसके लौकिक धर्म कहते हैं :

अथोटजं प्रत्यायान्तं नृदेवं प्रणतं पुरः।
सपर्यया पर्यगृह्णात् प्रतिनन्द्याऽनुरूपया।।४८।।

श्लोकार्थ : अनन्तर पर्णकुटीमें अपने पास आकर प्रणाम किये हुए राजाका मुनिने अभिनन्दन कर योग्य पूजनसे सत्कार किया।।४८।।

व्याख्यार्थ: राजाके पूजार्थ पर्ण निर्मित कुटियामें आये हुए क्षात्र धर्मानुसार प्रणाम किये हुए राजाका पहलेसे ही तैयार की हुई सामग्रीसे उनका स्वागत किया और आशीर्वादसे अभिनन्दन कर बराबरी जतानेकेलिए सर्व सत्कार आदि करनेके बाद कुशलताके प्रश्न पुछे. घरमें ले जानेसे आत्मीयता दिखाई ।।४८।।

आभास : इस तरह बाहर उनकी पूजा कर चिन्ताके निराकरण करनेकेलिए और सकल सन्देह मिटानेकेलिए वाणीसे पूजा करने लगे यों इस श्लोकमें कहते हैं :

गृहीतार्हणम् आसीनं संयत्तं प्रीणयन् मुनिः।
स्मरन् भगवदादेशम् इत्याह श्लक्ष्णया गिरा।।४९।।

श्लोकार्थ : भगवान्की आज्ञा स्मरण करता हुआ मुनिकी पूजाको स्वीकार कर सावधान हो बैठे हुए राजाको प्रसन्न करते हुए मनोहर वाणीसे कहने लगे।।४९।।

व्याख्यार्थ: पूजा स्वीकार कर बैठे हुए मनुको जानकर आगेका(सुझाव) भी स्वीकार करेगा यों निश्चयकर सावधान तथा विनीतको स्तुतिसे प्रसन्न करते

हुए मुनिने कहा. मुनि भावी(जो आगे होनेवाला है) अर्थको जानते हैं तो भी मनुका कहना निश्चयरूपसे मैं कैसे कर सकूंगा? ऐसा विचार आने पर कहते हैं कि वह मनु कदाचित् अन्य कुछ ही कह दे इस प्रकार शंकित होने पर भगवान्के वचन आदेशको स्मरण करने लगे. 'आत्मजामसितापांगीं' भगवान्ने कहा है कि श्याम नेत्र प्रान्तवाली कन्या तुमको मनु आकर देगा अतः यह अब कन्या देनेकेलिए ही आया है, लज्जाके कारण स्वयं न कहेगा, अतः स्वयं(मुनि) ही मनोहर वाणीसे अग्रिम वाक्यरूप यों सात श्लोकोंसे कहते हैं. यद्यपि आप किसलिए आए हो? यों पूछना नहीं चाहिए क्योंकि किसी कार्यके प्रसंगमें भी आना होता है, ६ श्लोकोंसे यों कहेंगे कि जिस प्रसंगकेलिए आपका आना हुआ है वह कहिए, विशेष प्रकारसे तो मेरे पास ही आये हो यों देखनेमें आता है.यों है तो जो आप आज्ञा करेंगे वह करूंगा यों सब श्लोकोंका तात्पर्य है ।।४९।।

आभास : प्रसंग कहते हैं :

कर्दमः उवाच

नूनं चङ्क्रमणं देव! सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चासतां यत्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी।।५०।।

श्लोकार्थ : कर्दमजी बोले कि, हे देव ! सत्पुरुषोंकी रक्षाकेलिए आपको घूमना होता है तथा दुष्टोंके नाशकेलिए आप घूमते हैं क्योंकि आप भगवान्की पालिका शक्ति हैं।।।५०।।

व्याख्यार्थ: हे देव! आपका घूमना सत्पुरुषोंकी रक्षा तथा दुष्टोंके नाशार्थ होता है कारणकि आप भगवान्की पालिका शक्ति हो, इसको हे देव! सम्बोधन सिद्ध करता है. 'स्थानेऽथ धर्मः' धर्मस्थान पर ही होता है, इस वाक्य अनुसार सत्पुरुषोंकी रक्षा असत्पुरुषोंका निग्रह(नाश) दोनों धर्म होनेसे स्वतन्त्र हैं, न कि एकके वास्ते दूसरा है ।।५०।।

आभास : लोकपाल पालन कार्य पूरा कर रहे हैं तो फिर मनु आदिसे क्या? इस शंका पर पालिका शक्तिका निरूपण करते हुए यों करनेवाले भगवान्को नमते हैं :

योऽर्केन्द्वग्नीन्द्र–वायूनां यमधर्मप्रचेतसाम्।
रूपाणि स्थान आधत्ते तस्मै शुक्लाय ते नमः।।५१।।

श्लोकार्थ : जो आप उपयुक्त अवसर पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु,

यम, धर्म और वरुणके रूप धारण करते हैं ऐसे आप शुक्लको नमस्कार है।।५१।।

व्याख्यार्थ: जो(प्रभु) सूर्य आदि लोकपालोंके रूप, प्रत्येक कार्यके अवसर पर धारण करते हैं, इस तरह मनु शरीरमें भी आप कार्यके अवसर पर विराजते हैं उस आप शुक्लको नमस्कार है. यह शुक्ल नारायण ही मनुमें विराज रहे हैं, उन्हें नमस्कार. शुक्लके सिवाय दूसरा कोई सकलरूपमें मनुमें स्थपित करनेकेलिए शक्तिमान नहीं है, और बिना भगवान्की स्थितिके वहां(मनुमें) सब देवताओंका सान्निध्य हो नहीं सकता है, अतः मनुको अधिष्ठान कर पालने केलिए भगवान् ही विराजते हैं ।।५१।।

आभास : विपरीत होने पर होनेवाले बाधकको इस श्लोकसे लेकर चार श्लोकोंसे कहते हैं–साधनमें बाधक दोसे और फल में बाधक दोसे कहते हैं. दो श्लोकोंसे मनु स्वतः तथा सेनासे पालन करते हैं. फलमें सेतु(मर्यादा) धर्मकी रक्षा तथा अधर्मकी निवृत्ति कही है. प्रारम्भमें मनु स्वतः रक्षण नहीं करे तो वह बाधक गिनते हैं यों ५२वें श्लोकमें कहते हैं :

न यदा रथम् आस्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम्।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन् अघान्।।५२।।

श्लोकार्थ : आप मणिजटित तथा जय पानेवाले रथ पर बैठकर अपने धनुषकी टंकारसे तथा रथके चलनेसे जो घरघराहट होती है, उससे पापियोंको डरा देते हो।।५२।।

व्याख्यार्थ: यदि आप जयशील रथपर बैठकर नहीं घूमें तो धर्म मर्यादाएं नाश हो जाय(जाती), यों सम्बन्ध है. 'रथ' आपके बैठनेकेलिए मुख्य आसन है और वह रथ साधारण नहीं है बल्कि जयशील है, इससे कहीं भी पराजय होनेकी तो शंका ही नहीं है.'मणिगणार्पितम्' मणियोंसे जटित रथ कहनेसे सूचित किया है कि महाराजके योग्य होनेसे उसको दूरसे देखते ही दुष्ट पुरुषोंको भय होता है, जिसके धनुषकी प्रबल टंकारसे दूरसे ही दुष्टोंको भय उत्पन्न होता है.पापियोंको शस्त्रसे नहीं मारते हो किन्तु उपर्युक्त(उपरोक्त) प्रकारसे अर्थात् जयशील रथकी ध्वनि(घरघराहट)से तथा धनुषके टंकारसे भय उत्पन्न कर भगा देते हो ।।५२।।

आभास : दुष्ट लोक बहुत हैं इसलिए उनके वास्ते दूसरा साधन इस श्लोकमें बताते हैं :

स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन् मण्डलं भुवः।

विकर्षन् बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव।।५३।।

श्लोकार्थ : अपनी सेनाके चरणोंसे रौंदे हुए भूमण्डलको कम्पित अपनी महती सेनाको साथ ले पृथ्वी पर ऐसे फिरते हो जैसे सूर्य घूम रहा है।।५३।।

व्याख्यार्थ: चारों प्रकारकी अपनी सेनाके चरणोंसे रौंदे हुए पृथ्वी मण्डलको सैन्य सहित कम्पाते हो. भारी सेनाको देखकर ही अनेक दोष निवृत्त हो जाते हैं. भूमिको कम्पित करनेका अन्य कोई कारण नहीं यों बतानेकेलिए अपनी महती सेनाको पृथक्-पृथक् स्थलों पर घुमाते हुए आप भी घूम रहे हैं, यह पृथ्वी पर फिरनेके गुणका धर्म प्रवृत्ति एवं अधर्मकी निवृत्तिका साधनका है उसको सूर्यके दृष्टान्तसे समझाते है कि जैसे सूर्य अपनी सहस्र किरणोंसे अन्धकारको दूर करता है, और अग्निहोत्र आदि धर्म प्रवृत्ति कराता है वैसे ही आप भी सत्पुरुष एवं धर्मकी रक्षाके साथ दुष्टोंका नाश कर रहे हैं, सूर्यका उदय न होवे तो अग्निहोत्र आदि भी न होने पावे ।।५३।.

तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः।
भगवद्रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः।।५४।।

श्लोकार्थ : हे राजन् ! यदि आप इस तरह रथमें बैठ एवं सैन्यको ले पृथ्वी पर भ्रमण न करो तो भगवान्की बनाई हुई वर्ण और आश्रमको बांधनेवाली मर्यादाओंको दस्यू गण(दुष्ट जन लूटेरे) तोड डालें।।५४।।

व्याख्यार्थ: तब ही तो भगवान्की बनाई हुई वर्ण एवं आश्रमकृत बन्धनकी मर्यादाएं दस्यु 'अधर्मी डाकुओं'से तोडी जायेगी, यदि आप ससैन्य पृथ्वी पर न घूमो. हे राजन् विशेषणसे सूचित किया है कि आप अपने कर्त्तव्यसे उदासीन नहीं हैं यों पृथ्वी पर घूमना राजाका धर्म है. डाकुओंके भयसे वर्णाश्रमी जब डर जाते हैं तब धर्मकी मर्यादा नहीं रह सकती है ।।५४।।

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति।।५५।।

श्लोकार्थ : यदि आप सो जावें अर्थात् इस तरह रक्षार्थ घूमें नहीं तो लोभी तथा निरंकुश(उच्छृंखल) प्रजा द्वारा अधर्म भी बढने लगे यह लोक लुटेरोंका भक्ष्य बनकर नाश हो जावे।।५५।।

व्याख्यार्थ: केवल धर्मकी हानि नहीं होती अपितु अधर्म भी बढता है. 'च'कारसे पाखण्ड धर्म भी बढते हैं यह सूचित होता है. उसमें हेतु कहते हैं:

'लोलुप'. निरन्तर धर्माचरण करनेपर इन्द्रियां व्यस्त बनती हैं, तब वे लौकिकमें आसक्त नहीं होती हैं. यदि धर्माचरणमें नहीं लगी रहती तो जब लौकिक एवं भोगमें आसक्त हो जाती है तब योग्य कामनाओंके पूर्ण न होनेसे इन्द्रियां अयोग्यमें लोभवाली होती हैं ऐसी दशामें यदि राज्यका भय हो तो लोभियोंकी कार्य स्फूर्ति नहीं हो सकती है अर्थात् लूट नहीं मचा सकते हैं.राज्य भय न होने पर अनीति होने लगे क्योंकि मनुष्य निरंकुश उच्छृंखल हो जाते हैं कारणकि उन पर कोई नियामक नहीं. 'नृभिः' पदसे कहा है कि वे ही भगवान्की आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले होते हैं जिससे जनताको दो काल भोजन करनेकी वेदमें आज्ञा है वह हो नहीं सकती. राजाओंकी दो अवस्था हैं: १.विषयभोग, २.प्रजापालन. पहली अवस्था शयन अर्थात् आराम है. यदि १.विषयभोग उपाराम तथा २.प्रजापालन दोनों अवस्थाएं यदि समान मानी जाय अथवा कालभेदसे उनकी व्यवस्था है, यदि १.विषयभोग उपाराम की जाय अथवा भोगको मुख्य माना जाय, इस तरह सब प्रकारसे आप सो जाओ तो यह लोक लुटेरुओंसे ग्रसा हुआ, स्त्री तथा धन आदि गवांकर लुटाकर स्वरूपसे भी नाश हो जायेगा, अतः आपको जरुर घूमना चाहिए, अतः प्रसंगसे आगमन हुआ है यहां भी चोर आदिका निराकरण करता है ।।५५।।

अथापि पृच्छे त्वां वीर! यदर्थं त्वम् इहागतः।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा।।५६।।

श्लोकार्थ : तो भी हे वीर ! तुम जिस प्रयोजनसे आए हो, वह तुमसे पूछता हूं उस प्रयोजनकी पूर्ति हम निष्कपट हृदयसे करेंगे।।५६।।

व्याख्यार्थ: अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाले हे वीर! जिस कार्यकेलिए आप यहां आश्रममें आये हो वह पूछता हूं, जो मुझसे प्रार्थनाकेलिए आये हो तो वह कहिए, मैं वह आपकी प्रार्थना निष्कपट शुद्ध हृदयसे स्वीकार करूंगा, यह कभी भी सन्देह न करना कि आपकी प्रार्थना न मानूंगा, कर्दमके ऐसे वचन भगवान्की कृपासे निकले, ये वचन महाराजासे भी उत्कर्षके वचन हैं ।।५६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २१ वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २२

कर्दमजीको देवहूति अर्पण कर मनुका राजधानीमें पहुंचना

द्वाविंशे कर्दमस्यार्थः सिद्धस्त्रीधनरूपवान्।
अयमेवैन्द्रियगणः कृष्णार्थं सुविनिश्चितः।।का.१।।

कारिकार्थः बाईसवें अध्यायमें सिद्ध, स्त्री, धन और रूपवान् यह कर्दमका अर्थ(प्रयोजन) है. इन्द्रियोंसे ग्राह्य मात्राओंको ऐन्द्रिय कहते हैं उनका जो गण है वह सब कृष्णकेलिए है यह सब तरहसे निश्चित है।।१।।

अर्थस्य सत्वं चाख्यातुं मनोधर्मस्य वर्णनम्।
भगवत्कृपयैवार्थ उत्तमो नान्यथेति च।।का.२।।

कारिकार्थ : अर्थकी साधुताको बतानेकेलिए मनुके धर्मोंका वर्णन है. भगवान्की कृपासे ही उत्तम अर्थ होता है अन्यथा नहीं।।२।।

आकूतिः पुत्रिकात्वेन दत्ता येन निजेच्छया।
स एवात्यन्तदैन्येन देवहूतिं प्रयच्छति।।का.३।।

कारिकार्थ : जिसने अपनी इच्छासे पुत्रिका धर्मसे आकूतिको दिया था वह ही अत्यन्त दैन्यसे देवहूतिको दे रहा है।।३।।

कृतकृत्यं च मनुते ततो धर्मं च सेवते।
यज्ञश्रवणभेदेन द्विरूपमपि सर्वदा।।का.४।।

कारिकार्थ : और अपनेको कृतकृत्य मानता है उसके अनन्तर धर्मका सेवन करता है. वह धर्म यज्ञ तथा श्रवण इस भेदसे दो रूपवाला है. उसी दो रूपवाले धर्मका सदा सेवन किया।।४।।

आभासः पहले अध्यायके अन्तमें तुम्हारे कहे हुए वाक्यको करना चाहिए ऐसा ऋषिके मुखसे सुनकर संतुष्ट हुए और उनकी प्रार्थना करनेकेलिए पहले उनकी स्तुति करते हैं:

मैत्रेयः उवाच

एवम् आविष्कृताशेष–गुणकर्मोदयो मुनिम्।
सव्रीड इव तं सम्राड् उपारतम् उवाच ह।।१।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजी कहते हैं–हे विदुरजी ! इस प्रकार जब कर्दमजीने मनुजीके सम्पूर्ण गुणों और कर्मोंकी श्रेष्ठताका वर्णन किया तो उन्होंने उन निवृत्ति

परायण मुनिसे संकोचके साथ कहा।।१।।

व्याख्यार्थ: प्रकट किये हैं सभी गुण, कर्म और अभ्युदय जिनके, अथवा प्रकट किया है गुण–कर्मोंका अभ्युदय जिसका, सब देवताओंका उनमें निवास था इसलिए तो उनमें गुणोंका उदय और धर्मके सम्यक्रूपसे पालन करनेके कारण कर्मका अभ्युदय था. उनका कथन अन्यथा नहीं था इसको बतानेकेलिए 'मुनि' पद दिया है, अर्थात् मुनि कभी अन्यथा नहीं बोलते. मुनिने राजाको उसकी कीर्ति सुनाई थी अतः वह लज्जित सा हो गया, अथवा राजाके लज्जित होनेका यह भी कारण हो सकता है कि मैं मुनिको अपनी कन्या देनेकी बात कहूंगा कहीं वे मेरी इस बातको अस्वीकार न कर दें. 'सम्राट्' पद इस बातको सूचित करता है कि बडोंके सभी वचन शोभाकारक होते हैं.'उपारतं'के दो अर्थ हैं एक तो यह कि मुनि जब चुप हो गये(तब राजा बोला), दूसरा अर्थ 'उप+आरतम्' ऐसा पदच्छेद करने पर है कन्याके समीपमें, कन्यामें पूर्णरूपसे अनुरक्त(मुनिसे राजा बोले). 'ह' आश्चर्य अर्थमें है आश्चर्य यह है कि महाराज कभी किसीसे प्रार्थना नहीं करते. यहां तो महाराज मुनिसे प्रार्थना करते हैं यह आश्चर्य है।।१।।

आभास :सर्व प्रथम तो ब्राह्मण और क्षत्रियका विवाह सम्बन्ध ही सो उचित नहीं है ऐसी आशंका करके यह सम्बन्ध तो भगवान्ने ही किया है ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरेका उपकार करनेके कारण समान ही हैं इसे तीन श्लोकोंसे कहते हैं:

मनुः उवाच

ब्रह्माऽसृजत् स्वमुखतो युष्मान् आत्मपरीप्सया।
छन्दोमयस् तपोविद्या–योगयुक्तान् अलम्पटान्।।२।।

श्लोकार्थ : मनुजीने कहा, हे मुने ! वेदमूर्ति भगवान् ब्रह्माजीने अपने वेदमय शरीरकी रक्षाकेलिए तप, विद्या और योगसे सम्पन्न एवं विषयोंमें अनासक्त आप लोगोंको अपने मुखसे प्रकट किया।।२।।

व्याख्यार्थ : सबसे पहले जिनका वेदमय शरीर है उन ब्रह्माजीने अपने मुखसे आप लोगोंकी ब्राह्मणोंकी सृष्टि की.'आत्मपरीप्सया'का अर्थ है अपनी तथा वेदकी पूर्तिकेलिए अथवा अपने वेदमय शरीरकी रक्षाकेलिए आपको उत्पन्न किया. ब्राह्मणके बिना वेदोंकी अथवा यज्ञोंकी पूर्ति नहीं हो सकती. सर्व वेदात्मकको छन्दोमय कहते हैं. वे ब्राह्मण तीन प्रकारके हैं १.तपोयुक्त,

२.योगयुक्त, ३.भगवद् उपासनासे युक्त. जिनमें ये तीनों गुण हो वे मुख्य होते हैं. 'अलम्पटान्' यह पद इसलिए दिया है कि विषय लम्पट होना ब्राह्मणोंकेलिए दोष है और तपस्या आदि ये ब्राह्मणोंकेलिए गुण हैं।।२।।

आभास : इस तरह गुणवाले तथा दोषके अभाववाले ब्राह्मणोंका निरूपण करके अब क्षत्रियोंका निरूपण करते हैं:

तत् त्राणायासृजत् चास्मान् दोःसहस्रात् सहस्रपात्।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रम् अङ्गं प्रचक्षते।।३।।

श्लोकार्थ : आपकी(ब्राह्मणोंकी) रक्षाकेलिए सहस्र चरणोंवाले विराट् पुरुषोंने अपनी सहस्रों भुजाओंसे हम क्षत्रियोंको उत्पन्न किया इस प्रकार ब्राह्मण उनके हृदय और क्षत्रिय शरीर कहे जाते हैं।।३।।

व्याख्यार्थ: ब्राह्मणोंकी रक्षाकेलिए हजारों हाथोंसे हम क्षत्रियोंको (उत्पन्न किया). वरदानसे अन्य भी हजार हाथवाले होते हैं वे न लिए जाय इसकेलिए सहस्रपाद् पद दिया है. वरदानसे हजार हाथवाले हुए थे परन्तु हजार पैरवाला विराट् पुरुषके सिवाय अन्य कोई नहीं हुआ. वेद ब्राह्मणोंमें स्थित हैं उस(वेद)की रक्षा भगवान् करते हैं. रक्षाकेलिए हाथ ही काम आते हैं. हाथोंसे क्षत्रिय हुए हैं. शब्द प्राधान्यसे ब्राह्मणोंकी और अर्थ प्राधान्यसे क्षत्रियोंकी सृष्टि हुई इसलिए इस प्रकार योनिभेद परस्पर विवाहकेलिए है यह सूचित होता है. ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरेके उपयोगमें आते हैं, इसे 'हृदयं तस्य' आदिसे बताया है. ब्रह्म कहते हैं ब्राह्मणाभिमानिनी देवता वह हृदय अन्तःकरण है अर्थात् आत्मा या मध्य. क्षेत्रका अर्थ है क्षत्रियाभिमानिनी देवता वह अंग(अवयव) है. ऐसा कथन प्रामाणिक है उसकेलिए प्रचक्षते पद दिया है. जैसे बिना अंगोके आत्माको कष्ट होता है ऐसे ही बिना आत्माके अंग कष्ट प्राप्त करते हैं ।।३।।

अतो ह्यन्योन्यम् आत्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः।।४।।

श्लोकार्थ : अतः एक ही शरीरसे सम्बन्ध होनेके कारण अपनी – अपनी तथा एक दूसरेकी रक्षा करनेवाले उन ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी वास्तवमें रक्षा हरि ही करते हैं जो समस्त कार्य–कारणरूप होकर भी वास्तवमें निर्विकार हैं।।४।।

व्याख्यार्थ: अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय आपसमें एक दूसरेकी रक्षा करते

हैं. ऐसा होने पर वे दोनों आत्माकी ही रक्षा करते हैं. यह अर्थ उचित भी है. जो अपनी आत्माकेलिए दूसरोंकी रक्षा करता है वह अपनी आत्माकी ही रक्षा करता है. इस तरह परस्पर एकदूसरेका पालनकर अब दोनोंकी पालकता(रक्षण) साकांक्ष है ऐसी आशंका करके स्वतन्त्ररूपसे भगवान्के द्वारा पालित होते हुए ये ब्राह्मण और क्षत्रिय एकदूसरेकी रक्षा करते हैं यह 'रक्षति स्म'से कहा है. वह देव (भगवान्) स्वतन्त्र है सबकी पालना करता है. इस तरह रक्षा करनेमें 'सदस-दात्मकः' यह हेतु है. अर्थात् भगवान् सद्रूप और असद्रूप दोनों ही हैं. विशेषता यह है कि सदसदात्मक होते हुए भी वह निर्विकार है यह अव्यय पदसे कहा है स्म यह इसमें प्रमाण है. इस तरह भगवान्के द्वारा जैसे एकदूसरेकी रक्षा होती है उसी तरह काम और कन्या इन दोनोंसे दोनोंकी रक्षा करनी चाहिए. तुम्हारी कामनाको हम कन्यादानसे पूर्ण करेंगे और हमारी कामनाको तुम इस कन्याके साथ विवाह करके पूर्ण करो ।।४।।

आभास : वह काम विवाहात्मक ही है इसके कहनेसे अन्य फल वचनसे ही सिद्ध हो जाते हैं 'उन्हीं'को तीन श्लोकोंसे गिनाते हैं:

तव सन्दर्शनादेव छिन्ना मे सर्वसंशयाः।
यत् स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्मम् आह रिरक्षिषोः।।५।।

श्लोकार्थ : आपके दर्शन मात्रसे ही मेरे सब सन्देह दूर हो गए क्योंकि आपने मेरी प्रशंसाके मिससे स्वयं ही प्रजा पालनकी इच्छावाले राजाओंके धर्मोंका बडे प्रेमसे निरूपण किया।।५।।

व्याख्यार्थ: ब्राह्मणोंके स्थान पर राजा आदि धर्मका निर्णय करानेकेलिए भी आते हैं. वह तो हमारेलिए पहलेसे ही हो गया. क्योंकि आपके दर्शनसे ही सब सन्देह मिट गये. जिस तरह आप तप और भगवत्सेवा करते हैं उसी तरह हमको तप तथा भगवत्सेवा करनी चाहिए. ऐसा करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और भगवान्के प्रसन्न होने पर सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं; अन्यथा नहीं. पहले जो इन पुरुषार्थोंके विषयमें सन्देह थे वे सब सन्देह आपके दर्शन मात्रसे ही निश्चयरूपसे मिट गए. राजाओंका धर्म क्या है यह सन्देह भी चला गया इसकेलिए 'यत्स्वयं' यह पद दिया है और आपने दर्शनके अनन्तर, प्रेमपूर्वक रक्षकों(राजाओंके धर्मोंको) स्वयं आपने(भगवान्ने) कहे. अतः क्षत्रियोंका परम धर्म है प्रजाकी रक्षा करना. इसलिए वाक्यसे ही धर्मका सन्देह चला गया।।५।।

आभास: महापुरुषोंका दर्शन ही स्वतन्त्र फल है ऐसा कहो तो वह बिना कहे ही हो गया:

दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् ।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम्।।६।।

श्लोकार्थ : जो अकृतात्मा(देहसे अलग आत्माको न जाननेवाले) हैं उनकेलिए आपका दर्शन बहुत दुर्लभ है. मेरा बडा भाग्य है जो मुझे आपका दर्शन हुआ और मैं आपके चरणोंकी मंगलमय रजको अपने सिर पर चढा सका।।६।।

व्याख्यार्थ: भगवान्(आप), अकृतात्माओंको दर्शन नहीं देते परन्तु मैंने तो आपके दर्शन कर लिए यह बहुत प्रसन्नताकी बात है. अकृतात्मा उन्हें कहते हैं जिनने देहसे आत्माको अलग नहीं किया है अर्थात् देहको ही आत्मा मानते हैं अथवा जिनका अन्तःकरण भगवान्केलिए नहीं हैं, उन्हें भी अकृतात्मा कहते हैं. अथवा आत्माके योग्य देहकेलिए जिनने पञ्चभूतोंको संस्कृत नहीं किया ऐसे लोगोंका भी आपके दर्शनमें सब कार्य सिद्ध हो गया इसलिए परलोकका सन्देह भी चला गया. अतः पापक्षयकेलिए जो प्रायश्चित बताया है उसे भी कुछ पूछनेकी आवश्यकता तो नहीं है, यह 'दिष्ट्या'से बताया है. आपके चरणोंकी रज ही कल्याणरूप है उसको मैंने शिरोधार्य किया है अथवा उस रजको मेरे सिरने धारण किया है. सब प्रकारके प्रायश्चितोंकी अपेक्षा तो ब्राह्मणके चरणकी रजका स्पर्श ही पवित्र करनेवाला है. इसलिए कहा है ''**पुनन्तु मां ब्राह्मण पादपांसवः**'' ब्राह्मणोंकी चरणकी धूलि मुझे पवित्र करे. ब्राह्मणोंकी चरणकी रजमें यह विशेषता है कि वह केवल पापका ही नाश नहीं करती किन्तु कल्याण भी करती है इसलिए पादरजका विशेषण 'शिवं' पद दिया है. प्रायश्चितसे पापनिवृत्ति तो होती है किन्तु कल्याण उससे नहीं होता है. धूलका सिरसे स्पर्श इसलिए किया जाता है कि सब अंगोमें सिर ही प्रधान है इसलिए शेष अंगोका पाप भी उस स्पर्शसे निवृत्त हो जाता है. यह आपका दर्शन तथा आपकी चरणरजका स्पर्श मात्रसे हो गया इसे बताने केलिए दिष्ट्या पद दिया है ।।६।।

आभास: ब्राह्मण क्षत्रियके ऊपर अनुशासन करता है. जैसे आचार्य शिष्यके ऊपर 'सच बोल' इत्यादि अनुशासन करता है. यह अनुसाशन तो मेरेलिए बिना ही प्रश्नके हो गया:

दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।

अपावृतैः कर्णरन्ध्रैः जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः।।७।।

श्लोकार्थ : मेरे भाग्योदयसे ही आपने मुझे राजधर्मोंकी शिक्षा देकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है और मैंने भी शुभ प्रारब्धका उदय होनेसे ही आपकी पवित्र वाणी कान खोलकर सुनी है।।७।।

व्याख्यार्थ: बिना ही प्रश्नके प्रजाका पालन करना चाहिए इस धर्मका आपने मुझे उपदेश दिया और ''तद्द्वयं निर्व्यलीकेन'' इस वाक्यसे अनुग्रह भी किया. महत् पुरुषोंके मुखसे भगवान्के गुणोंको सुनना चाहिए यह भी मेरेलिए हो गया. इसे 'अपावृतैः कर्णरन्ध्रैः'से सूचित किया है. ''योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रे'' इत्यादि जो भगवान्के सर्वपालक गुण हैं उन्हींकी सुन्दररूपसे प्रतिपादन करनेवाली वाणी है उन्हें अन्य किन्हीं शब्दोंके आवरणसे रहित ऐसे कानोंके छिद्रोंसे अकस्मात् ही भाग्यसे ही सुननेको मिली अर्थात् सेवन करनेको मिली ।।७।।

आभास: इस तरह सज्जनोंके दर्शनसे जो होना चाहिए वह सब हो गया. अब इससे आगे मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूं:

स भवान् दुहितृस्नेह–परिक्लिष्टात्मनो मम।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ।।८।।

श्लोकार्थ: हे मुने ! इस कन्याके स्नेहवश मेरा चित्त बहुत चिन्तित हो रहा है अतः मुझ दीनकी यह प्रार्थना आप कृपापूर्वक सुने।।८।।

व्याख्यार्थ: सामान्यरूपसे यह प्रार्थना है–आप महान् हैं. कन्याका पिता होना महादुःखदायी है ''कन्यापितृत्वं दुःखाय'' इस नीतिसे लडकीके स्नेहसे हर तरहसे जिसकी आत्मा दुःखी है. केवल लडकीके कारणसे ही दुःख नहीं है किन्तु लडकीमें स्नेह है इस कारणसे यह कष्ट है. दीनतामें मेरी अयोग्यता है अतः आप कृपा करके मेरी बात सुनें. 'मुने!' यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि मेरी इस परिस्थितिको आप सब प्रकारसे जान सकते हैं. 'श्रावितं'का अर्थ है आपके पहले नारद आदिके द्वारा कहलवाया था अथवा सुननेकेलिए कहा था ।।८।।

आभास: इस प्रकार हमारे विचार आपको सुनने चाहिए ऐसा कहकर उसके वाक्यको कहा:

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः।।९।।

श्लोकार्थ: यह मेरी कन्या प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहिन है,

अवस्था शील और गुण आदिमें अपने योग्य पतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखती है।।९।।

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वै पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया।।कारि.१।।

जिसके भाई न हो और जिसके पिताका पता नहीं हो ऐसी कन्याके साथ बुद्धिमान विवाह न करे क्योंकि उसकी उसमें पुत्रिकाधर्मकी शंका होती है।।१।।

व्याख्यार्थ: भाईके अभावमें कन्या विवाहके योग्य नहीं होती इसलिए यहां प्रियव्रत और उत्तानपाद इनकी यह बहिन है ऐसा कहा. यहां एक भाईका नाम लेना ही पर्याप्त था, दो भाईयोंका नाम क्यों लिया उसका कारण यह है कि ''एक पुत्र, पुत्रमें नहीं है'' ऐसा वाक्य है ''नैक पुत्रः पुत्रो भवति'' इसका पिता भी प्रसिद्ध है इसको कहनेकेलिए मेरी यह लडकी है ऐसा कहा. यदि इस कन्याकी इच्छा विवाहकी न हो तो उसे कैसे स्वीकार किया जाय इसकेलिए 'अन्विच्छति पतिम्' पद दिया है. यह अपनेलिए पति चाहती है. इसमें कोई दोष नहीं है. इसकेलिए युक्तम् , ऐसा पद दिया है. अब यह वयस्क भी है इसे 'वयः शीलगुणादिभिः' से प्रकट किया है इसकी अवस्था भी कामके योग्य है, शीलधर्मके योग्य है, गुण भी अर्थकेलिए हैं. आदि शब्दसे मोक्षमें उपयोगी होनेवाले ज्ञान आदि भी इसमें हैं।।९।।

आभास: इस तरह चारों प्रकारके पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिए स्त्री वैसा पति चाहती है जो चारों प्रकारके पुरुषार्थको दे सके क्योंकि स्त्रीका सब पुरुषके ही अधीन है. यदि ऐसी आशंका हो कि उस प्रकारका पुरुष इसने मनसे अन्य कोई स्वीकार कर लिया हो तो इसका स्वीकार निषिद्ध हो, किन्तु इसने इस प्रकारके किसी अन्यको स्वीकार नहीं किया है अतः यदि आप इसे स्वीकार न करेंगे तो यह किसी अन्यको अपना पति नहीं बनाएगी:

यदा तु भवतः शील–श्रुतरूपवयोगुणान्।
अशृणोद् नारदाद् एषा त्वय्यासीत् कृतनिश्चया।।१०।।

श्लोकार्थ: जबसे इसने नारदजीके मुखसे आपके शील, विद्या, रूप, आयु और गुणोंका वर्णन सुना है तबसे आपको अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है।।१०।।

व्याख्यार्थ: जब इसने अपने योग्य वरोंके नाम सुने तब आपके शील

आदिको इसने सुना उसी दिनसे इसने आपको ही अपना पति बनाना निश्चित किया था. शीलं(आचार), श्रुतं(विद्या आदिसे उत्पन्न ज्ञान), रूपं(सुन्दरता), वयः(युवावस्था), गुणाः(उदारता) आदि इनको जब इसने नारदजीसे सुना क्योंकि नारदजी देवताओंका कार्य करनेवाले हैं. ये प्रसंग छेडकर बात कहते हैं अतः तबसे इसने यह निश्चय कर लिया है कि ये मेरे पति हैं ।।१०।।

आभास: यद्यपि इसने तो आपको अपना पति बनाना निश्चित कर लिया है परन्तु कन्या पिताके अधीन होती है पिता कन्याको देता है अतः मेरे द्वारा दी जाती हुई इसको आप ग्रहण करें:

तत्प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपाहृतां मया।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधेषु कर्मसु ।।११।।

श्लोकार्थ: हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं श्रद्धासे आपको यह कन्या समर्पण करता हूं, आप इसे स्वीकार कीजिए. यह गृहस्थोचित कार्योंकेलिए सब प्रकारसे आपके योग्य है।।११।।

व्याख्यार्थ: 'द्विजाग्र्य!' यह सम्बोधन इस बातका सूचक है कि ब्राह्मणोंको पिता आदिके द्वारा दी हुई कन्याके साथ ही विवाह करना मुख्य है, गान्धर्व आदि विवाह नहीं करना चाहिए कालान्तरमें विवाह होगा ऐसा नहीं समझना यह 'इमां'से बताया है. और 'इमां'का दूसरा अर्थ यह भी है कि इसको ऐसा संकेत होनेसे मुनि जब उसे देखता है तो रूपके प्रदर्शनसे राजा उन्हें लुभाता है, ''अपनेको अच्छी न लगनेवाली वस्तु हो परन्तु उसे कोई श्रद्धासे देता है तो उसे ग्रहण करना चाहिए'' इसलिए 'श्रद्धयोपाहृताम्' ऐसा पद दिया है. भगवान्ने इस कन्याका निर्माण आपकेलिए ही किया है यह कोई सर्वसाधारण नहीं है यह 'सर्वात्मनानुरूपां'से ज्ञात होता है यह केवल काम-पिपासाकी शान्तिकेलिए ही नहीं है किन्तु गृह कामोंमें भी इसकी बुद्धि है. जिन कामोंसे गृहस्थकी सिद्धि होती है वे सब इसमें हैं।।११।।

आभास: इस तरह कन्याके विषयकी सब बातें बताकर अब वरके विषयकी बातें बताते हैं :

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते ।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः।।१२।।

श्लोकार्थ: जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय उसकी अवहेलना करना

विद्वान् पुरुषकेलिए भी उचित नहीं है, फिर विषयासक्तकी तो बात ही क्या है।।१२।।

बहिर्गतो हि विषयः कामे सत्येव गृह्यते।

उभयोर्योगसिद्धौ हि विश्लेषोऽशक्यएव च।।कारि.१।।

कारिकार्थः 'बाह्य' विषय(भोग) कामना होने पर ही होता है जब काम्य(जिसकी इच्छा की जाती है) और काम इन दोनोंका योग हो जाय तब उनका अलग होना बहुत कठिन है।।१।।

व्याख्यार्थः काम और काम्यका एक पदसे निरूपण इनकी एकताको बतानेकेलिए किया गया है. उद्यत् कार्योन्मुख(अपने सामने आया हुआ)का प्रतिवाद(निषेध) करना बहुत कठिन है. अर्थात् उसको मना कर ही नहीं सकते. अथवा वह मना करना अपनी शक्तिके बाहर है. स्वयं प्राप्त भोगका निषेध कामी कभी कर नहीं सकते. यह शंका हो कि संगके परित्यागसे काम और भोगका त्याग हो सकता है उसकेलिए कहते हैं कि जो मुक्तसंग हैं वे भी इसे नहीं छोड सकते यह 'अपि निर्मुक्तसंगस्य' इससे स्पष्ट है. तो जो कामासक्त हैं वो उसे छोड दें यह तो कदापि नहीं हो सकता ।।१२।।

आभासः स्वतः प्राप्त भोगोंको अंगीकार न करनेमें बाधक बताते हैं :

य उद्यतम् अनादृत्य कीनाशम् अभियाचते।

क्षीयते तद् यशः स्फीतं मानश्चाऽवज्ञया हतः।।१३।।

श्लोकार्थः जो पुरुष स्वयं प्राप्त हुए भोगका आदर नहीं करता है और किसी कृपणके आगे हाथ फैलाता है उसका बहुत फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है और दूसरोंके तिरस्कारसे मान भंग भी होता है।।१३।।

व्याख्यार्थः स्वतः प्राप्तको स्वीकार न करके अप्राप्तको चाहता है उसका फैला हुआ यश नष्ट हो जाता है. सम्मान भी तिरस्कारके द्वारा नष्ट हो जाता है. 'य उद्यतमनादृत्य' इस श्लोकमें 'अनुद्यतं योऽभियाचते' ऐसा कहना उचित था वैसा न कहकर 'कीनाश', कृपणको कहते हैं. उस कृपणसे चाहे वह कैसा भी महान् क्यों न हो(उस कृपणसे) वह किसी वस्तुको प्राप्त नहीं कर सकता इस बातको सूचित करनेकेलिए ही 'कीनाशमभियाचते' ऐसा दिया है. कृपणके पासकी वस्तुको कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता है. कृपण भोग सामग्री अन्यको न देकर भी अपने उत्कर्ष(बडाई)केलिए अपनी कीर्तिको फैलता है. अतः

मांगनेवालेका यश नष्ट हो जाता है. मांगनेवालेका यश इसलिए नष्ट हो जाता है कि कृपण पुरुष उस मांगनेवालेकी सर्वत्र अपकीर्ति करता है. इस तरह बाह्य अपवाद कहकर अन्तर उपचारको भी कहते हैं. 'मानश्चाऽवज्ञयाहतः' अवज्ञा (तिरस्कार) उससे सम्मान भी नष्ट हो जाता है, सम्मान ही महापुरुषोंका धन है ''मानो हि महतां धनम्'' जब ग्लानि होती है तो मान नष्ट होता है और मानका नाश असह्य होता है. 'हतः' यह पद इस बातको सूचित करता है कि मान जब नष्ट हो जाता है तो फिर उस पुरुषमें मानका उदय कभी नहीं होता।।१३।।

आभास: इस तरह काम्यके निषेध करनेमें बाधकको कहकर उसमें कामनाको सिद्ध करते हैं:

अहं त्वाऽशृणवं विद्वन्! विवाहार्थं समुद्यतम्।
अतस्त्वम् उपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे।।१४।।

श्लोकार्थ: हे विद्वन् ! मैंने सुना है, आप विवाह करनेकेलिए उद्यत हैं. आपका ब्रह्मचर्य एक सीमा तक है, आप नैतिक ब्रह्मचारी तो है नहीं. अतः अब आप इस कन्याको स्वीकार कीजिए, मैं इसे आपको अर्पण करता हूं।।१४।।

व्याख्यार्थ: आप विवाह करनेकेलिए तैयार हैं ऐसा मैंने(स्वयंने) सुना है, आप विद्वान् हैं अतः अयुक्त नहीं कह सकते हैं. विवाह करके ही आपको कामकी पूर्ति करनी चाहिए. जो विवाहकी इच्छा रखता है वह ब्रह्मचारी उपकुर्वाण कहा जाता है. जो किसी अवधि तक ब्रह्मचारी होता है वह ही पिता आदिका उपकार करता है इसलिए सावधि ब्रह्मचारी 'उपकुर्वाणः' कहलाता है. अतः आप मेरेसे दी जानेवाली इस कन्याको भार्याके रूपमें ग्रहण करें. यहां 'मे' यह तृतियाके अर्थमें षष्ठी है।।१४।।

आभास: भगवान्के गुण ही यहां अंगीकारमें कारण हैं. इसलिए छः श्लोकोंके द्वारा अंगीकारको कहते है:

कर्दम उवाच

बाढम् उद्वोढुकामोऽहम् अप्रत्ता च तवात्मजा।
आवयोरनुरूपोऽसौ आद्यो वैवाहिको विधिः।।१५।।

श्लोकार्थ: श्रीकर्दमजीने कहा–ठीक है मैं विवाह करना चाहता हूं और आपकी कन्याका अभी किसीके साथ वाग्दान नहीं हुआ है. इसलिए हम दोनोंका सर्व–श्रेष्ठ ब्राह्मविधिसे विवाह होना ही उचित होगा।।१५।।

इयं हि भगवद्दासी 'भग'शब्दनिरूपिता।

ऐश्वर्यादिप्रसिद्ध्यर्थम् अस्या वर्णनम् उच्यते।।का.१।।

कारिकार्थ: यह कन्या भगवान्की दासी है इसलिए इसका भग (ऐश्वर्यादि) शब्दोंसे निरूपण किया है. ऐश्वर्य आदिको प्रसिद्धिकेलिए ही इसका वर्णन किया जाता है।।१।।

अनङ्गीकरणे त्वस्या: स्वत: कामेन बाधनात्।

तुल्यत्वं चाभिलषितम् अत आद्यो निरूपित: ।।का.२।।

कारिकार्थ: यदि इस कन्याको अंगीकार नहीं किया तो फिर स्वतः कामके द्वारा बाधा होगी. दोनोंकी अभिलाषा(इच्छा) भी समान है अतः आद्य (ब्राह्म विवाह) का निरूपण किया है।।२।।

धर्मो वीर्यं द्वितीयेन विध्यादरणवर्णनात्।

यशो हि वर्ण्यते तस्या विश्वावसुनिरूपणात्।।का.३।।

कारिकार्थ: द्वितीय श्लोकमें विधिमें आदरका वर्णन किया है इसलिए वीर्य धर्मरूप है. विश्वावसुके निरूपणसे उसके यशका वर्णन किया है।।३।।

कान्त्याधिक्यस्य कथनाद् लक्ष्म्याश्चैव निराकृते:।

सोमसम्बन्ध एवोक्तो गन्धर्वस्तु तत: स्फुट:।।का.४।।

कारिकार्थ: यह कान्तिमें अधिक है ऐसा वर्णन किया है अतः यह लक्ष्मीसे भिन्न है. इसमें केवल सोमका ही सम्बन्ध कहा है इसीसे गान्धर्व सम्बन्ध भी आ जाता है।।४।।

लक्ष्मीवद् वर्णनं तस्या: श्रियम् इच्छेद् धुताशनात्।

इति वाक्याच्च तस्यापि सम्बन्धो विनिरूपित:।।का.५।।

कारिकार्थ: लक्ष्मीकी तरह कन्याका वर्णन इसलिए किया है कि लक्ष्मीको अग्निसे प्राप्त किया जाता है. 'श्रियमिछेद्धुताशनात्' इस वाक्यसे इस कन्याको भी अग्निके सम्बन्धसे प्राप्तकी जाएगी।।५।।

ज्ञानवैराग्ययोर्वाक्ये स्पष्टएव निरूपिते।

अतोऽस्या वर्णनं तत्र न निषिद्धम् इति स्थिति:।।का.६।।

कारिकार्थ: ज्ञान और वैराग्यके वाक्योंका निरूपण तो स्पष्ट ही है. इसलिए इसका निरूपण वहां निषिद्ध नहीं है अतः ऐसे ऐश्वर्य भगवान्के छः गुण हैं वे इसमें भी हैं अतः इन लक्षणोंसे यह भगवद्दासी है।।६।।

दत्तायास्तु विवाहोऽत्र लौकिकः परिकीर्तितः।
अप्रत्तायाविवाहो हि ब्राह्म एव निरूपितः।।का.१।।

कारिकार्थः यदि किसीको देनेकेलिए वाग्दान कर दिया हो और पश्चात् उसका अन्यसे विवाह किया जाय तो वह लौकिक विवाह कहा जाता है. जिसका वाग्दान नहीं हुआ हो उसका विवाह ब्राह्मविवाह कहलाता है।।१।।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते सति।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिर् अन्यो विधीयते।।का.२।।

(विष्णुधर्मोत्त.पुरा.२।८७।१०)

कारिकार्थः जब वाग्दान जिसको दिया है वह वर कहीं चला जाय जिसका पता न चले या मर जाय, संन्यासी हो जाय, नपुंसक निकल जाय, पतित हो जाय इन पांच आपत्तियोंमें अन्य पतिका विधान है।।२।।

व्याख्यार्थः 'बाढं वृणीध्वम्' इस वचनसे बाढम् ऐसा वचन विवाहमें प्रसिद्ध है. 'बाढम्' यह अव्यय है. जिसका अर्थ है जिस तरह सुख हो उस तरह अथवा अवश्यमेव. मैं तो विवाह करना ही चाहता हूं और आपकी कन्या किसीको दी नहीं है. कर्दमजीका 'उद्वोढुकामः' यह वचन इस बातको सूचित करता है कि मेरा भी पहले विवाह नहीं हुआ है इसलिए हम दोनोंकी यह आद्य (ब्राह्म) विवाहिक विधि है. विवाह सम्बन्धी अपूर्वजनक प्रकार है. आपत्तिमें अन्य ब्राह्मके अतिरिक्त विवाह भी किया जाता है. जैसा कहा है यदि कोई श्रेष्ठ वर आ जाय तो पहले जिसको वाग्दान दिया है उसे कन्या न देकर उस श्रेष्ठ वरको कन्या दो.

आपत्तिमें विवाह और सन्ततिकेलिए प्रजापत्यका निरूपण किया है. उसका यहां निषेध है विधिका अर्थ है ही।।१५।।

आभासः यह वैवाहिक विधि केवल अदृष्टजनक है शोभाकार नहीं होती है ऐसा नहीं है किन्तु शोभा भी यथासुख हो इसे कहते हैं :

कामः स भूयाद् नरदेव तेऽस्याः पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः।
क एव ते तनयां नाद्रियेत स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम्।।१६।।

श्लोकार्थः हे राजन्! वह आपकी वैवाहिक विधि आपकी इच्छानुसार हो किन्तु जिस तरह पूर्वके सब लोगोंने की है उस तरहसे हो, अथवा वैदिकविधिसे हो. आपकी इस कन्याका आदर कौन नहीं करेगा जो कन्या अपने

अंगकी कान्तिसे लक्ष्मीसे भी बढकर है।।१६।।

व्याख्यार्थ: वह वैवाहिक विधि आपकी चाही हुई रीतिसे हो. नरदेव! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि राजाओंका विवाह ब्राह्मणोंकी तरह सादगीसे नहीं होता है परन्तु इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि वह विवाह सब तरहसे लौकिक ही न हो किन्तु जिस तरह पूर्वके लोगोंने किया है उस तरहकी विधिसे हो. कुछ व्याख्याकार समाम्नायका अर्थ वेद करते हैं अर्थात् विवाह वैदिक विधिसे हो. शंका होगी कि राजा जब कन्याका विवाह राजसी ठाटसे करेगा तो कन्याका महत्व बढ जायगा जिससे आपको मात्सर्य होगा और आप कन्याको स्वीकार नहीं करेंगे तो इसका उत्तर देते हैं कि आपकी कन्याका आदर कौन नहीं करेगा. जिसने अपनी असाधारण कान्तिसे लक्ष्मीको भी मात कर दिया है. शंका हो सकती है कि लक्ष्मीको इस कन्यासे न्यून बताना दोषजनक होगा उसकेलिए कहते हैं कि यह कन्या भी भगवान्की शक्ति है इसलिए ऐसा कहना दोषजनक नहीं है. लक्ष्मीसे बढकर यह है ऐसे कथनसे इस कन्यामें भक्तिरूपता भी सूचित होती है ।।१६।।

आभास: कन्याकी कीर्तिको कहते हैं:

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम्।
विश्वावसुर्न्यपतत् स्वाद् विमानाद् विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः।।१७।।

श्लोकार्थ: एक समय यह अपने महलकी छत पर गेंद खेल रही थी. गेंदके पीछे इधर-उधर दौडनेके कारण इसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे तथा पैरोंके पायजेब मधुर झनकार कर रहे थे. उस समय इसे देखकर विश्वावसु गन्धर्व मोह वश अचेत होकर अपने विमानसे गिर पडा था।।१७।।

व्याख्यार्थ: विश्वावसु गन्धर्व जिस देवहूतिको जो अपने महलकी छत पर खेल रही थी उस समय उसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे उसे देखकर अप्सराओंके सन्निधिमें भी इस(देवहूति)की शोभासे उसका मन इसकी ओर आकृष्ट हो गया उपर जाता हुआ वह विमानमें इस कन्याके सामने गिर पडा. ऐसा नारदजी आदिके कहनेसे मैंने जाना महलकी छतसे इसका व्यवधान था. 'क्वणदङ्घ्रिशोभां' पदसे उद्दीपन आदिका निरूपण हुआ. 'कन्दुकविह्वलाक्षीं'से चञ्चलता और मुग्ध-भावका निरूपण किया गया. 'संमोहविमूढचेताः'का अर्थ है अतिमोहके कारण बेभान है चित्त जिसका. गन्धर्व होनेसे कोई दोष नहीं है क्योंकि गन्धर्वोमें

कामवासना अधिक होती है ।।१७।।

आभास: देवहूतिमें श्रीत्वका वर्णन करते हैं :

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललामाम् असेवितश्रीचरणैरदृष्टाम्।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं को नाऽभिमन्येत बुधोऽभियाताम्।।१८।।

श्लोकार्थ: वही इस समय यहां स्वयं आकर प्रार्थना कर रही है ऐसी अवस्थामें कौन समझदार पुरुष इसे स्वीकार नहीं करेगा. यह तो साक्षात् आप महाराज स्वायम्भुव मनुकी पुत्री है और उत्तानपादकी प्यारी बहिन है तथा यह रमणियोंमें रत्नके समान है. जिन लोगोंने कभी भगवान्के चरणोंकी उपासना नहीं की है उन्हें तो इसका दर्शन भी नहीं हो सकता।।१८।।

व्याख्यार्थ: सर्व प्रथम तो यह यहां आकर प्रार्थना कर रही है. समझदार होते हुए कौन इसे स्वीकार नहीं करेगा. जो प्रार्थना करती हो उसे सर्वथा ग्रहण करना ही चाहिए चाहे वह कोई भी हो. उसमें भी ''स्त्रीरत्नको दुष्कुलसे भी ग्रहण करना चाहिए'' इस नीतिके अनुसार भी स्त्रियोंमें रत्नरूप होनेसे यह ग्राह्य है यह 'ललनाललामां'से स्पष्ट है. ललनाका अर्थ है स्त्री उनमें यह ललाम(श्रेष्ठ) है. भगवत्प्रसादरूप होनेसे भी सर्वथा ग्राह्य है यह 'असेवित श्रीचरणैरदृष्टां'से स्पष्ट है. जिन्होंने श्रीसे युक्त जो भगवान्के चरण हैं उनकी सेवा नहीं की उनकेलिए तो इसका दर्शन ही दुर्लभ है. अर्थात् वे तो इसे देख भी नहीं सकते इसलिए यह भगवत्प्रसादरूपा है. मनु धर्मरूप हैं वे जब फलका दोहन करते हैं उस समय यह कन्या उनकी वत्सा(बछिया) प्यारी कन्या है. 'उच्चपदः स्वसारं'का तात्पर्य है कि इसके उत्तानपाद भाई हैं और यह प्रसिद्ध कन्या है. इसलिए सब शास्त्रार्थ जाननेवाला कौन इसका सम्मान नहीं करेगा. ऐसी स्त्री ब्रह्मविद्यासे भी अधिक है. जो सामने आई हुई है ऐसीके परित्यागमें श्रुतिने दोष बताया है।।१८।।

आभास: परन्तु एक दोष है उसको यह स्वीकार करे तो इसे स्वीकार करूंगा:

अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं यावत्तेजो बिभृयाद् आत्मनो मे।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान् शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान्।।१९।।

श्लोकार्थ: मैं आपकी इस साध्वी कन्याको अवश्य स्वीकार करूंगा किन्तु इसकेलिए एक शर्त है. जब तक इसके सन्तान न हो जाएगी तब तक मैं गृहस्थ धर्मानुसार इसके साथ रहूंगा तदनन्तर भगवान्के बताए हुए सन्यासप्रधान

हिंसारहित शम–दम आदि धर्मोंको ही मैं अधिक महत्त्व दूंगा।।१९।।

व्याख्यार्थ: यह सर्वोत्कृष्ट है इसलिए इसे स्वीकार करूंगा. परन्तु समयके नियमसे ही शंका होती है कि पहले ही ऐसा आग्रह(शर्त) क्यों करते हो जब वैराग्य हो जाय तब परित्याग कर देना. उसका उत्तर देते हैं यह साध्वी(पतिव्रता) है. पतिव्रताका लक्षण शास्त्रोंमें यह बताया है कि ''जो स्त्री पतिके मरने पर मर जाय वह स्त्री पतिव्रता जाननी चाहिए''. अतः मरणपर्यन्त उसकी धर्म रक्षाकेलिए ग्रहण करने योग्य होती है. अन्यथा शरणागतका धर्म नष्ट हो जाता है. अतः पहले यह शर्त रख दी जाय तो वह विवाहके समय ऐसा व्रत ग्रहण न करें. उस शर्तको बताते हैं 'यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे' मेरा तेज बीजात्मक है क्योंकि उसमें ब्रह्मत्व है. उसे जब यह धारण कर लेगी तब मैं सन्यासग्रहण कर लूंगा. उतना होने पर ही वह कृतार्थ हो जायेगी यह 'आत्मनः' पदसे स्पष्ट है. मैं उसका आत्मा हूं. आत्मा तेजको जब वह धारण कर लेगी तभी उसका पातिव्रत्य सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि पति अपनेमें ही स्थित है. मेरे तेजको धारण करनेके अनन्तर मैं पारमहंस्य धर्मोंका ही सेवन करूंगा उन परमहंसके भी जो मुख्य धर्म हैं उसका सेवन करूंगा. 'शुक्लप्रोक्तान्'से प्रमाण कहते हैं शुक्ल नारायणके द्वारा कहे गये जो धर्म हैं उन्हें ही मैं अधिक महत्व दूंगा. वे धर्म प्रमेयसे भी उत्कृष्ट हैं क्योंकि हिंसारहित हैं अतः 'अविहिंस्रान्' यह कहा. गार्हस्थ्यमें जो यज्ञ हैं वे हिंसा रहित नहीं हैं इसलिए पारमहंस्य धर्मोंको महत्व दिया है ।।१९।।

आभास: शंका होती है कि ''जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करें'' ऐसी श्रुति है और ''ब्रह्मचर्यके अनन्तर ही सन्यासी हो जाय'' ऐसी स्मृति है तो गृहस्थाश्रमके अनन्तर सन्यास नहीं होना चाहिए इस पर कहते हैं :

यतोऽभवद् विश्वम् इदं विचित्रं संस्थाप्यते यत्र च वाऽवतिष्ठते।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं परं प्रमाणं भगवान् अनन्तः।।२०।।

श्लोकार्थ: जिनसे इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति हुई है. जिनमें यह लीन हो जाता है और जिनके आश्रयसे यह स्थित है. मुझे तो वे प्रजापतियोंके भी पति भगवान् अनन्त ही सबसे अधिक मान्य हैं।।२०।।

सर्वथादरणीयो यः स प्रमाणम् इहोच्यते
तत्सम्बन्धात् कृतिस्तस्य प्रमाणं वाक्यमेव च।।का.१।।

कारिकार्थ: इस विषयमें ये भगवान् ही प्रमाण हैं. ''जो सब प्रकारसे

आदरका पात्र होता है'' वह यहां प्रमाण कहा जाता है और जिसे हम प्रमाण मानते हैं ''उसकी कृति और उसका वचन प्रमाण माना जाता है''।।१।।

व्याख्यार्थ: वेद प्रमाण इसलिए है कि वे भगवान्के वाक्य हैं. वह भगवान् अनन्तमूर्ति हैं; वह देश आदिसे परिच्छिन्न(सीमित) नहीं हैं. उस भगवान्ने जिसका जैसा अधिकार था उसके अनुसार बहुत प्रकारसे शास्त्रका अर्थ कहा है. भक्तोंकेलिए भी अलग-अलग कहा. अतः मुझे जो विशेषरूपसे कहा है वह ही मेरेलिए प्रमाण है. अर्थात् विशेषरूपसे बलवान्(मान्य) है. वेद यद्यपि स्वतन्त्र हैं तथापि भगवान् उन वेदोंसे भी महान् हैं. इसे कहनेकेलिए भगवान्को जगत्का कर्त्ता बताते हैं. जिस भगवान्से यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ और इस जगत्को विचित्र इसलिए कहा है कि इसको बनानेवाला वह(भगवान्) कर्त्ता अलौकिक है. 'यतः' यह पद इस बातको बताता है कि कार्यके होने पर कारणमें विकार होता है किन्तु यहां तो इस विचित्र जगत्की उत्पत्तिके अनन्तर भी उस भगवान्में कोई विकार नहीं हुआ. चिन्तामणि आदिसे उत्पन्न होनेवाले घट आदिके समवाय आदि कोई अन्य कारण दिखाई नहीं देते हैं. उसी तरह यहां जितने भी अपेक्षित कारण हैं वे सब कारण भगवान् ही हैं और कोई नहीं है इसलिए यहां 'यतः' इस अव्ययका निर्देश किया है. जिस भगवान्में यह लीन होता है और जिस भगवान्में यह स्थित रहता है. यहां उत्पत्ति आदि तीनोंका निर्देश इसलिए किया है कि केवल उत्पत्ति या केवल लय आदि एक-एक कारणता तो गुणोंमें तथा गुणाभिमानियोंमें(ब्रह्मा-विष्णु-शिवादि) भी सम्भावित होते हैं परन्तु ये तीनों तो भगवान्के अतिरिक्त कहीं नहीं होते इसलिए यहां तीनोंका कथन किया है. वह भगवान् प्रजापतियोंके भी पति हैं अर्थात् नियामक हैं. वे इस समय भी पासमें भासित हो रहे हैं यह 'एषः' इससे ज्ञात होता है. अतः इनका उल्लंघन भी नहीं हो सकता है. इसलिए वेदादिकी अपेक्षा भी यह परम प्रमाण है. भगवान् शब्दसे यहां अविकृत ब्रह्मका ग्रहण है. भगवान्के प्रामाण्यमें अनन्त होना ही कारण है, यहां आदरका पात्र अन्य नहीं हो सकता है।।२०।।

आभास: इतना कहकर, यदि अंगीकार करेंगे तो विवाह करा लूंगा ऐसा निश्चय करके वह चुप हो गया:

मैत्रेयः उवाच

स उग्रधन्वन्! नियदेवाबभाषे आसीच्च तूष्णीम् अरविन्दनाभम्।

धियोपगुह्य स्मितशोभितेन मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः।।२१।।

श्लोकार्थ: श्रीमैत्रेयजी कहते हैं– हे प्रचुर धर्नुधर विदुर ! कर्दमजी इतना ही कह सके फिर वे हृदयमें भगवान् कमलनाभका ध्यान करते हुए मौन हो गए. उस समय उनके मन्द हास्ययुक्त मुखकमलको देखकर देवहूतिका चित्त लुभा गया।।२१।।

व्याख्यार्थ: 'उग्रधन्वन्!' यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि उनको किसी प्रकारका क्षोभ नहीं है तथा होनेवाली स्त्री क्षोभजनक हो सकती है इसकेलिए भी यह सम्बोधन है इतना ही उनने कहा. अर्थात् इसकेलिए कोई साधक युक्ति या पक्षान्तर या और कुछ कहें ऐसा उनके मनमें नहीं था इसलिए वे चुप हो गये. पाक्षिक दोषके विद्यमान रहनेसे उसके परिहारकेलिए उन्होंने अपने हृदयमें कमलनाभ भगवान्का आलिंगन किया. भगवान्का 'अरविन्दनाभं' यह नाम इस बातका सूचक है कि कमलनाभ भगवान् सृष्टिके करनेवाले हैं तो वे अलग जगत्का निर्माण कर सकते हैं तो इतना सा कार्य उनकेलिए क्या कठिन है. ज्यों ही ऋषि अपने–अपने हृदयसे अरविन्दनाभ भगवान्का ध्यान किया उतनेसे ही भगवान्ने कोई उपाय कर दिया वह कार्य क्या था ऋषिकी मुस्कान, उस मुस्कानसे ही देवहूतिका चित्त ऋषिमें आसक्त हो गया(मुग्ध हो गया)।।२१।।

आभास: जो मायासे मोहित होता है या वस्तुका लोभी होता है वह उससे होनेवाले गुण दोषोंको नहीं देखता है. अतः मनुका मन संदिग्ध था. परन्तु जब मनुने पत्नीके हृदयकी बात जान ली कि मेरी लडकीका पति अच्छा है और लडकीके चित्तको जानकर निःसंदिग्ध हो गया और उन ऋषिको अपनी कन्या दे दी:

सोऽनुज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुःस्फुटम्।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः।।२२।।

श्लोकार्थ: मनुने अपनी पत्नी तथा पुत्रीका स्पष्ट निश्चय जानकर अत्यन्त गुणी महर्षिको उन्हींके समान गुणवाली कन्याका प्रसन्नता पूर्वक दान कर दिया।।२२।।

व्याख्यार्थ: व्यवसाय कहते हैं निश्चयको वह निश्चय कहने आदिसे स्पष्ट हो गया. अतएव उन(ऋषि)केलिए कन्या दे दी. ऋषि गुण समुदायसे युक्त थे इसलिए मनुने भी कन्यादानके विषयमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं की.

'तुल्यां' पद इसलिए दिया है कि जिसको वे बाधक समझते थे वह यहां साधक हो गया. अर्थात् जिस तरह ऋषि मुक्त हैं उसी तरह यह कन्या भी मुक्त हो जायगी. अन्यथा भगवान् उस कन्याको उन ऋषिके तुल्य उत्पन्न नहीं करते. उनको मेरी कन्या भी मुक्त हो जायेगी ऐसा ज्ञात हुआ इसलिए वे बहुत प्रसन्न हुए।।२२।।

आभास: मनुने तो संकल्प करके कन्या दे दी उत्सव तो शतरूपाने किया:

शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान् महाधनान्।
दम्पत्योः पर्यदात् प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान्।।२३।।

श्लोकार्थ: महारानी शतरूपाने अपनी पुत्री तथा दामादको खूब प्रेमपूर्वक बहुतसे बहूमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोचित पात्र आदि दहेजमें दिए।।२३।।

व्याख्यार्थ: महारानी पद शतरूपामें सामर्थ्य थी इसे बतानेकेलिए दिया है. विवाहके समय जो वस्तुएं दी जाती हैं उन्हें 'परिबर्ह' कहा जाता है. 'महाधनान्' बहुमूल्य वस्तुएं केवल पुत्रीको ही नहीं दी थीं किन्तु पुत्री और दामादको दीं. ये वस्तुएं केवल संकल्पसे या दयासे नहीं दीं किन्तु प्रेमसे दीं. 'भूषा' शब्दसे कुण्डल आदि अलंकार लिए जाते हैं. वासांसि यह बहुवचन इस बातको सूचित करता है कि वस्त्र भी अनेक प्रकारके दिये. 'परिच्छदान्'का अर्थ है. उपकरण(गृहस्थोचित पात्र आदि)।।२३।।

आभास: कन्यादान करके मनु जब घर लौटने लगे उस समयका कार्य कहते हैं :

प्रत्तां दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः।
उपगुह्य च बाहुभ्याम् औत्कण्ठ्योन्मथिताशयः।।२४।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार सुयोग्यवरको अपनी कन्या देकर महाराज मनु निश्चिन्त हो गए. चलते समय उसका वियोग न सह सकनेके कारण उन्होंने उत्कण्ठावश विह्वलचित्त होकर उसे अपनी दोनों भुजाओंसे हृदयसे लगा लिया।।२४।।

व्याख्यार्थ: यदि कन्या किसी अयोग्य वरको दे दी जाय तो वह कन्या दुःख देनेवाली हो जाती है परन्तु यहां ऐसा न होनेसे मनु निश्चिन्त हो गये. उसे 'सदृक्षाय गतव्यथः' से सूचित किया है. सिद्ध होनेसे दत्वा ऐसा ही कहना चाहिए सो उसका अनुवाद(निन्दा) न करके आलिंगनमें ईप्सित(इच्छित) होनेसे 'प्रत्ताम्'

ऐसी द्वितीयाका प्रयोग किया. शीघ्र चले जानेका कारण यह था कि वे सम्राट् थे. सम्राट्को अनेक कार्य रहते हैं चकारसे उस समय जो योग्य वचन उनने कहे उनका भी सूचन कर दिया. 'उपगूह्य'की जगह 'उपगृह्य' ऐसा भी पाठ है. उसका अर्थ हृदयसे लगाना न होकर पासमें उसको ग्रहण किया ऐसा होगा. दोनों ही पाठोंमें उसके सिरके उपर हाथ फेरना तो होता ही है. 'बाहुभ्याम्' इस द्विवचनसे पुत्रीके प्रति राजाका अतिस्नेह जाना जाता है. प्रेमसे विह्वल हो गये इसे 'औत्कण्ठ्य' पदसे बताया है. उन्मथित अर्थात् अत्यन्त क्षुभित है आशय जिसका, ऐसा अर्थ होता है ।।२४।।

आभास: उसका जाना भी कठिन हो गया इसे कहते हैं:

अशक्नुवंस्तद् विरहं मुञ्चन् बाष्पकलां मुहुः।
आसिञ्चन्नम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाम्।।२५।।
आमन्त्र्य तं मुनिवरम् अनुज्ञातः सहानुगः।
प्रतस्थे रथम् आरुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः।।२६।।

श्लोकार्थ: विरहको सहन करनेमें असमर्थ होते हुए बेटी ! बेटी ! ऐसा कहकर रोने लगे आंखोंसे आंसू बहने लगे उन आंसुओंसे उन्हींने देवहूतिके सिरके बालोंके जूडेको भिगो दिया फिर वे मुनिवर कर्दमजीसे पूछकर उनकी आज्ञा ले रानीके सहित रथ पर बैठे और सेवकोंके सहित अपने नगरकी ओर प्रस्थान किया ।।२५-२६।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि मूलमें 'सोढुं' पद नहीं दिया है परन्तु अर्थमें वह आ जाता है अर्थात् उस(कन्या)के विरहको सहन करनेमें असमर्थ हुए. जब विरह अपनेमें सम्बद्ध हो जाता है तो वह शक्य अथवा अशक्य हो जाता है इसलिए तो मनुजीके आंसू बहने लगे. भीतर जब ताप(दुःख) होता है तो मुखसे भाप निकलती है, भापके अन्दर जो एक प्रकारकी शोभा थी उसीको यहां बाष्पकलासे कहा है. 'मुहुः' इस शब्दसे प्रतिस्मरण(बारंबार याद) तथा विरहकी अधिकता प्रकाशित होती है. नेत्रोंसे आंसू अत्यधिक निकले जिससे सिरके बाल भीग गये उसकेलिए 'आसिञ्चन्' पद दिया है. देवहूतिके रोनेमें 'हे अम्ब!' यह सम्बोधन था और राजाके रोनेमें 'हे वत्स!' ऐसा सम्बोधन था. वे देवहूतिसे इतना भी न कह सके कि तू मत रो केवल आंसूओंसे बच्चीके सिरके बालोंको भिगो दिया. मुनिवर कर्दमजीसे पूछकर और उन्हींकी आज्ञा लेकर अपने सेवकोंके साथ अपनी पत्नी

सहित रथमें बैठकर अपने नगरकी ओर प्रस्थान किया इस तरह यहां तीन श्लोकोंका सम्बन्ध है. कन्याका विशेषरूपसे समर्पण इसलिए नहीं किया था कि कर्दमजी मुनिश्रेष्ठ थे इससे अधिक कुछ न कहना पडा. 'नृप!' ऐसा सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो मनुष्योंकी रक्षा करे वह नृप कहा जाता है यदि राजा यहां अधिक समय तक ठहर जाय तो रक्षाका कार्य कौन करे इसलिए राजाका जाना आवश्यक था ।।२५-२६।।

आभास: लडकी(देवहूति)का सहवास भी नहीं था इस शंकाका निवारण करते हैं :

उभयोर्ऋषिकुल्याया: सरस्वत्या: सुरोधसो:।
ऋषीणाम् उपशान्तानां पश्यन् आश्रमसम्पद:।।२७।।

श्लोकार्थ: ऋषिकुलसे सेवित सरस्वती नदीके दोनों किनारोंपर मुनियोंके आश्रमोंकी शोभा देखते हुए अपनी राजधानीको चले गए।।२७।।

व्याख्यार्थ: ऋषिकुलके योग्य सरस्वतीके दोनों तटों पर बैठे हुए शान्त मुनियोंके आश्रमकी शोभाको मार्गमें देखते हुए अपने(नगरको गये) ऐसा पूर्व श्लोकसे सम्बन्ध है. आमने-सामने तट पर आश्रम इसलिए स्थित थे कि वे(मुनि) आपसमें एकदूसरेको देख सकें. सरस्वती ऋषिकुलके योग्य थी इसलिए प्रार्थना करने पर भी जामाता(दामाद)का अपने(मनुजीके) पास जाना सम्भव नहीं था. 'सरस्वत्या:' यह पद इस बातको सूचित करता है कि सृष्टिकेलिए ही सरस्वतीका उपयोग होता है. 'सुरोधसो:'का अर्थ है उत्तम. दोनों तटों पर इससे तटोंकी अच्छी व्यवहार्यता बताई है. उन ऋषियोंमें परस्पर कभी कलह नहीं होता था यह 'उपशान्तानां'से स्पष्ट है. जो शान्त होते हैं उनमें कलह होगा ही कैसे. 'आश्रमसंपद:'से आश्रमकी समृद्धिका निरूपण किया है ।।२७।।

आभास: इस तरह आश्रमसे जानेको बताकर मनुका अपने नगरमें प्रवेशके समय जो प्रजाका उत्साह था उसे बताते हैं :

तमायान्तम् अभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात् प्रजापतिम्।
गीतसंस्तुतिवादित्रै: प्रत्युदीयु: प्रहर्षिता: ।।२८।।

श्लोकार्थ: ब्रह्मावर्तकी प्रजाको यह समाचार मिला कि उसके स्वामी आ रहे हैं तो अत्यन्त आनन्दित होकर स्तुति, गीत एवं बाजे-गाजेके साथ अगवानी करनेकेलिए(प्रजा) ब्रह्मावर्तकी राजधानीसे बाहर आई।।२८।।

व्याख्यार्थ: सरस्वतीका साराका सारा तट ब्रह्मावर्त कहा जाता है. 'ब्रह्मावर्त्तान्' ऐसा पाठ हो तो अर्थमें सुगमता होती है. प्रजापति मनु तथा 'प्रजाः पतिम्' ऐसा भी पाठ है. जब प्रजापति ऐसा पाठ है वहां प्रजापतिसे मनुका ग्रहण है और 'प्रजाः पतिं' ऐसे पाठमें प्रजाने अपने स्वामीको ऐसा अर्थ होता है. प्रसन्न होकर गीत आदि गाती हुई अगवानीकेलिए आयी ।।२८।।

आभास: बिन्दुसरको छोडकर दूसरी जगह मनु कैसे गए ? क्यों न वहीं पर उन्होंने राजधानी बनायी ऐसी आशंका करके कहते हैं कि मनु जहां रहते हैं वह नगरी बिन्दुसरके समान है ऐसा कहनेकेलिए उस नगरीका वर्णन करते हैं :

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता।
न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याऽङ्गं विधुन्वतः।।२९।।

श्लोकार्थ: सब प्रकारकी संपदाओंसे युक्त बर्हिष्मती नगरी मनुजीकी राजधानी थी. जहां पृथ्वीको रसातलसे ले आनेके अनन्तर वराह भगवान्ने अंगोको कंपाया उस समय उनके शरीरसे रोम झडकर वहां गिर गए।।२९।।

व्याख्यार्थ: जैसा यह बिन्दुसर है वैसी ही वह बर्हिष्मती नगरी थी. यदि बर्हिष्मती और बिन्दुसरमें कोई अन्तर नहीं था तो फिर बिन्दुसरमें ही क्यों न रह गये इसकेलिए पुरी शब्द दिया है. राजा लोग पुरीमें ही रहा करते हैं किसी स्थान मात्रमें नहीं रहते और यह नगरी सब प्रकारकी संपत्तिसे युक्त थी. प्राणियोंके चार पुरुषार्थ होते हैं, उन चारमें अनेक प्रकार होते हैं. सब प्रकारकी सब संपत्ति जिसमें हो उसे 'सर्वसम्पत्समन्विता' कहते हैं. राजा सबका उपकार करता है अतः उसे ऐसी नगरीमें रहना ही उचित है. बर्हि(कुश) जिसमें हो उसे बर्हिष्मती कहते हैं, उस जगह यज्ञवाराहने अपने शरीरका धूनन किया था जिससे उनके रोम वहां गिरे थे वे ही रोम वहां बर्हिके रूपमें उत्पन्न हुए थे. बर्हि वैदिक है और वे यज्ञवाराहके अवयवसे उत्पन्न हुए थे. मन्त्र आदिके द्वारा कुश, काश आदिमें यज्ञावयवत्वका आरोपण किया जाता है(माना जाता है) जैसे पितरोंका आरोप ब्राह्मणोंमें करते हैं. बर्हि(कुश) देवताओंके आसन हैं अतः जहां वे कुश होंगे वहीं पर देवता होंगे. जहां देवता स्वाभाविकरूपसे विद्यमान होते हैं तो वहां उनका आवाहन करनेकी भी आवश्यकता नहीं है. वह बर्हि उसी नगरीमें उत्पन्न हुए थे. इसके निरूपणकी कथा कहते हैं. यज्ञवाराहके अंगके धूननसे जहां बाल गिरे थे. वह वाराह यज्ञरूप है इसलिए उसके रोम बर्हि(कुश)रूप हैं ।।२९।।

कुशाः काशास्तएवासन् शश्वद् हरितवर्चसः।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञम् ईजिरे।।३०।।

श्लोकार्थः वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और काश हुए जिनके द्वारा मुनियोंने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंका तिरस्कार कर भगवान् यज्ञपुरुषकी यज्ञों द्वारा आराधना की है।।३०।।

व्याख्यार्थः वाराह भगवान्के जो रोम गिरे थे वे ही कुश, काश हुए. वे कुश, काश यज्ञमें उपयोगी हैं अतः उनका अलौकिकरूप बतानेकेलिए 'शश्वद्-हरितवर्चसः' ऐसा कहा है. हर समय वहां कुश ही उत्पन्न होते हैं और वे हरे रंगके होते हैं वहां दूसरा कोई चावल, जौ आदि उत्पन्न ही नहीं होते. अतएव 'त एवासन्' ऐसा कहा. अर्थात् वे रोम ही कुश, काश हुए जो शंका होती है कि यज्ञमें उपयोगी तो पशु आदि बहुतसे पदार्थ हैं वे भी तो सब जगह यथानुसार उत्पन्न होते ही हैं तो फिर बर्हिमें ऐसी क्या अधिकता है और बर्हिके कारणसे बर्हिष्मतीका ऐसा क्या माहात्म्य है. उसका उत्तर देते हैं ऋषिलोग उन कुश, काशसे यज्ञको नष्ट करनेवाले राक्षसोंको पराजित करके यज्ञ करते थे. कुश यज्ञ विरोधियोंका नाश करते हैं यह अन्य शाखाओंमें बताया है उसे विचारना चाहिए ।।३०।।

आभासः इस तरह नगरीकी बर्हिष्मतीत्वका उपपादन करके विशेषरूपसे वहां रहनेके प्रयोजनको कहते हैं :

कुशकाशमयं बर्हिः आस्तीर्य भगवान् मनुः।
अयजद् यज्ञपुरुषं लब्ध्वा स्थानं यतो भुवः ।।३१।।

श्लोकार्थः महाराज मनुने भी श्रीवराह भगवान्से भूमिरूप निवासस्थान प्राप्त होने पर इसी स्थानमें कुश और काश की बर्हि बिछाकर यज्ञ भगवान्की पूजा की थी।।३१।।

व्याख्यार्थः काश आश्ववाल है. उसे पशु आदिकेलिए तथा अतिथि सत्कार आदिकेलिए बिछाते हैं. कुश, काश ही जिसकी प्रकृति है ऐसे बर्हिको बिछाकर स्वयं दीक्षित मनुने भगवद्रूप होकर यज्ञपुरुषका यजन किया था इसलिए उन्होंने पृथ्वीका स्थान प्राप्त किया था. इन्द्र और मनु समानरूपसे ही अधिकारी हैं परन्तु इन्द्रादि स्वर्गके अधिकारी हुए और मनु पृथ्वीका अधिकारी हुआ. वह पृथ्वी देवयजनरूपा है, देवयजनको प्राप्त करके अवश्य ही यज्ञ करने चाहिए यह 'लब्ध्वाऽयजत्' से बताया. लाभका यज्ञ मात्रमें ही उपयोग होना चाहिए इसलिए

'लभ्' धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हुआ है. अथवा 'यतः'का अर्थ यज्ञसे ऐसा समझना. यज्ञवाराहने ही वह भूमि दी है, अतः यज्ञकेलिए मैंने इसे प्राप्त किया है इसलिए उसने यज्ञ किया ।।३१।।

आभास: इस तरह बर्हिष्मतीमें रहनेका प्रयोजन कहकर उसमें प्रवेश किया यह कहते हैं :

बर्हिष्मतीं नाम विभुः यां निर्विश्य समावसत्।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ।।३२।।
सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः।
सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाम्।।३३।।

श्लोकार्थ: जिस बर्हिष्मती पुरीमें मनु निवास करते थे उसमें पहुंच कर उन्होंने त्रिताप नाशक अपने भवनमें प्रवेश किया।।३२।।

श्लोकार्थ: वहां अपनी भार्या और सन्ततिके सहित वे धर्म, अर्थ और मोक्षके अनुकूल भोगोंको भोगने लगे. प्रातः काल होने पर गन्धर्वगण अपनी स्त्रियोंके सहित उनका गुणगान करते थे. किन्तु मनुजी उसमें आसक्त न होकर प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीहरिकी कथाएं ही सुना करते थे।।३३।।

व्याख्यार्थ: उस तरहके स्थानमें रहनेकी उनकी सामर्थ्य थी इसे 'विभुः' पदसे बताया है. अतएव उत्तम आधारमें शत्रुओंकी कोई बाधा न होनेसे एक ही जगह सर्वदा स्थित रहे. बर्हिष्मती नगरी पृथ्वीका प्रसिद्ध स्थान था उसे प्राप्त कर इसका पूर्वसे सम्बन्ध है. या यह भिन्न पद है. 'समावसत्'का अर्थ है अच्छी तरह रहने लगे. केवल वह नगरी ही सर्वोत्तम नहीं थी किन्तु उस नगरीमें राजाके रहनेका महल भी सर्वोत्तम था. उसने विद्यमान भवनमें प्रवेश किया वह भवन त्रिताप नाशक था यह उस भवनकी उत्कृष्टता थी यह भवनका उत्कर्ष स्थानके भक्तिजनक होनेसे थी ।।३२।।

व्याख्यार्थ: जब त्रिविध ताप नहीं होते हैं तो बाह्य और आन्तर बाधाका अभाव होता है जिससे पुरुषार्थ सिद्ध किये जा सकते हैं इसको 'सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजे'से बताया है. धर्मके अनुसार सब सुखोंका उपभोग करते थे. पुरुषार्थमें यदि विरोधी हों तो स्त्री, पुत्रको भी छोड दिया जाता है परन्तु मनुजीके स्त्री, पुत्र सब अनुकूल थे अतः उनके साथ सब जगत्के सुखोंका उन्होंने उपभोग

किया. उनकी कीर्तिका गान देवताओंके गायक गन्धर्व आदि अपनी स्त्रियोंके सहित करते थे. देवता कभी भी असत्य कीर्तिका गान नहीं करते और न धर्म आदिके विरुद्ध कीर्तिका गान करते हैं सुनते भी नहीं हैं. इन मनुकी कीर्ति चारों पुरुषार्थरूप थी उसका प्रतिपादन करते हैं. उनकी कीर्ति सम्यग् होनेसे मोक्षरूप है. उसमें उदारता होनेसे ज्ञानरूप है. वह कीर्ति सत् है इसलिए धर्मरूप है. कीर्ति स्वयं कामरूप है ही. कीर्ति कामजनक होनेसे ही उसका गान गन्धर्वोंने स्त्रियोंके साथ किया. देवता धर्म फलरूप हैं. गायक काम और अर्थ प्रधान है. विशिष्ट होनेसे वे मोक्षोपयोगी हैं. पूर्वोक्त सबका बाधक प्रातःकाल था इसलिए 'प्रत्यूषेषु' ऐसा कहा. भोगोमें किसी प्रकारकी आसक्ति न रखते हुए और भगवान्की कथाको सुनते हुए भोगोंको भोगते थे इसका पूर्वके श्लोकसे सम्बन्ध है।।३३।।

आभास: प्रेमसे भगवान्की कथाका सुनना सब पुरुषार्थका साधक होनेसे बीचमें उसका निदर्शन देते हैं :

निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायंभुवं मनुम् ।
यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ।।३४।।
अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः।।३५।।

श्लोकार्थ: वे इच्छानुसार भोगोंका भोग करनेमें कुशल थे किन्तु मननशील और भगवत्परायण होनेके कारण भोग उन्हें जरा भी विचलित नहीं कर सके।।३४।।

श्लोकार्थ: भगवान् विष्णुकी कथाओंका श्रवण, ध्यान, रचना और निरूपण करते रहनेके कारण उनके मन्वन्तरको व्यतीत करनेवाले क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाते थे।।३५।।

व्याख्यार्थ: योगमायाके सब भोगोंको भोगनेवाले स्वायंभुव मनुको वे भोग जब विचलित नहीं कर सके तब उनके क्षण कभी व्यर्थ नहीं जाते थे ऐसा पैंतीसवें श्लोकसे इसका सम्बन्ध है. योगमायाका अर्थ है नाना प्रकारके विषय भोगोंके प्रकार अणिमा आदि उनमें निष्णात अर्थात् सब भोगोंके भोगनेवाले मननशील होनेसे मोक्ष तो उनकेलिए विद्यमान ही था. इसलिए मोक्षके भयसे उनकी भोगोंसे निवृत्ति नहीं हुई. परलोक भय भी उनको नहीं था क्योंकि वे स्वयम्भूके पुत्र थे. अतएव पितृऋण आदिसे निवृत्तिकी अपेक्षा भी नहीं थी.

परलोक भय भी नहीं था. ऐसा होने पर निःशंक भोग होता है और भोगोमें आसक्ति होनेसे पतन होता है. परन्तु वे भोग उनका पतन करनेमें समर्थ नहीं हुए. क्योंकि वे मनु तो भगवत्परायण थे भगवत्परायणता कथा श्रवण आदिसे होती है और जब भगवत्परायणता होती है तो विषयोंमें आसक्तिका अभाव होता है. जब आसक्ति नहीं होती है तो पतन भी नहीं होता है. योगमायामें निष्णात होनेमें कारण तो उनका मनन तथा ब्रह्मपुत्रत्व ही था. जो विषयोंमें आसक्त होता है उसीका समय व्यर्थ जाता है अन्यथा नहीं उन मनुमें तो आसक्तिका अभाव था इसलिए उनके समय विशेष सारयुक्त ही रहे निःसार नहीं बीते पूराका पूरा उनका मन्वन्तर सारयुक्त ही बीता. यापयन्ति=समाप्त करते हैं ऐसे जो कालखण्ड हैं वे सब ही अयातयाम हुए. मन्वन्तर इकहत्तर युगका होता है. भोग मनुको भ्रष्ट न कर सके इतने मात्रसे ही अयातयामता(अगतसारता) ही नहीं थी किन्तु दूसरे हेतु भी थे वे थे भगवान् विष्णुकी कथाका श्रवण एवं कथाका ध्यान. योगबलसे भगवान्के गुणोंको जानकर उन गुणोंसे युक्त कथाओंको करते हुए गोष्ठीमें अथवा राजसभामें भी उन्हीं(भगवान्)की कथाओंको करते हुए श्रोताओंकेलिए बोलते हुए जगनेके अनन्तर देहशुद्धिसे पहले कथा सुनना, तदन्तर आवश्यक जो सभा है उसके पूर्व तक ध्यान करना, सभामें भी सज्जनोंके साथ भगवान्की ही कथाको करना. उसके अनन्तर भी उसकी शिक्षाकेलिए जब-तक सोये नहीं तब-तक भगवत्कथाको कहना इस तरहका उनका प्रतिदिनका काम था ।।३४-३५।।

आभास: उससे क्या हुआ उसकेलिए कहते हैं :

स एव स्वान्तरं निन्ये युगानाम् एकसप्ततिम् ।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः।।३६।।

श्लोकार्थ: इस तरह उन्होंने अपनी ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति जो तीन गुणोंसे होती है उनको अभिभूत करके भगवान् वासुदेवके कथा प्रसंगमें अपने मन्वन्तरके इकहत्तर चतुर्युग पूरे कर दिए।।३६।।

व्याख्यार्थ: वहां प्रथम मन्वन्तरमें मनु ही राजा हुवे थे. अपने अधिकार कालमें दूसरा उस तरह धर्मका पालन नहीं करेगा इसलिए उन्हींने अपने मन्वन्तरको इस तरह बिताया. प्रियव्रतकी राज्यकथा तो अन्य कल्पकी है. उत्तानपाद तो अन्य मन्वन्तरमें हुए. अथवा प्रियव्रतके पुत्र ही मन्वन्तरके अधिपति थे इसलिए वे भी अन्य कल्पमें हुए. इससे मनु बहुत कल्प तक जीवित रहे ऐसा

ज्ञात होता है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि काल उनकेलिए बाधक नहीं हुआ था. भगवान्के दिए हुए अधिकारमें अधिकारका समय आयुकी गणनामें प्रविष्ट नहीं होता(नहीं लिया जाता है) अतः अधिकारके समयको छोडकर बाकीके समयमें ही सौ वर्षकी आयु होती है. अथवा मनुकी पितरों, देवताओं तथा मनुष्योंमें गिनती नहीं है. 'युगानामेकसप्ततिं'से मन्वन्तरका परिणाम बताया है अर्थात् मन्वन्तर इकहत्तर युगका होता है. हजार कल्पोंमें चौदह विभाग करने पर नौसौ चोरानवे युग होते हैं छः युग समसंख्यामें नहीं आते हैं इसलिए नहीं गिने गये हैं भगवद्गुणोंके उपभोगकेलिए यह सृष्ट्यन्तर है. अथवा ये छः गुण हैं. इससे क्या हुआ उसे 'वासुदेव प्रसंगेन परिभूतगतित्रयः'से बताते हैं. वासुदेवका ही जिनके मनमें, वाणीमें और वचनमें सम्बन्ध रहता है अर्थात् मनमें, वाणीमें कीर्तन और शरीरसे सेवा इन्हींके द्वारा जिन्होंने तीन प्रकारकी गतिको पराजित करा दिया है. अर्थात् ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति ये तीनों ही गति उनकी चली गई हैं(नष्ट हो गयी हैं) अतः केवल भगवान्में गति बचती है. अर्थात् भगवान्में ही उनकी गति है. जब मोक्षदाता(भगवान्)के साथ इस तरहका संग(सम्बन्ध) हो जाता है तो उनकी धर्म, अर्थ और कामरूप गति नहीं होती है ।।३६।।

आभास: शंका होती है कि निरन्तर भगवत्कथा आदि कैसे सिद्ध होंगे क्योंकि क्लेश आदि उसमें बाधक हो जाएंगे इस पर कहते हैं :

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम्।।३७।।

श्लोकार्थ: हे व्यास पुत्र विदुरजी! जो पुरुष श्रीहरिके आश्रित रहता है, उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक, मनुष्य सम्बन्धी अथवा भौतिक दुःख किस प्रकार कष्ट पहुंचा सकते हैं।।३७।।

व्याख्यार्थ: शारीराः=व्याधिरूप, मानसः=मानसिक चिन्तारूप, दिव्याः= बिजलीका गिरना, वृष्टि आदिसे उत्पन्न कष्ट, विश्वासकेलिए विदुरजीको 'वैयासे'से सम्बोधित किया है क्योंकि व्यासजीने मनुके चरित्रको अनेक प्रकारसे कहा था. मानुषाः=आज्ञाके उल्लंघन आदिसे होनेवाले दुःख. यद्यपि शारीर और मानस कष्टोंमें सबका समावेश हो जाता है तथापि अन्य लोगोंकी दृष्टिसे धन आदिके अभावमें, आज्ञा आदिके अतिक्रमणमें प्रजाओंके भूतादि उपद्रवमें राजाको दुःख होता है ऐसा लोग मानते हैं. जब वह राजा है तो

उसके निराकरण केलिए उसे यत्न करना पडता है. अतः अहंकार, अज्ञान आदि दुःख उसे कैसे कष्ट पहुंचा सकते हैं. क्योंकि उसको तो भगवान्का सहारा है. इस हेतुको यद्यपि पहले भी कहा है किन्तु अनेक प्रकारसे यह कहा जा रहा है ।।३७।।

आभास: भगवान्का आश्रय प्रासंगिक नहीं था किन्तु निःसंदिग्ध था उसको फलसे सिद्ध करते हैं :

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान् नानाविधान् शुभान्।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा।।३८।।

श्लोकार्थ: मनुजी निरन्तर समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहते थे. मुनियोंके पूछने पर उन्होंने मनुष्योंके तथा समस्त वर्ण और आश्रमोंके अनेक प्रकारके मंगलमय धर्मोंका भी वर्णन किया।।३८।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के भक्त ही गुप्त धर्मको जानते हैं अतः मुनियोंने यह भक्त है ऐसा जानकर धर्मोंका प्रश्न किया. इसलिए मुनियोंकेलिए धर्म कहे. एक प्रकारके धर्म कहनेमें स्वभाव तथा गुणोंसे भिन्न सब लोगोंका समाधान नहीं होता इसलिए नाना प्रकारके धर्म कहे. वे सब धर्म कल्याणकारी थे. विशेष धर्म भी उन्होंने जो कहे उन्हें गिनाते हैं. मनुष्योंके वर्ण तथा आश्रमोंके धर्मोंको कहे. ऐसा कहना किसी लाभकेलिए या अपनी पूजा अथवा प्रसिद्धिकेलिए नहीं था किन्तु 'सर्वभूतहितः' सब प्राणीयोंके हितकेलिए धर्म कथन किया था. राजाको सब प्राणियोंका हित करना चाहिए ऐसा समझकर ही वैसा कहा. अथवा सर्वदा ही यह वैसा था।।३८।।

आभास: इस तरह मनुके चरित्रको कहकर उसका उपसंहार करते हैं :

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितम् अद्भुतम्।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु।।३९।।

श्लोकार्थ: जगत्के सर्वप्रथम सम्राट् महाराज मनु वास्तवमें कीर्तनके योग्य थे. यह मैंने उनके अद्भुत चरित्रका वर्णन किया, अब उनकी कन्या देवहूतिका प्रभाव सुनो।।३९।।

व्याख्यार्थ: 'आदिराजस्य'का तात्पर्य यह है कि राजाओंमें उसका ऐसा महत्व था और 'मनोः' इससे ब्राह्मणोंसे भी उसमें महत्व कहा. 'अद्भुतं'का तात्पर्य यह है कि उस राजामें सुखभोग, भगवान्की भक्ति और वैराग्य ये तीनों ही एकमें स्थित थे. इसलिए तो मुनियोंने मनुका ही चरित्र पूछा. 'वर्णितम्' इससे उनके

चरित्रका उपसंहार हुआ. मुनियोंने प्रश्न किया था इसलिए प्रश्नके अनुरोधसे मनुके चरित्रका वर्णन नहीं किया किन्तु भगवच्चरित्रका आश्रय होनेसे उसका चरित्र वर्णन करनेके योग्य था इसलिए वर्णन किया. आगे कोई प्रश्न नहीं था इसलिए कहा कि उसके अपत्य(संतान)का उदय(प्रभाव) सुनो. उनके पांच संतान थीं. उनमें यहां देवहूतिका प्रकरण चल रहा है इसलिए उसीके उदयकी बात सुनो. कन्या आदिकी उत्पत्ति और विवाह तो हुए थे किन्तु देवहूतिकी तो मुक्ति हुई थी यह सब उदयरूपसे कहे हैं. यहां श्रृणु ऐसी जो विधि है वह आदरकेलिए है।।३९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २२ वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.